वादावली

(ब्रह्मवादप्रमुखानाम् अनेकवादानां संकलनरूपा)

लेखकाः

श्रीमद्हरिरायमहानुभावप्रमुखाः

प्रकाशक : श्रीवल्लभविद्यापीठ-श्रीविट्ठलेशप्रभुचरण आ.हो.ट्रस्ट,
वैभव को-ऑपरेटिव सोसायटी,
पुणे-बेंगलोर रोड़, कोल्हापुर,
महाराष्ट्र. ४१६ ००८.

सम्पादक : गोस्वामी श्याम मनोहर

प्रथमसंस्करण : तत्तद् वाद विगत ७५ वर्षोंमें
द्वितीयसंस्करण : वि.सं.२०६४=ई.स.२००८.

प्रति : १०००

निःशुल्कवितरणार्थ

मुद्रक : रमा आर्ट्स्,
४, चुनावाला इन्डस्ट्रिअल् एस्टेट्,
कोंडिविटा, अंधेरी (पूर्व),
मुंबई: ४०० ०५९.

॥ श्रीकृष्णाय नमः ॥
॥ श्रीमदाचार्यचरणकमलेभ्यो नमः ॥

सम्पादकीय

उपक्रम :

महाप्रभु श्रीवल्लभाचार्यचरणके द्वितीयात्मज गोस्वामी श्रीविट्ठलनाथ प्रभुचरण द्वारा विरचित 'विद्वन्मण्डन' 'भक्तिहंस' 'भक्तिहेतुनिर्णय' एवं 'मुक्तितारतम्यनिरूपणम्' इस सम्प्रदायके प्रथम वादग्रन्थ हैं. इनके बाद अवतारवादावलीकार गोस्वामी श्रीपुरुषोत्तमजीसे पूर्ववर्ती भी तथा पश्चाद्वर्ती भी कतिपय विद्वानोंके द्वारा वादशैलीमें ही विरचित कुछ अन्य भी ग्रन्थ इस सम्प्रदायमें उपलब्ध होते हैं. उपदेशात्मक विपुल प्रकरणग्रन्थराशीके प्रणेता महानुभाव श्रीहरिरायजी द्वारा भी विरचित तथा इस खण्डमें प्रकाश्यमान 'ब्रह्मवाद' नामक पद्यात्मक तथा गद्यात्मक दो लघु वादग्रन्थ यहां विशेषतः उल्लेखनीय लगते हैं. इसी तरह अन्य भी कुछ वादग्रन्थ अवतारवादावलीसे भी पूर्वकालिक भी तथा पश्चात्कालिक भी रचनायें हैं जो यहां प्रकाशित होने जा रही हैं.

'ब्रह्मवाद' पदसे अभिप्रेत अर्थ :

श्रौत साहित्यमें 'ब्रह्मवाद' या 'ब्रह्मवादी' संज्ञाके अन्तर्गत 'ब्रह्म' पद जैसे परमतत्त्वका वाचक माना गया है वैसे ही स्वयं वेदका वाचक भी माना गया है. यथा उपनिषदोंमें ही जब श्वेताश्वतरोपनिषद्के **"ब्रह्मवादी पूछते हैं कि हमारा कारणभूत तत्त्व क्या है? ब्रह्म क्या-कैसा है? हम कहांसे पैदा हुवे हैं? किसके आधारपर जी रहे हैं? हम कहां सम्प्रतिष्ठित हैं?"** (श्वेता.उप.१।१) इस वचनमें जो ब्रह्मजिज्ञासा प्रकट हुयी है तो यहां 'ब्रह्म'पदको परमतत्त्वका अभिधायक समझना चाहिये. जबकि छान्दोग्योपनिषद्के **"ब्रह्मवादी कहते हैं कि वसुओंका**

प्रातःसवन होता है और रुद्रोंका दिनके मध्याह्नमें...'' (छान्दो.उप.२।२४।१) तो ऐसे वचनोंमें 'ब्रह्म'पदको वेदोंकी शब्दराशीके अभिधायकतया ही स्वीकारना उचित लगता है.

ऋग्वेदकी संहितामें, अतएव, जब एक गम्भीर दार्शनिक प्रश्न मनीषियोंके संमुख विमर्शार्थ प्रस्तुत किया गया कि **''किस वनमें से, कौनसे वृक्षको तराश कर ये द्युलोक और पृथिवीलोक संवारे गये हैं? अरे मनीषिओ कभी अपने मनसे भी पूछ कर तो देखो कि इन भुवनोंको तराशनेवालेने कहां खड़े हो कर इन्हें तराशा था!''** (ऋक्संहि.१०।८।४) और तब उसके समाधानतया जो तैत्तिरीयब्राह्मणने सैद्धान्तिक घोषणा की कि **''वह वन ब्रह्म था, वह वृक्ष भी स्वयं ब्रह्म था, जिसे तराश कर ये द्युलोक और पृथिवीलोक संवारे गये. मनीषिओ मैं अपने मनमें निगूढ़ रहस्य बताये देता हुं कि इन्हें तराशनेवाले ब्रह्मने स्वयं अपने ऊपर खड़े हो कर इन भुवनोंको तराशा है''** (तैत्ति.ब्राह्म.२।८।९।७) तो इस वचनको हमें ब्रह्मवादका मौलिक उद्घोष ही मानना पड़ता है.

सुस्पष्ट शब्दोंमें इस श्रुतिवचनमें सृष्टिके अभिन्ननिमित्तोपादानतया ब्रह्मका प्रतिपादन हो रहा है. अतएव अंशात्मना ब्रह्मका परिणाम्युपादान होना, अंशी कर्ता तथा उस सृष्टिकर्ताके आधारतया भी एकमात्र स्वात्मप्रतिष्ठित ब्रह्मको ही स्वीकारना, कार्य-कारणके बीच भेदसहिष्णु अभेदरूप तादात्म्य या भावात्मक अद्वैत स्वीकारना, ये ही तो ब्रह्मवादके प्रमुख मुद्दे हैं. यों स्फुटतम शब्दोंमें ब्रह्मवादके सिद्धान्तका निरूपण ही इस वचनमें हुवा है, यह स्वीकारना चाहिये.

इस वचनका संवाद भी पुनः ऋग्वेदमें पुरुषसूक्तके अधोनिर्दिष्ट वचनके साथ निर्विवाद झलकता ही है **''यह सभी कुछ पुरुष ही है, चाहे कोई वस्तु भूतकालीन हो या भविष्यत्कालीन. वह पुरुष**

तो ऐसी अमृतताका ईश्वर है जो अन्न या अन्नमय प्राणिओंमें भी तिरोहित हो नहीं पाता. क्योंकि उसकी व्यापक महिमा ही ऐसी है. अन्यथा वह तो स्वयं इससे भी कहीं अधिक व्यापक पुरुष है. क्योंकि उसके एक पादमें ये सारे मर्त्यभूत आ जाते हैं और उसके तीन पाद तो अमृत द्युलोकमें ही रहते हैं'' (ऋक्संहि.१०।९०।२-३).

इस ऋक्संहिताके वचनमें भी ब्रह्मका अंशेन जगदात्मना परिणत होना, उस परिणत जगत्के भूतकाल वर्तमानकाल और भविष्यत्काल में परिच्छिन्न होनेपर भी निजकारणात्मना कालत्रयातीत या अपरिच्छिन्न भी होना; अर्थात् सृष्टिगत अन्न तथा अन्नमय प्राणिपर्यन्त का निज उपादानकारणसे अभिन्न होना या उस कारणपुरुषका इनमें अतिरोहित होना; अतएव कार्यात्मना परिणत होनेपर भी अंशिरूपेण मूल कारणका कार्यातीत भी होना, इत्यादि अनेक पहलु ब्रह्मवादके यहां इदमित्थम्भावेन निर्धारित हो जाते हैं.

मूलमें यही कारण है कि वेदार्थविचारमें प्रवृत्त महर्षि जैमिनि और महर्षि बादरायण **''अथातो धर्मजिज्ञासा''** (पू.मी.सू.१।१।१) सूत्रमें उस वेदार्थको धर्मतया निरूपित करनेके बावजूद उत्तरमीमांसासूत्रमें वेदोंके वाच्यार्थभूत परमतत्त्वका अभिधान भी 'ब्रह्म'पदद्वारा ही करते हैं **''अथातो ब्रह्मजिज्ञासा''** (ब्र.सू.१।१।१). अतएव भगवद्गीताके भी **''कर्म ब्रह्मसे प्रकट होता है और ब्रह्म अक्षरब्रह्मसे. अतः सर्वगत ब्रह्म तो यज्ञोंमें भी नित्य प्रतिष्ठित रहता है''** (भग.गीता.३।१५) इस वचनमें भी इसी तथ्यको समर्थन मिल रहा है.

ब्रह्ममीमांसा होनेके कारण मूलतः सभी वेदान्तसम्प्रदायोंका ब्रह्मवादी होना आवश्यक है :

इन वचनोंको भलीभांति दृष्टिगत करनेपर वैसे तो वेद-वेदान्तके सभी सम्प्रदायोंका ब्रह्मवादी होना अपरिहार्य लगता है. फिरभी श्रुतिप्रतिपादित

ब्रह्मवादके स्वरूप या स्वारस्य पर लक्ष्य देनेपर किसे ब्रह्मवादी मानना या किसे न मानना यह विषय भी विशद विमर्शकी अपेक्षा तो रखता ही है.

महाप्रभुका तो इस विषयमें यही स्पष्ट अभिप्राय है कि वाचक श्रुतिशब्द और उनसे वाच्यार्थभूत तत्त्व दोनोंकी 'ब्रह्म'पदवाच्यता लक्ष्यगत करनेपर दोनों ही तत्त्व इतरेतरात्मक होनेपर भी लीलया द्वैतभावापन्न हुवे हैं. अतएव महाप्रभु कहते हैं **"रूपप्रपञ्चको प्रकट करनेके बाद उसमें आसक्त हो जानेवाले अपने चिदंशोंकी विषयासक्तिको क्षीण बनानेको अर्थात् जीवात्माओंके अन्तःकरणमें परमात्माका कुछ आकलन हो पाये एतदर्थ परमात्माने अपने-आपको श्रुतिके शब्दोंके रूपमें प्रकट किया."** (त.दी.नि.२।१८). महाप्रभु, अतएव, ब्रह्मसूत्रभाष्यमें उस परमतत्त्वका विचार इतरप्रमाणनिरपेक्ष निजात्मानुभूतिसिद्ध तत्त्वके रूपमें करनेके बजाय वेदान्तादि शास्त्रोंके प्रमेयतया ही करना चाहते हैं :

> **"यहां यह विचारणीय लगता है कि वेदान्तोंका विचार आरम्भ करना चाहिये अथवा नहीं?... कुछ विद्वान् ऐसा सोचते हैं कि वेदार्थके केवल ज्ञानमात्र प्राप्त करनेको वेदान्तका विचार करना आवश्यक नहीं है. और क्योंकि ब्रह्मके अलावा और तो किसीका अस्तित्व ही न होनेसे और वह ब्रह्म तो स्वयं हमारे भीतर आत्मतया अवस्थित भी है ही, अतः ब्रह्मज्ञानार्थ ही विचार आवश्यक होता है... यह धारणा, परन्तु, उचित नहीं लगती है. क्योंकि अपनी बुद्धिसे वेदार्थकी परिकल्पना करके केवल तदर्थ विचार करना कैसे उचित हो सकता है? श्रुतिमें तो सुस्पष्ट शब्दोंमें कहा गया है कि 'उस औपनिषद पुरुषके बारेमें कुछ पूछना चाहता हुं' अतः इस वचनके आधारपर ब्रह्म तो केवल उपनिषदोंका ही प्रमेय सिद्ध होता है.**

> **ऐसे उस प्रमेयको अन्य शास्त्रोंसे कैसे जाना जा सकता है!. अतः यह ब्रह्ममीमांसा कोई स्वतन्त्र शास्त्र हो तो उसके आधारपर मिलता ज्ञान ब्रह्मज्ञान नहीं माना जा सकता... अतः वेदार्थरूप ब्रह्मका वेदानुकूल विचार ही हमारेलिये कर्तव्यतया अवशिष्ट रह जाता है. ऐसी स्थितिमें वेदवचनोंकी केवल व्याख्या करना ही हमारा कर्तव्य बन जाता है. क्योंकि व्याख्या करनेसे वचनोंके विशेष अभिप्राय प्रकट हो पाते हैं."**
>
> (ब्र.सू.भा.१।१।१).

अतएव कहा जा सकता है कि वाल्लभ वेदान्तमें ब्रह्मका श्रौत शब्दोंसे गम्य या प्रकाश्य होना, ब्रह्मकी स्वप्रकाशरूपताका ही एक लीलात्मक विस्तार है. भगवत्पाद श्रीशंकराचार्यके नितान्त मननीय वचनोंके साथ इस धारणाका संवाद भी अवलोकनीय है **"ईश्वरको जगत्का कर्ता माननेवाले जगत्के जन्म आदिको हेतु बना कर उसके कर्ता होनेका अनुमान करते हैं, परन्तु ऐसा अनुमान वेदान्तसूत्रोंमें किया नहीं जाता है. क्योंकि ये वेदान्तसूत्र तो पुष्पोपम वेदान्तके वचनोंकी माला गूंथनेको ही प्रवृत्त हुवे हैं नकि अनुमान आदि स्वतन्त्र प्रमाणोंके बलपर ब्रह्मका ज्ञान प्राप्त करने. जगत्को ब्रह्ममें से उत्पन्न हुवा, वहीं स्थित और अन्तमें वहीं लीन होनेका प्रतिपादन करनेवाले वेदान्तके वचनोंके आधारपर उस तथ्यके दृढीकरणार्थ यदि कोई अनुमान किया जाता हो तो वह आपत्तिजनक नहीं होता"** (ब्र.सू.शां.भा.१।१।२).

अतएव लोकमें प्रत्यक्षादि प्रमाणोसें गम्य अर्थात् अनुभूतिगोचर होते विषयोंका भी श्रौत शब्दोंसे गोचर ब्राह्मिक रूप, कदाचित् लौकिक प्रमाणोंसे बाध्यतया प्रतीत होता होनेपर भी, वस्तुतः बाधार्ह नहीं माना जाता. उदाहरणतया सर्वथा वास्तविकतया प्रतीत होते वस्त्रादिनिर्मित पुष्पगुच्छोंका चक्षुगोचर रूप, त्वचासे गोचर बनती अपनी वस्त्रोपादानात्मकताको

बाधित नहीं कर पाता. अतः निष्कर्षरूपेण दो महत्त्वपूर्ण विधान महाप्रभु करते हैं :

१.जिन श्रुतिके वचनोंमें ब्रह्मका जगत्का कारण होना प्रतिपादित हुवा है, वहां मुख्यार्थका बाध नहीं करना चाहिये, क्योंकि श्रुतिमें ब्रह्मके ही कार्यतया जगत्का प्रतिपादन किया गया है. अतः ऐसे तो माना नहीं माना जा सकता कि अनादि अविकारी ब्रह्ममें उत्पत्तिविनाशशाली विकारी जगत्के अस्तित्वके निषेधार्थ ही उत्पत्तिका निरूपण किया गया है. क्योंकि तब तो जगत्की सत्ता प्रत्यक्षानुभूतिमें वास्तविक नहीं लगनी चाहिये थी. यदि केवल वेदबोधित होनेसे जगत्की प्रतीति होती हो तब तो वह कथा सम्भव हो पाती कि जगत्के निषेध करनेसे पहले वेद उसे प्रतिपादित कर रहे हैं और बादमें निषेध. जगत्की प्रतीति तो अन्यथा भी लोकसिद्ध ही है. अतः ऐसे जगत्का कर्ता कौन हो सकता है, यह लोकप्रतीतिके आधारपर सिद्ध न होता होनेसे, वही तथ्य वेदद्वारा निरूपित हो रहा है. लोकप्रतीतिसिद्ध जगत्का अनुवाद कर, अतएव, उसके समवायी कर्ताका प्रतिपादन ही वेदाभिप्रेत लगता है. ऐसी स्थितिमें यदि स्वयं वेद जगत्का निषेध करने लगे तो जगद्रूप कार्यके तो विद्यमानतया प्रतीतिगोचर होनेसे और अन्य किसी तरहके कार्यके या कर्ताके विद्यमान न होनेके कारण स्वयं श्रुतिका विवक्षित अर्थ ही बाधित हो जायेगा.''

२.''जगत्के प्रत्येक विषय परस्पर समान ही होते हैं. उनमें किसी तरहका तारतम्य नहीं होता. अतएव यहां सभी कुछ अखण्ड कृष्णरूप ही होता है. वही परमात्मा यह सब कुछ बना है. सर्वभवनसमर्थ होनेसे वही प्रकट

करनेवाला और प्रकट होनेवाला भी बनता है. विश्वात्मा होनेके कारण वही सभी रूपोंमें पालित भी हो रहा है और पालक भी वही है. परमेश्वर होनेके कारण वह स्वयं उपसंहृत भी होता है और वही उपसंहारक भी बनता है. 'आत्मैव तद् इदं सर्वम्'—'ब्रह्मैव तद् इदं' इन श्रुतिओंके आधारपर ऐसा ही सिद्ध होता है. इसीको 'ब्रह्मवाद' कहते हैं. और तो सारी बातें मोहनार्थ ही कल्पित लगती हैं''.

(त.दी.नि.प्र.१।८३, २।१८२-१८४).

अतएव महाप्रभु कहते हैं ''भगवान् कृष्ण ऐसे अद्भुतकर्मा हैं कि जो स्वयं अपने दिव्य रूप-नामोंके विभेदको प्रकट कर क्रीड़ा करते हैं. वे स्वयं प्राकृत रूप-नामोंवाले जगत्का भी रूप धारण कर क्रीड़ा करते हैं. वे किसी भी तरहके रूप-नामोंको धारण किये बिना भी अपनी अविद्या शक्तिके द्वारा जीवात्माके भीतर वैसी अनुभूति भी प्रकट कर सकते हैं''. (त.दी.नि.१।१).

अतः सभी कुछ ब्रह्मोपादानक होनेसे ब्राह्मिक होता है, सच्चिदानन्दरूप ब्रह्मकी आंशिक सत्ता आंशिक चैतन्य और आंशिक आनन्द से प्रकट होती लीला ही इन अनेकविध नाम-रूप-कर्मोंके रूपोंमें अभिव्यक्त हो रही है. अन्तमें भी सच्चिदानन्दात्मक ब्रह्ममें ही यह सब कुछ लीन होनेवाला है. अतः केवल प्रमाण-प्रमेयोंकी विभिन्नतामें ही नहीं अपितु साधन-फलोंकी अनेकविधतामें भी ब्राह्मिक लीलासंकल्पका अनुभाव ही प्रकट होता मानना आवश्यक हो जाता है. अतएव महाप्रभु कहते हैं :

''वेदके पूर्वकाण्डमें श्रीहरिके क्रियाशक्तिरूप यज्ञरूपोंका विधान हुवा है. वेदके उत्तरकाण्डमें श्रीहरिके ज्ञान और

ज्ञेय यों उभयशक्तिरूप ब्रह्मस्वरूपका प्रतिपादन हुवा है. इन क्रियाशक्ति और ज्ञानशक्ति दोनोंसे विशिष्ट अवतारी श्रीहरिका भागवतपुराणमें श्रीकृष्णके रूपमें निरूपण हुवा है. सूर्यादि अनेक देवताओंके रूपोंको धारण करनेवाले तत्तद्रूप श्रीहरिका तत्तत् पुराणोंमें निरूपण ज्ञानकाण्डके अंगतया हुवा है. वैसे तो इनमेंसे किसी भी रूपमें भजन सम्भव है फिरभी आदिमूर्ति श्रीकृष्ण ही सायुज्यकामनावश सेवनीय होने चाहिये. क्योंकि प्रकृतिकी गुणत्रयीसे अतीत मुक्ति तो इसी प्रकृतिसे अतीत परमतत्त्वके कारण होती है... अतएव जो इस तरहके सभी नाम-रूप-कर्मोंसे अभिन्नताको जान कर भी श्रीकृष्णके भजनमें तत्पर हो पाता है उससे बढ़ कर ज्ञानी अन्य कौन हो सकता है!''

(त.दी.नि.१।११-१४).

'ब्रह्मवाद'का फलितार्थ प्रमाण प्रमेय साधन या फल सभीकी ब्रह्मात्मकताका अंगीकार :

अर्थात् इस सृष्टिमें प्रमाण प्रमेय साधन और फल सभी कुछ ब्रह्मात्मक हैं. अतएव भाष्यमें यह कहा गया है :

'''उसे एकाकितया रमण करना सुहाया नहीं, उसे दूसरेकी अभिलाषा हुयी और यह दिखलायी देता सारा जगत् वही बन गया', ऐसे श्रुतिवचनोंके आधारपर, 'ऊपर उठाने या नीचे पटकने को वही हमसे अच्छे/बुरे कर्म करवाता है' ऐसे वचनोंके भी आधारपर उन-उन साधनोंको करवा कर उन-उन फलोंका दान देते भये भगवान् अपनी क्रीड़ाके हेतु जगत्के रूपमें आविर्भूत हो कर क्रीड़ा करते हैं, ऐसा वैदिकोंका निर्धार है.''

(ब्र.सू.भा.१।१।११).

अतएव महाप्रभुने यह प्रतिपादित किया है ''अपनी स्वयंकी इच्छाके अनुरूप अग्निमेंसे चिनगारीकी तरह सच्चिदानन्दरूप ब्रह्मके सदंशमें से जड़ पदार्थ प्रकट होते हैं, चिदंशमें से जीवात्मा तथा आनन्दांशमेंसे जीवात्माके भीतर विद्यमान अन्तर्यामिरूप परमात्मा ईश्वर'' (त.दी.नि.१।२७-२९). अतः सृष्टिमें जड़-जीव-ईश्वर तीनोंकी ब्रह्मात्मकता दिखलानेको श्रुतिवचनमें आता है कि ''ऐतदात्म्यम् इदं सर्वं, स आत्मा, तत् (ऐतदात्म्यम्) त्वम् असि'' (छान्दो.उप.६।८।७). इस सन्दर्भमें महाप्रभु कहते हैं :

'''यहां सभी कुछ ब्रह्मात्मक हैं' ऐसा कह कर पहले सदंशरूप जड़की ब्रह्मात्मकता दिखलायी गयी. जड़रूप कार्योंमें किसी तरहके दोष न होनेका तथ्य उसे 'वह सत्य है' कह कर दिखलाया गया है. चिदंश जीवोंकी ब्रह्मात्मकता दिखलानेसे पूर्व बीचमें 'इनकी आत्मा तो वही है' यह कह कर हेतु दिखलाया दिया गया है. यों जड़रूप कार्योंकी ब्रह्मात्मकता दिखला कर जीवरूप अंशोंकी भी ब्रह्मात्मकता दिखलानेको ही 'वही तुम हो' कहा जा रहा है. यह उपदेशात्मक वचन है ऐसा 'आवृत्तिः असकृद् उपदेशाद्' इस ब्रह्मसूत्रके आधारपर सिद्ध होता है. अतः यह सम्पूर्ण महावाक्य उपदेश है. इसमें जैसे सदंशके बारेमें 'ऐतदात्म्यम्' पदमें भागत्यागलक्षणा नहीं मानी वैसे ही चिदंशके बारेमें नहीं माननी चाहिये थी... क्योंकि सभी कुछ ब्रह्म है, यह कहनेको ही जीवकी ब्रह्मता निरूपित हुयी है''.

(त.दी.नि.प्र.१।६१-६२).

अर्थात् केवलाद्वैतानुरोधी व्याख्यानकी दृष्टिसे विचारें तो वहां 'इदं'पदसे इंगित सदंश जड पदार्थकी ब्रह्मात्मकता ''सांझके धुंधलकेमें जिसे लुटेरा

समझ रहे थे वह सूखे वृक्षका ठूंठ है'' ऐसे बाधार्थसामानाधिकरण्यन्यायेन मानी जाती है जबकि 'त्वं'पदसे इंगित होते चिदंश जीव पदार्थकी ब्रह्मात्मकता ''जिस देवदत्तको पहले कभी पटनामें देखा था वही अब काशीमें दिखलायी दे रहा है'' ऐसी भागत्यागलक्षणाके आधारपर मानी जाती है. यों एक ही वाक्यमें एकहेलया उपदिष्ट ब्रह्मात्मकताका दो तरहसे विधान माननेमें असमञ्जसता झलकती है. अतः ऐसी व्याख्यानरीति अपनानेके बजाय ऋजुमार्गका अनुसरण करते हुवे सदंश और चिदंश दोनोंको समानतया ब्रह्मात्मक मानना अधिक उपयुक्त लगता है.

अतः 'ब्रह्मवाद'पदका फलितार्थ होगा ऐसा वाद कि जिसमें सभी कुछ ब्रह्मोपादानकतया ब्रह्मात्मक माना जाता हो.

ब्रह्मवाद साकारब्रह्मवादके रूपमें :

प्रतीत होता है कि गोस्वामी श्रीविठ्ठलनाथ प्रभुचरणने भी अपने 'विद्वन्मण्डन' नामक ग्रन्थमें तो 'ब्रह्मवाद' संज्ञाका ही स्वमतके अभिधानार्थ प्रयोग प्रारम्भमें पर्याप्त माना था. बादमें कभी अपने पितृचरणके अष्टोत्तरशत नामोंवाले 'सर्वोत्तम' नामक स्तोत्रमें इस 'ब्रह्मवाद' संज्ञाके साथ 'साकार' विशेषण और जोड़ा **''साकारब्रह्मवादैकस्थापकः''** (सर्वो.स्तो.८). वह इस स्तोत्रके ही मंगलाचरणगत **''ब्रह्म प्राकृत धर्मोंका आश्रय नहीं होता और अप्राकृत निखिल-धर्मरूप होता है, ऐसा निगमोंमे प्रतिपाद्य शुद्ध साकार तत्त्व वह है''** (सर्वो.स्तो.१) ऐसी पदावलीके अन्तर्गत प्रयुक्त 'शुद्ध' एवं 'साकार' रूप दोनों पदोंके दृढ़ीकरणार्थ है. यह पुनः ब्रह्म अपने कारणस्वरूपतया प्राकृत या मायिक गुणधर्मोंका आश्रय न हो कर अप्राकृत गुणधर्मोंका तादात्म्येन आश्रय होता है, इस तथ्यके उपपादनार्थ है.

वैसे इसका भी औचित्य तो स्वयं महाप्रभुकी **''शुद्ध ब्रह्म साकार होता है, माया तो उसकी उत्तम शक्तिरूपा होती है, उस**

मायाके कारण अज्ञानी जीवोंमें सर्वत्र विषयसम्मोह पनप जाता है जिस मोहसे साक्षाद् भक्ति द्वारा ही कोई मुक्त हो पाता है'' (सुबो.१।७।४) इस कारिकाके आधारपर भी सिद्ध तो होता ही है. इसके अलावा स्वयं ब्रह्मसूत्र **''साक्षादपि अविरोधं जैमिनिः''** (ब्र.सू.१।२।२८) के भाष्यमें ब्रह्मकी साकारता या साकारकी ब्रह्मता का विचार करते हुवे भाष्यकारने तीन सम्भावित वैकल्पिक पक्ष गिनाये हैं : [१]ब्रह्म स्वेच्छया आकारग्रहण करता है [२]ब्रह्म परेच्छया तत्तदधिकारोंके अनुरोधवश तत्तज्जीवैकग्राह्य आकारवान् बनता है [३]ब्रह्म अपने विलक्षण स्वरूप या स्वभाव के अनुसार साकार भी है और आकारोंके परिच्छेदसे रहित व्यापक भी. इस सन्दर्भमें भाष्यकारने यद्यपि ब्रह्मसूत्रकार बादरायणको श्रुतिके शब्दबलपर आश्रित होनेवाले ब्रह्ममीमांसक माना, तो जैमिनिको शब्द और अर्थ यों उभयबलपर आश्रित होनेवाले, आश्मरथ्यको शब्दको गौण मान कर अर्थबलपर आश्रित होनेवाले ब्रह्ममीमांसक, तो बादरिको केवल अर्थबलपर आश्रित होनेवाले ब्रह्ममीमांसक माना. इन चारोंमें महर्षि बादरायण और महर्षि जैमिनि की चिन्तनप्रणालीमें प्रभेद होनेपर भी दोनोके निष्कर्ष समान हैं यह प्रतिपादन करते हुवे भाष्यकार कहते हैं **''जैमिनिका भी सिद्धान्त साकारब्रह्मवाद ही है''** (ब्र.सू.भा.१।२।२८) अर्थात् महर्षि बादरायणको जो अभिमत है.

इसमें भी लक्ष्यमें रखने लायक तथ्य यही है कि कार्यसृष्टिमें प्रत्यक्षतया गृहीत होते रूप नाम कर्म आदि गुणधर्मोंके बीज यदि कारणतत्त्वमें निहित न मानें तो आकस्मिक मानने पड़ेंगे. इस आकस्मिकताको भी आकस्मिक मानना तो हमारे दैनंदिन अनुभव-व्यवहारसे विसंगत दृष्टि ही अपनाने जैसी कथा बन जाती है. इसके बजाय बौद्ध दर्शनमें प्रतीत्यसमुत्पाद या श्रौत दर्शनमें लीलार्थ आविर्भाव-तिरोभाव के नियमको स्वीकारनेपर आकस्मिकता स्वयं आकस्मिक न हो कर अकस्मात् प्रतीत होते कार्योत्पादमें किसी निगूढ़ हेतुको इंगित करती सी लगती है. अतः कारण तत्त्वमें निगूढ़ या तिरोहित आकार कार्यमें प्रकट या

आविर्भूत होते माने गये हैं. यह दिखलानेको ही पिता-पुत्र दोनों ही उस ब्रह्मरूप कारणतत्त्वको ''शुद्ध साकार/साकृति'' कह रहे हैं.

ब्रह्मवाद शुद्धाद्वैतवादके रूपमें :

अस्तु. फिरभी वाल्लभ वेदान्तका यह विशेषाभिधान उतना प्रचलित नहीं हो पाया जितना कि 'शुद्धाद्वैतवाद' प्रचलित हुवा. यह तो एक प्रकट वास्तविकता ही है कि इन पिता-पुत्रोंके कालमें निजमतके अभिधानतया 'शुद्धाद्वैतवाद' संज्ञा निर्धारित हो नहीं पायी थी. वह तो बहुत बादमें तत्त्वार्थदीपनिबन्धयोजनाकार श्रीबालकृष्ण भट्ट तथा रश्मिकार श्रीयोगी गोपेश्वरजी के कालमें प्रचलित हुयी होनी चाहिये.

इस ऐतिहासिक तथ्यका सर्वाधिक प्रबल प्रमाण हम अवतारवादावलीकार श्रीपुरुषोत्तमजीके ग्रन्थोंमें पाते हैं. वहां कहीं 'शुद्धाभेद' तो कहीं 'शुद्धाद्वय' तो कहीं 'शुद्धाद्वैत' आदि अनियत पदोंका प्रयोग मिलता है. वह भी कभी तो स्वमतके रूपमें, तो कभी शांकरमतके अभिधानार्थ भी प्रयुक्त दिखलायी देता है. अतः इस तथ्यकी पुष्टि होती है. इस अनिश्चित प्रयोगान्वितिके निदर्शनार्थ **''शुद्धाभेदवाद भी दुष्ट होनेसे न्यायसामञ्जस्यार्थं तादात्म्य ही अंगीकार करके श्रुत्यर्थका निर्णय करना चाहिये'' — ''प्रमाणबलसे शुद्धाद्वैत स्वीकृत होनेके कारण कोई दोष नहीं होता''** (सुबो.प्रका.२।१।५-६) ये दो वचन भी पर्याप्त हैं. हम देख सकते हैं कि 'शुद्धाभेद' और 'शुद्धाद्वैत' वैसे तो पर्यायवाची पद होनेपर भी विभिन्नार्थकतया इन पंक्तियोंमें प्रयुक्त हुवे हैं.

इस प्रसंगमें, किञ्चिद् विषयान्तरकी क्षमायाचनापूर्वक, यह स्पष्टीकरण दे देना आवश्यक लगता है कि सम्प्रति हम श्रीवल्लभवंशज गोस्वामिओंकी एकमात्र निष्ठा व्यावसायिक हवेलिओंमें धनिकोंकी और सरकारी मन्त्रिओंकी चाटुकारिता द्वारा अपने लाभ-पूजाकी अभिवृद्धिमें ही अपना परम श्रेय माननेकी रूढ़ हो गयी है. अतः सम्प्रदायप्रवर्तक मूलाचार्योंको भी अपने जैसा ही हम मानने लगे हैं! श्रीशंकराचार्य श्रीरामानुजार्य अथवा

श्रीमध्वाचार्य आदि किसी भी आचार्यने सरकारी मान्यताके वश आचार्यत्वलाभ नहीं किया था. फिरभी हमें अपनी मानसिकताके अनुरूप, किन्तु, ऐसा लगता है कि महाप्रभुका आचार्यत्व तत्कालीन किसी राजा या राज्य द्वारा प्रदत्त या मान्य न होनेपर उनके माहात्म्यमें कुछ न्यूनता आ टपकेगी. अतएव मिथ्याप्रचार करते हैं कि विजयनगरसाम्राज्यद्वारा कनकाभिषेककी बिरुदावलीमें ही **''शुद्धाद्वैतसम्प्रदायप्रवर्तक''** विशेषण महाप्रभुके नामके साथ जोड़ा गया था! जबकि महाप्रभुकी दक्षिणयात्राके समय कृष्णदेवराय राजसिंहासनपर आरूढ़ नही हो पाये थे और जब वे आरूढ़ हुवे तब महाप्रभुके दक्षिणयात्राके वृत्तान्त उपलब्ध नहीं होते! वे कृष्णभक्त अवश्य थे परन्तु श्रीशंकराचार्यको ही अपना गुरु मानते थे यह शांकर पीठको दिये गये ताम्रपत्रोंके आधारपर स्पष्ट ही है. सर्वाधिक आश्चर्यजनक बात तो यही लगती है कि न तो महाप्रभु और न प्रभुचरण के ग्रन्थोंमें 'शुद्धाद्वैत' नाम कहीं अपने मतके अभिधानतया उल्लिखित हुवा है!

बादमें, जैसा कि महाप्रभुकी उल्लिखित कारिका **''शुद्ध साकार ब्रह्म''** के पदोंके फलितार्थके रूपमें ब्रह्माद्वैतके साथ 'साकार'के बजाय 'शुद्ध' पद अधिक अर्थवाहक लगता होनेसे मध्यमपदलोपनद्वारा 'शुद्धाद्वैत'वाद अभिधान प्रचलित हो गया. वैसे पारिभाषिक पदके रूपमें 'शुद्धाद्वैतवाद' अभिधान परवर्ती विद्वानोंकी अच्छी सूझबूझ होनेके कारण ग्राह्यतर तो लगता है परन्तु वह कथा भिन्न है.

फिरभी उसे मूलाचार्याभीष्ट निजमतके स्वरूपके सन्दर्भमें लोकप्रचलित व्याख्यासे उसे पृथक्तया समझ रखना भी आवश्यक लगता है.

शुद्धाद्वैतवाद शुद्धाद्वैतमार्तण्डकारके अनुसार :

'शुद्धाद्वैतवाद'की लोकप्रचलित व्याख्या, 'शुद्धाद्वैतमार्तण्ड' नामक प्रक्रियाग्रन्थके लेखक श्रीगिरधरजी (वि.सं.१८४७) के द्वारा 'शुद्ध'पद

और 'अद्वैत'पद के पदकृत्य दरसानेके कारण, लोकमानसमें रूढ़ हो गयी है. अतएव 'शुद्धाद्वैत' अभिधान भी शुद्धाद्वैताभिमत ब्रह्मकी तरह व्यापक बन गया! वैसे स्वयं उन्होंने भी इतना तो सुस्पष्ट शब्दोंमें स्वीकारा ही है—

> **"नाम और रूप, या ईश्वर और जीव, अथवा कार्य और कारण यों दो रूपोंमें जिन-जिनका ज्ञान होता हो उन्हें 'द्वीत' कहते हैं. द्वीत होना ही 'द्वैत' कहलाता है. जो द्वैत न हो उसे 'अद्वैत' कहा जाता है. ऐसा अद्वैत 'सर्वं खलु इदं ब्रह्म तज्जलान्' इस श्रुतिमें कहा गया है. इस श्रुतिवचनमें सारे विश्वका पहले 'इदं'पदसे परामर्श हो रहा है. पुनः 'सर्व'पद द्वारा इस विश्वमें जो कुछ दिखलायी या सुनायी देता है, ऐसे विश्वकी समग्रताके बारेमें बोध होता है. अतः सभी कुछके सनातन ब्रह्मरूप होनेके विधानमें दोनोंका तादात्म्य प्रतिपादित हो रहा है. ब्रह्मरूप कार्यका ब्रह्मरूप ही कारण होना चाहिये... वही ब्रह्म साकार सर्वशक्ति एकमेव अद्वितीय सर्वज्ञ सर्वकर्ता और सच्चिदानन्दरूप होता है. ऐसे ब्रह्ममेंसे यह जगत् उत्पन्न हुवा है."**
>
> (शुद्धा.मार्त.३-८).

यह हम निःसंकोच स्वीकार सकते हैं कि इस तरहकी तो सिद्धान्तनिरुक्ति न केवल अतीव प्रामाणिक अपितु अतिस्फीत तथा अवश्यज्ञातव्य है. बादमें, परन्तु, जहां विचार्य ब्रह्मवादके प्रतिपक्षतया तुलनात्मक आलोचनार्थ जो मायावादका उपन्यास किया गया कि—

> **"यहीं शांकर विद्वानोंका कहना है कि यह जगत् मायिक है नश्वर है. ब्रह्म तो मायाके साथ सम्बन्धके**

> **कारण ही जगत्का कारण बनता है. अन्यथा वह बन ही नहीं सकता... ऐसे मतके निरसनके लिये 'अद्वैत'पदके साथ 'शुद्ध'पद जोड़ा गया है. अतः 'शुद्धाद्वैत'पदमें कर्मधारय समास समझना चाहिये. अथवा शुद्ध जीव और शुद्ध ब्रह्म के अद्वैतका प्रतिपादन विवक्षित माननेपर षष्ठीतत्पुरुष समासके द्वारा भी यही अर्थ प्रकट हो जाता है. जिसका मायाके साथ सम्बन्ध न हो उसे 'शुद्ध' कहा जाता है. कार्यकारणरूप शुद्ध ब्रह्म मायिक नहीं होता, शुद्धाद्वैतकी प्रतिपादिका श्रुतिका ऐसा अभिप्राय माना गया है."**
>
> (शुद्धा.मार्त.२२-२९).

इस समास और पदकृत्य के प्रतिपादनमें, मुझे अपनी अल्पमतिके अनुसार, मूलाचार्योंके अभिप्रायसे बहुत वैषम्य प्रतीत होता है.

शुद्धाद्वैतमार्तण्डकारके पदकृत्यकी समीक्षा :

सर्वप्रथम आपत्ति तो 'शुद्धाद्वैत'के पदकृत्यमें जो मुझे लगती है वह यों हैं : श्रुत्यभिप्रेततया वाल्लभ मतके लिये अंगीकृत अभिधान 'ब्रह्मवाद' पदके पर्यायतया ही 'शुद्धाद्वैतवाद'पद यदि माना जाये तो उसके ऐसे पदकृत्यके कारण व्याख्येय 'ब्रह्मवाद' पदका यह विवरणरूप होना चाहिये नकि मायावादके अपोहनार्थ केवल. "**साकारब्रह्मवादैकस्थापको वेदपारगो मायावादनिराकर्ता सर्ववादिनिरासकृत्**" (सर्वो.स्तो.८-९) वचनमें निरूपित महाप्रभुके नामोंकी संगतिके विचारसे अपोहनको उपपन्न भी मानें, तब भी ब्रह्मवादके अंगीकारद्वारा अस्वीकरणीय अन्य अनेक वादोंके बारेमें इस 'शुद्धाद्वैत'पदको मौनव्रतकी दीक्षा अनुचित लगती है. अर्थात् "मौनं सम्मतिलक्षणम्" अनुचित लगता है.

दूसरी आपत्ति इस तरहके अन्यापोहनात्मक अर्थवाले पदकृत्यमें जो मुझे अतीव असन्तोषकारिणी लगती है, वह यह कि वेदान्तके

सभी सम्प्रदायोंकी अपने-अपने वादोंके या धारणाओंके प्रामाणिक होनेका प्रमुख दावा तो मूलतः श्रुति-स्मृति-सूत्र-पुराण-इतिहास-आगमादि शास्त्रवचनोंके समन्वयप्रदर्शन द्वारा एक निश्चित मतकी घोषणाका ही होना चाहिये. नकि एकदेशिओंके आपसी मतभेदोंके निरसनार्थ! अतः इसे वेदान्तजल्प या वेदान्तवितण्डा के रूपमें प्रस्तुत करना उचित नहीं लगता. वह तो निजांगीकृत वादके आनुषंगिकतया शक्य होनेपर भी, प्रमुख प्रयोजनतया मान्य नहीं हो सकता है. अतः 'शुद्धाद्वैत'पदघटक 'शुद्ध'पद द्वारा व्यावर्तनीय केवल माया अथवा केवल मायावाद को स्वीकारनेपर शुद्धाद्वैतमत श्रौत वाद न रह कर जल्प या वितण्डा में पर्यवसित हो जाता है.

तीसरी आपत्ति यह है कि मान कर चलें कि महाप्रभुसे पांच सौ वर्षपूर्व यदि मायावादके पुरस्कर्ता भगवत्पाद श्रीशंकराचार्यका प्रादुर्भाव न हुवा होता तो क्या महाप्रभु श्रीवल्लभाचार्य श्रुत्यादि शास्त्रोंके बारेमें अपना कोई स्पष्ट मन्तव्य प्रस्तुत नहीं कर पाते क्या? यदि करते तो उस मतका अभिधान जैसे 'ब्रह्मवाद' हो सकता है, वैसे ही व्यावर्तनीय मतके अभावके कारण 'शुद्धाद्वैतवाद' हो नहीं पायेगा. अतः यथापरिभाषित 'शुद्धाद्वैतवाद' महाप्रभुप्रयुक्त 'ब्रह्मवाद' पदका सर्वात्मना पर्यायवाची हो नहीं पाता है.

अतः इसे 'ब्रह्मवाद'का पर्यायवाचक मानना हो तो 'शुद्ध'पदद्वारा व्यावर्तनीय केवल माया नहीं प्रत्युत स्वयं महाप्रभुद्वारा परिगणित माने जा सकते **''प्रपञ्च प्रकृतिका विकाररूप नहीं है, परमाणुओंके परस्पर जुड़नेके कारण बना हुवा नहीं है, मायाके द्वारा प्रदर्शित भ्रान्ति नहीं है, अदृष्ट आदि किसी अनजाने कारणवश प्रकटा भी नहीं है, और न इसे यह पहले नही था परन्तु बादमें उत्पन्न होनेवाला भी माना जा सकता है. प्रपञ्च तो उसी परमकाष्ठापन्न कर्ताकी स्वयंमें प्रकट हुयी कृति है, इतना ही नहीं, अपितु भगवद्रूप भी है''** (त.दी.नि.प्र.१।२३) इस वचनमें विधेयतया एवं व्यावर्त्यतया जो भी कुछ विवक्षित हो

ऐसे सम्पूर्ण अर्थके अभिधायक 'अद्वैत' और 'शुद्ध' दोनों ही पद होने चाहिये.

हम देख सकते हैं कि 'शुद्ध'पदसे व्यावर्त्यतया परिगणित माने जा सकते *''प्रपञ्च प्रकृतिका विकाररूप नहीं है, परमाणुओंके परस्पर जुड़नेके कारण बना हुवा नहीं है, मायाके द्वारा प्रदर्शित भ्रान्ति नहीं है, अदृष्ट आदि किसी अनजाने कारणवश प्रकटा भी नहीं है, और न इसे यह पहले नही था परन्तु बादमें उत्पन्न होनेवाला भी माना जा सकता है''* इस वाक्यांशमें केवल मायाके ही व्यावर्तनके बजाय अन्य भी — और उन्हें भी परिगणिततया सीमित न कर देनेको — 'आदि'पद रख कर महाप्रभुने ब्रह्मेतरतया उपस्थित या सम्भावित सभीको व्यावर्तनीय माननेपर भार दिया है. यह तो ब्रह्मकी 'सर्ववादानवसररूपा' (त.दी.नि.प्र.१।७०) मूलरूपताको लक्ष्यमें रख कर जिन्हें व्यावर्तनीय मानना पड़ता हो उनके व्यावर्तनकी निषेधात्मिका प्रक्रियाके द्वारा 'शुद्धाद्वैत'पदके घटक 'शुद्ध'पदका पदकृत्य निरूपित हुवा. पर इस 'शुद्धाद्वैत'के मूलमें रहे 'ब्रह्मवाद' पदके स्वारस्यका विचार कर एक विधानात्मिका प्रक्रियाद्वारा ब्रह्मको 'नानावादानुरोधी' भी मान कर महाप्रभुने प्रस्तुत की है :

> **''वस्तुतः तो श्रुतिमें जो अनेकविध निरूपण ब्रह्मके बारेमें उपलब्ध होते हैं, उसका मूल प्रयोजन अनेकविध तत्त्वप्रतिपादक वाक्योंकी एकवाक्यता इंगित करना है. क्योंकि विरुद्धधर्माश्रय होनेके कारण ब्रह्म तो यद्यपि सर्वभवनसमर्थ है तथापि तत्तद् वादोंका आग्रहिलतया प्रतिपादन करनेवाले चिन्तकोंका भाव उसे सर्वभवनसमर्थतया मान्य रखनेका नहीं होता है. अतः ब्रह्मको किसी भी वादकी परिधिमें न घिरनेवाला माना जाता है. अन्यथा सभी चिन्तक जो भी कुछ तात्त्विक उद्भावना कर पाते हों उन सभीके अनुसार ब्रह्म उनके प्रति वैसा अपना स्वरूप**

प्रकट कर सकता है. अतः प्रत्येक वाद ब्रह्मके ही तत्तद् धर्मोंका प्रतिपादक बन जाता है.''

''श्रीकृष्ण परं ब्रह्म हैं और अक्षरब्रह्म सच्चिदानन्दक. उस अक्षरब्रह्मका एक रूप लोकविलक्षण (भगवद्धामात्मक) होता है दूसरा सर्वलोकात्मक. लोकविलक्षण अक्षरस्वरूपमें सर्वलोकरूप अक्षरका निरूपण विभिन्न वादी विभिन्न रीतिसे करते हैं : कोई उसे मायिक, कोई प्राकृत, परमाणुओंके संघातके रूपमें, कोई स्वतन्त्र आदि-आदि. श्रुतिका मत, परन्तु, यह है कि वही अनेकरूप धारण करता है.''

(त.दी.नि.प्र.१।७०, सिद्धा.मुक्ता.३-५).

अतः ब्रह्म यदि अनेक रूप धारण करने समर्थ हो तो सृष्टिकारणतया किसी भी रूपके व्यावर्तनकी अपेक्षा रह नहीं जाती.

अवशिष्ट रही 'अद्वैत'पदके विवरणकी अपेक्षा तो *प्रपञ्च उस परमकाष्ठापन्न कर्ताकी स्वयंमें प्रकट हुयी कृति है, इतना ही नहीं, अपितु भगवद्रूप भी है* ऐसी पदावलीके प्रयोगद्वारा 'अद्वैत'पदसे विवक्षितका भी व्याख्यान महाप्रभुने प्रकट कर दिया है. यहां यद्यपि कार्यकारणभावके द्वैतके सन्दर्भमें ही ब्रह्मतादात्म्यरूप अद्वैत दरसाया गया है. उसे परन्तु धर्मधर्मी, अवतारावतारी, अंशांशी, वाच्यवाचक, मूलरूप-भावानुरोधिरूप, प्रमाणप्रमेय या साधनफल आदि के द्वैतोंमें भी योजनीय तो मानना ही पड़ेगा.

अतएव चतुर्थ आपत्ति इस विषयमें यह एक और है कि शुद्धाद्वैतमार्तण्डकार प्रस्तुत पदकृत्यद्वारा 'शुद्धाद्वैत'का रूप केवल कार्य-कारणभावमें परिसीमित कर रहे हैं जबकि ''**प्रकाशाश्रयवद् वा तेजस्त्वात्**'' (ब्र.सू.३।२।२८) सूत्रके व्याख्यानमें भाष्यकार तो सुस्पष्ट

शब्दोंमें —

''ब्रह्मके धर्म क्या ब्रह्मसे भिन्न, ब्रह्मके कार्यरूप होते हैं या ब्रह्मरूप ही? ऐसा संशय होनेपर कोई यह सोच सकता है कि लोकमें कार्यभूत पटका रूप पटका धर्म ही तो होता है, पटमें समवेत होनेके कारण, इनके नित्य होनेमें कोई प्रमाण भी उपलब्ध नहीं होता, इन्हें स्वाभाविक मान कर नित्य मानने जानेपर तो कल्पनागौरवका दोष भी लगता है, 'एकमेव अद्वितीयम्' श्रुतिवचनसे विरुद्ध होनेके कारण ब्रह्मधर्मोंको भिन्न भी मानना शक्य न होनेसे, उन्हें प्रपञ्चकी तरह कार्यरूप ही मान लेना चाहिये. ऐसे पूर्वपक्षके समाधानतया सूत्र कहते हैं : 'प्रकाशाश्रयवद् वा'.

यहां 'वा'शब्दद्वारा पूर्वपक्षका निवारण किया गया. जैसे अनेकविध प्रकाशोंके आश्रय सूर्य आदि, अपने धर्मीसे पृथक्तया कहीं सिद्ध न हो पानेके कारण और प्रकाशरूप गुणधर्म भी सदैव धर्मीके भीतर स्थित रहता होनेसे भी, न तो धर्मी प्रकाशसे भिन्न होता है और न अभिन्न ही. यों प्रकाशमान धर्मिद्रव्य और प्रकाशरूप गुणधर्म, मूलसे विच्छिन्नतया भी अपने आधारमें विद्यमान न रहते होनेसे भी, न भिन्न और न अभिन्न होते हैं. साथ ही साथ सूर्यके प्रकाशको स्वयं सूर्यरूप भी माना नहीं जा सकता, क्योंकि वह सूर्यसे अधिकदेशवर्ती भी होता ही है. अतः द्रव्यके स्वभावसिद्ध धर्मके रूपमें उसे मानना पड़ता है. अतः ब्रह्म और उसके धर्मों के बीच भेदको कल्पित भी मानना हो तो जैसे सूर्य और प्रकाश के बीच भेदकल्पना की जाती है, वैसे ही मानना चाहिये.

इन्हें ''राहुके सिर''की तरह नहीं. क्योंकि अन्यथा ब्रह्मज्ञानार्थ वेदमें प्रवृत्ति शक्य नहीं रह जायेगी. **सकल धर्मोंका निषेध कर देनेपर अन्तमें निषेधके अधिकरणके रूपमें अथवा इन धर्मोके एक ब्रह्मरूप धर्मीमें सामानाधिकरण्य के द्योतनार्थ भी 'सत्य' 'ज्ञान' 'अनन्त' 'आनन्द' पदोंके अर्थोंका बोध शक्य नहीं रह जायेगा. लक्षणा वृत्तिके द्वारा बोध प्रकट करना अभिलषित हो, तब भी पदके वाच्यार्थरूप धर्म और लक्ष्यार्थरूप धर्मोंका सादृश्य तो अपेक्षित ही रहेगा. अतः विलक्षण धर्मवाले प्रकाशको और उसके धर्मी या आश्रय के बीच तादात्म्य स्वीकारना पड़ता है.''**

(ब्र.सू.भा.३।२।२८).

शुद्धाद्वैतवादको ब्रह्मवादके पर्यायवाचकतया स्वीकारनेपर अपेक्षित सावधानी :

उल्लिखित भाष्यवचनके आधारपर सिद्ध हो जाता है कि न केवल कार्यकारणभाव अपितु धर्मधर्मिभाव, अवयवावयविभाव, धामधामिभाव, वाच्यवाचकभाव, मूलरूप-भावानुरोधिरूप, आदि अनेकरूपोंमें ब्रह्मवादके अन्तर्गत इतरेतरतादात्म्य अंगीकरणीय है.

अतः उसे केवल कार्यकारणभावमें परिसीमित कर देनेवाला पदकृत्य प्रस्तुत नहीं करना चाहिये. वाल्लभ वेदान्तमें भेद अकल्पित हो या कल्पित हो, वह ''**शब्दज्ञानानुपाती वस्तुशून्यो विकल्पः**'' (पा.यो.सू.१।९) सूत्रोक्त ''राहुके शिर''की तरह विकल्पवृत्तिका गोचर नहीं माना गया है. वह तो तादात्म्यरूप ही माना गया है. क्योंकि अद्वैतके इस प्रकारमें द्वैत वस्तुगत न हो कर केवल शब्दज्ञानानुपाती असत् ही होता है, जबकि शुद्धाद्वैतका घटक अद्वैत ऐसा नहीं होता कि वह केवल शब्दज्ञानानुपाती वस्तुशून्य द्वैतका सहिष्णु हो. वह तो वस्तुगत द्वैतका भी सहिष्णु होता है. अतएव अधिकरणतावच्छेदकोंके भेदवश

द्वैत और द्वैतात्यन्ताभाव का सामानाधिकरण्य भी उसे नहीं माना गया. उदाहरणतया शाखावच्छेदेनं वृक्षमें कपिसंयोग और मूलावच्छेदन कपिसंयोगका अत्यन्ताभाव भी हो सकता है. तद्वत् ये द्वैत या अद्वैत नहीं होते. इसे भलीभांति समझना हो तो केवलाद्वैतवादमें जैसे मिथ्यात्व, जो न सद्रूप होता है, न असद्रूप और न सदसद्रूप ही, प्रत्युत इन तीन कल्पोंसे अतीत सदसद्विलक्षण होता है, तद्वत्. एकत्वात्यन्ताभावरूप भेद, भेदात्यन्ताभावरूप अभेद और उनके समानाधिकरणरूप भेदाभेद यों इन तीनोंसे विलक्षण ही तादात्म्यरूप अभेद या अद्वैत शुद्धाद्वैतवादमें माना गया है. इसे प्रकाश और प्रकाशमान द्रव्य के परस्परद्वैतके उदाहरणमें देखा जा सकता है. न तो वहां एकत्वका अत्यन्ताभाव होता है, क्योंकि प्रकाशके घनीभूत या पिण्डीभूत सूर्यद्रव्यमें अभ्रान्तिगोचर एकत्व अनुभूत होता ही है. साथ ही साथ उस घनीभूत प्रकाशपिण्डसे बाहर निकल कर प्रसृत होती प्रकाशकिरणोंमें अभ्रान्तिगोचर द्वित्व भी अनुभूत होता है. अतः दोनोंके बीच न तो एकत्वका अत्यन्ताभाव होता है और न द्वित्वका अत्यन्ताभाव होता है.

यह तो ठीक है कि ''यह एक; और, वह एक. यों मिल कर दो'' ऐसी अपेक्षाबुद्धिके वश द्वित्व घटित होता है. अतः प्रश्न पूछा जा सकता है कि ऐसे अपेक्षाबुद्धिजन्य द्वित्वको वस्तुगत माननेके बजाय बोधगत धर्म ही क्यों न मान लेना? इस तरहकी, परन्तु, यौक्तिक आपत्ति स्वयं एक वस्तु और दूसरे वस्तुबोध के द्वित्वका अवलम्बन लिये बिना उभर नहीं पाती. और तब पुनः इस वस्तु और वस्तुबोध के द्वित्वको बोधगत मानना या वस्तुगत? यों इस समस्याका समाधान खोजने जानेपर तो स्वयं हमारी बोधशक्ति ही या तो अन्योन्याश्रय या अनवस्था दोषोंका शिकार बन जाती है. अतः स्वीकारना पड़ता है कि सभी तरहके द्वित्व सापेक्षबुद्धिप्रयुक्त न हो कर कुछ अनवगततया वस्तुगत भी रहते ही हैं. बुद्धिमें, किन्तु, उनका अवभासन सापेक्ष प्रत्ययोंके बिना शक्य नहीं हो पाता.

उदाहरणतया किन्हीं दो व्यक्तिओंका पितापुत्र या पतिपत्नी होना हमें अपेक्षाबुद्धिके प्रयोग बिना अवगत न होनेमात्रसे कल्पित नहीं सिद्ध हो जाता. वह सम्बन्ध पूर्वमें अनवगत रहनेपर भी इतरेतरसापेक्षबुद्धिसे गोचर बननेपर अवगत भी बन जाता है.

प्रमुखतया विचारणीय मुद्दा इसमें यही है कि तैत्तिरीयोपनिषद्की ब्रह्मवल्लीमें ब्रह्ममीमांसाके अन्तर्गत सर्वप्रथम स्वरूपलक्षण **"ब्रह्म सत्य ज्ञान और अनन्त रूप होता है"** (तैत्ति.उप.२।१) ऐसा श्रुतिने दिखलाया. बादमें भृगुवल्लीमें **"जिसमेंसे इन सब भूतोंका जनन होता है, जिसमें जननके बाद ये जीवित रहते हैं, जिसकी ओर ये मुक्तिमें प्रयाण करते हैं और जिसमें प्रलयमें लीन होते हैं, उस ब्रह्मकी जिज्ञासा करो क्योंकि उसे ही 'ब्रह्म' समझना चाहिये"** (तैत्ति.उप.३।१) ऐसा कार्यलक्षण भी दिखलाया है. ब्रह्मका स्वरूप परिभाषित होता है उसके असाधारणधर्मोंके आधारपर और ऐसे ही ब्रह्मकी कारणता निर्धारित होती है उसके कार्योंका निरूपण करनेपर. अतः स्वाभाविक रूपमें लक्षण और प्रमाण के घटक पदोंसे यदि वह वाच्य न होता हो तो अलक्षित एवं अप्रमाणित तत्त्व ब्रह्मतया सिद्ध नहीं हो पायेगा.

ऐसी स्थितिमें यदि ब्रह्मका अद्वैत द्वैतात्यन्ताभावोपलक्षित होता तो उसके सिद्धिकी भी अपेक्षा रह नहीं जानी चाहिये थी. क्योंकि किस तत्त्वकी सिद्धि? किस प्रमाणके या किस लक्षणके आधारपर? किस प्रमाताके संमुख? इन प्रश्नोंका समाधान खोजने जानेपर ब्राह्मिक अद्वैत बाधित हो जायेगा. अतः अबाधित सिद्धिके अभावमें उसके होने या न होनेसे कुछ अन्तर नहीं पड़ेगा. यों एक उभयतःपाश जो यहां उभरता है उसका दो तरहसे समाधान खोजा जा सकता है :

(१) लक्षण-प्रमाणोंसे निरपेक्ष स्वतःसिद्ध निजात्मचेतनारूप

ब्रह्मके ऊपर असिद्ध होनेका पहले मिथ्यारोप लगा कर बादमें मिथ्यालक्षण और मिथ्याप्रमाण को घड़ कर, उनके बलपर उसकी मिथ्यासिद्धिका अध्यारोप कर, अन्तमें उनका भी अपवाद कर देना. उदाहरणतया अद्वैतद्योतक १ संख्याको द्वित्वद्योतक अध्यारोपित २ संख्यासे जोड़ कर मिलती ३ संख्याकी पुनः २ से बाक़ीरूप अपवाद करनेपर १ ही शेष रहता है.

(२) अपने-आपमें एकमेवाद्वितीय होनेके कारण ब्रह्म स्वरूपदृष्टिसे लक्षण-प्रमाणमूलिका सिद्धिकी अपेक्षा नहीं रखता है. फिरभी क्योंकि वह लीलया अनेकवद्भावापन्न हुवा है, अतः लीलाविर्भूत ऐच्छिक अनेकताको स्वयं उसके आत्मप्रकाशनके विस्ताररूप मान लेना. नाम-रूप-कर्मोंकी विविधताको लीलार्थ परिगृहीत रूपतया परिभाषित भी और प्रमाणित भी करके.

इसमें प्रथम कल्पमें द्वैतात्यन्ताभावोपलक्षित अद्वैत प्रस्तावित होता है जबकि दूसरे कल्पमें द्वैत द्वैतात्यन्ताभाव और दोनोंका सामानाधिकरण्य यों तीनोंसे अतीत तुरीय तादात्म्यकोटि या भावात्मक अद्वैत प्रस्तावित हो पाता है. अतएव भाष्यप्रकाशकार श्रीपुरुषोत्तमजीका एक विधान यहां मननीय है **"जैसे 'अमित्र' पदका अर्थ न तो मित्र होता है और न मित्रका केवल अभाव ही. जब हम किसीको अपना 'अमित्र' कहते हैं तो हमारा अभिप्राय होता है, ऐसे किसी व्यक्तिके बारेमें, जो या तो शत्रु हो या फिर अनजान ही कोई व्यक्ति हो; पर हमारा मित्र न हो... इसी तरह 'अभेद' पदका अर्थ भी न भेद होता और न भेदात्यन्ताभाव ही किन्तु भेदविरोधी किसी तरहका भाव होता है. यह भावरूप हो कर अपने आश्रयसे अविनाभूत अर्थात् अपने आश्रयको छोड़ जो अन्यत्र विद्यमान नहीं होता. इसे अन्योन्याभावरूप**

भेद भी माना नहीं जा सकता'' (अणुभा.प्रका.३।२।२८).

'अभेद' या 'अद्वैत' के घटक 'नञ्' निपातके जो छह अर्थ हो सकते हैं उनमेंसे प्रसंगोपात्त अभाव और विरोधिता सम्भव हैं. अतः द्वैताभाव भी अर्थ हो सकता है और द्वैतविरोधी धर्मान्तर भी. जैसे 'असुर'पदमें सुर या देवता का अभाव अर्थ न ले कर देवताओंके विरोधी दैत्य या राक्षस अर्थ ही लिया जाता है. क्योंकि कैलाशमें महादेवकी संनिधिमें दोनोंका सहभाव भी शक्य माना ही गया है. इसी तरह ब्रह्म और नाम-रूप-कर्मों अवतारों अंशों या गुणधर्मों के बीच परस्पर तादात्म्य होनेके कारण द्वैत और अद्वैत का सहभाव शक्य है. शक्य तो विरुद्धधर्माश्रय होनेके कारण द्वैत और द्वैतात्यन्ताभाव का सामानाधिकरण्य भी है. परन्तु 'शुद्धाद्वैत'पदके घटक 'अद्वैत'पदमें 'नञ्'निपात अभावार्थक विवक्षित न हो कर विरोधार्थक ही अभिप्रेत है.

'शुद्धाद्वैत'का प्राणोपम तादात्म्य भेदाभेदरूप नहीं किन्तु चतुर्थकोटि है :

इस वैषम्यके प्रकट होनेका प्रमुख हेतु मुझे ऐसा लगता है कि शुद्धाद्वैतमार्तण्डकार इतरेतरतादात्म्यको महाप्रभुके जिस सुबोधिनीवचनके आधारपर भेदाभेदके रूपमें निहारना चाहते हैं, उसकी वास्तविकता यह है कि उस वचनमें भेदाभेदकी उपपत्ति तादात्म्यके लक्षण **''भेदसहिष्णुः अभेद''** के आधारपर दी गयी है. स्वयं महाप्रभु तादात्म्यको ऐसे स्वीकारना नहीं चाहते है. अतः उस वचनको अविकलरूपमें एक बार देख लेना उपकारक होगा —

> **''भगवान्‌के स्वरूप एवं चरित्र का निरूपण भेददृष्टि रख कर नहीं करना चाहिये. अन्यथा, भगवच्चरित्रके भगवदात्मक न रह जानेपर, चरित्रका श्रवण-कीर्तन-भावन**

करनेवालेके भीतर संसारासक्ति ही बढ़ेगी. अतः भगवान्‌के स्वरूप और चरित्र का निरूपण अभेददृष्टि रख कर, कर रहे हैं 'यह विश्व स्वयं भगवान् है' ऐसे विधानद्वारा. लोकप्रतीतिके आधारपर सिद्ध विश्वको उद्देश्य बना कर उसके भगवान् होनेका यहां विधान किया जा रहा है. अतः विश्वमें सर्वत्र भगवद्दृष्टि रख कर उसे निहारनेपर जीव कृतार्थ हो जाता है. यहां भगवान्‌के कार्यरूप जगत्‌को भगवान्‌के रूपमें निहारनेकी बात समझायी गयी है...

उत्तम मध्यम और अधम अधिकारोंके भेदवश भगवान्‌को तीन प्रकारसे निहारा जा सकता है, यह प्रतिपादन यहां अभिप्रेत है. अब उत्तम अधिकारीको विश्व कैसे दिखलायी देता है यह समझा देनेके बाद मध्यम अधिकारीको कैसे दीखता है, यह दिखलाया जा रहा है : उसे यह विश्व भगवान्‌की तरह दिखलायी देता है परन्तु साक्षाद् भगवद्रूप नहीं. अर्थात् भगवत्सदृश दिखलायी देता होनेसे विश्वका या विश्वान्तर्गत रूप-नाम-कर्मोंका आदर आदि भगवान्‌की तरह करना, उसे उचित लगता है. फिरभी आसक्ति तो भगवान्‌में ही साक्षात् निभानी चाहिये, विश्वके पदार्थोंमें नहीं. ऐसा मध्यमाधिकारीको प्रतीत होता है. इसी तरह जो निकृष्ट अधिकारी होता है उसे तो लोकप्रतीतिसिद्ध यह विश्व भगवान्‌से भिन्न ही लगता है. अतएव जिसे यह प्रपञ्च केवल प्रपञ्चतया ही दिखलायी देता हो, वह जब भी बहिर्मुखतासे ग्रस्त होता है, तो शीघ्र ही भ्रष्ट हो जाता है. एक ही विश्वकी या भगवान्‌की तीन तरहसे प्रतीति कैसे हो सकती है, यह समझानेको कहते हैं 'जिन भगवान्‌मेंसे इस विश्वकी स्थिति उत्पत्ति और निरोध होते हैं'. अर्थात् विश्व भगवान्‌में ही स्थित

होनेके कारण भगवद्रूप है, ऐसी प्रतीति उत्तमाधिकारीको होती है. विश्व भगवान्‌मेंसे उद्भव हुवा होनेके कारण कार्यकारणके बीच तादात्म्य होनेसे कार्यात्मना विश्वमें भेद होनेपर भी कारणात्मना अभेद होता है. यों भेदसहिष्णु अभेद होनेके कारण विश्व भगवद्रूप न होनेपर भी भगवत्सदृश इन मध्यमाधिकारियोंको लगता है. इसके विपरीत जो मूढ़ अधिकारी होते हैं, उन्हें तो भगवान् विश्वका उपसंहार करते होनेसे विश्व नश्वर और भगवान् अनश्वर ही प्रतीत होते हैं.''

(सुबो.१।५।२०).

इस वचनमें मध्यमाधिकारीको होती विश्वकी अनुभूतिमें तादात्म्यके उल्लेखके कारण शुद्धाद्वैतमार्तण्डकारको वह भेदाभेदरूप लगता है. अतः मध्यमाधिकारक अनुभूतिका विषय लगता है. वे स्वयं कहते **''कार्यरूपेण भेद होनेपर भी कारणात्मना अभेद होनेके कारण यहां भेदसहिष्णु अभेदरूप तादात्म्य अनुभूतिगोचर होता माना गया है''** (शुद्धा.मार्त.३२). वैसे महाप्रभुको अभिमत ब्रह्मवाद या शुद्धाद्वैतवाद में न केवल कार्यकारणका तादात्म्य अपितु अंशांशितादात्म्य और धर्मधर्मितादात्म्य आदि प्रकारके भी तादात्म्य हैं ही. अतएव **''तदनन्यत्वम् 'आरम्भण'शब्दादिभ्यः''** (ब्र.सू.२।१।१४) अधिकरणमें कार्यकारणतादात्म्यकी तरह ही अंशांशितादात्म्य भी **''इतरव्यपदेशाद् हिताकरणादिदोषप्रसक्तिः''** (ब्र.सू.२।१।२१) भी विवक्षित है ही. इसी तरह **''अदृश्यत्वादिगुणको धर्मोक्तेः''** (ब्र.सू.१।२।२१) अधिकरणमें धामधामितादात्म्य भी **''अक्षरकी भी ब्रह्मरूपता है और पुरुषकी भी. दोनोंके बीच परापरभाव भी है ही और अभेद भी. ब्रह्मवाद तो ऐसा ही होता है. अक्षरब्रह्मसे विश्वकी उत्पत्ति निरूपित हुयी होनेसे उसे ब्रह्मरूप मानना पड़ता है कि वह अदृश्यत्व आदि गुणवाला परमात्माका एक स्वरूप है. पुरुषोत्तमकी तो ब्रह्मरूपता शंकातीत है. ईषद् आनन्दके तिरोभाववश ब्रह्मको 'अक्षर' कहा जाता है और**

पूर्णानन्दकी आविर्भूतताके कारण उसे 'पुरुषोत्तम' भी.'' (ब्र.सू.भा.१।२।२१) इस तरह हम देख सकते हैं **''परमात्मा अपने जेसे स्वरूपद्वारा प्रकृति-पुरुषके (कारणकोटिके) रूपोंको धारण करता है उसे 'अक्षर' कहते हैं... इस अक्षरका पुरुषोत्तमके साथ अभेदके निर्धारणका प्रकार—अक्षर अपने मूलरूप पुरुषोत्तमसे विच्छिन्नतया या कार्यतया नहीं प्रत्युत अविच्छिन्नतया सर्वदा स्थित होने अभिन्न माना जाता है... यों ब्रह्मके तीन प्रभेद हुवे अन्तर्यामी अक्षर और कृष्ण.''** (त.दी.नि.प्र.२।९८-१२१). अतः स्वरूपकोटिमें अन्तर्निविष्ट माने जाते अक्षरब्रह्मके साथ भी तादात्म्य तो अंगीकार्य ही है. ऐसी स्थितिमें सिद्ध हो जाता है कि कार्य-कारणके बीच रहे तादात्म्यको भी भावरूप अभेद मानना चाहिये नकि भेदाभेदरूप.

अतः शुद्धाद्वैतमार्तण्डकार जब उसे केवल कार्यकारणभावमें योजित करना चाहते हैं तब लक्ष्यमें रखने लायक तथ्य यही है कि **''ऐतदात्म्यम् इदं सर्वं—तत् त्वम् असि''** (छान्दो.उप.६।८।७) वचनके प्रथमांशमें उपादानोपादेयभावात्मक और द्वितीयांशमें अंशांशिभावात्मक तादात्म्य एकहेलया मान्य किया गया है. अतः केवल ऐसी विवक्षा स्वीकारनेपर 'शुद्धाद्वैत' पदमें अव्याप्तिदोषकी आपत्ति आती है. वास्तविकता जबकि यह है कि यह इतरेतरतादात्म्य सदंशकार्यरूप जड़ और सच्चिदानन्दरूप उपादान या समवायी कारणरूप ब्रह्म के बीच कार्यकारणभावात्मक माना गया है. चिदंशरूप जीवात्मा और सच्चिदानन्दरूप परमात्माके बीच अंशांशिभावरूप भी माना गया है. परन्तु स्वयं सच्चिदानन्दरूप ब्रह्म और उसके सत्ता चैतन्य आनन्द रूपी धर्मो के बीच यह इतरेतरतादात्म्य धर्मधर्मिरूप भी माना गया है. और अक्षरपुरुषोत्तमके बीच आधाराधेयभावरूप भी. अतः इसपर दुर्लक्ष्य हो जानेके कारण शुद्धाद्वैतमार्तण्डकार तादात्म्यको भेदाभेदरूप मान कर चले हैं.

'शुद्धाद्वैतपरिष्कार' में मिलते 'शुद्धाद्वैत'लक्षणकी परीक्षा :

अतः महाप्रभुके अन्यान्य वचनोंके अभिप्रायका विमर्श करनेपर ऐसा प्रतिपादन अप्रामाणिक नहीं तो भी सर्वथा असमीक्षित तो लगता

ही है. शुद्धाद्वैतमार्तण्डकारके शिष्य श्रीरामकृष्ण भट्टने अपने 'शुद्धाद्वैतपरिष्कार' नामक ग्रन्थमें दिखलाये —

''इतरसम्बन्धानवच्छिन्न-कार्यकारणादिरूप-द्वित्वप्रकारक-ज्ञानप्रतियोगिताका-ऽभाववत्त्वं शुद्धाद्वैतत्वम्.''

(शुद्धाद्वै.परि.).

इस लक्षणमें कुछ सावधानियां तो अच्छी ली हैं परन्तु फिरभी अस्पष्टता भी बिलकुल साफ झलकती ही हैं. यहां 'कार्यकारणादिरूप-द्वित्वप्रकारक' पदोंमें केवल कार्यकारणभावात्मक द्वैतके बजाय 'आदि'पदसे अंशांशिभाव आदिके द्वैतोंको भी स्थान तो प्रदान किया गया है. इसी तरह ऐसे कार्यकारणभाव या अंशांशिभाव आदिको भी 'मायासम्बन्धानवच्छिन्न' कहनेके बजाय 'इतरसम्बन्धानवच्छिन्न' कहना भी एक अच्छी सूझ है. फिरभी 'इतरसम्बन्ध...' दलके पदकृत्यमें **''कार्यकारणादिद्वित्वप्रकारकपदार्थस्य मायिकत्वाभावाय''** खुलासा दे कर पुनः 'शुद्ध'पदद्वारा व्यावर्त्य केवल शांकर वेदान्ताभिमत मायाको ही पकड़ लिया होनेसे 'इतर'पदसे मिलनेवाले लाभको पुनः खो दिया!

इसी तरह प्रदर्शित अव्याप्तिदोषके परिहारके प्रयासरूपेण लक्षणकार कहते हैं **''धर्मधर्मिभावरूप सम्बन्धके उदाहरणमें कार्यकारणभावरूपद्वित्व न होनेसे अव्याप्ति नहीं मान लेनी चाहिये, क्योंकि धर्मधर्मिभाव अभेदरूप होता है, ऐसा 'प्रकाशाश्रयवद् वा तेजस्त्वात्' सूत्रके आधारपर निर्णीत है. 'परा अस्य शक्तिः' जैसे वचनोंमें भी अभेदार्थक षष्ठी स्वीकारी गयी होनेसे भी (वे अलक्ष्य हैं)''** इससे ऐसा लगता है कि श्रीरामकृष्ण भट्टजी धर्मधर्मिभाव और शक्तिशक्तिमान के बीच द्वैत न मान कर किसी तरहका अद्वैत खोज रहे हैं. उसे, परन्तु, क्या भेदासहिष्णु द्वैतात्यन्ताभावरूप अभेद मानना अथवा द्वैतविरोधी कोई भावरूप पदार्थ? प्रथम कल्पमें स्वरूपानुपपत्तिरूप दोष आयेगा. और द्वितीय कल्पका समाश्रयण करनेपर तो 'घटट्टकुट्यां प्रभात'न्याय ही होगा! क्योंकि

तादात्म्यसे उसे पृथक्तया लक्षित कर पाना दुष्कर हो जायेगा!

जहां तक धर्मधर्मिभावसे विपरीततया कार्यकारणभावरूप द्वैतके भेदसहिष्णु अभेद होनेकी बात है, तो इस विषयमें यह अनुसन्धेय है कि महाप्रभुको अभिप्रेत कार्यकारणभाव आविर्भावतिरोभावात्मक है. महाप्रभु इन्हें पुनः भगवान्‌की शक्ति ही मानते हैं **''आविर्भावतिरोभावौ शक्ती वै मुरवैरिणः''** (त.दी.नि.२।१४०). अब शक्ति-शक्तिमान्‌के बीच भेदासहिष्णु या भेदसहिष्णु कैसा भी अद्वैत क्यों न माने वह कार्यकारणभावपर भी लागू तो होगा ही. क्योंकि किन्हीं दो शक्तियोंको आविर्भाविका या तिरोभाविका माननेके बजाय आविर्भाव और तिरोभाव को शक्तिरूप माना गया है. वैसे अन्यथा भी पत्रावलम्बन और सर्वनिर्णयप्रकाश के अवलोकन करनेपर इस विषयमें जो चित्र उभरता है वह निहारने लायक है :

''जो 'आवि'=प्रकट करता हो उसे 'आविर्भाव' कहते हैं. अथवा आविर्भूत होना एक धर्मविशेष है. इसी तरह तिरोभावके बारेमें भी समझना चाहिये. ये दोनों भगवान्‌की शक्तियां हैं, क्योंकि भगवान्‌में अनन्त शक्तियां होती हैं. अन्यथा बीज आदिके परिणामतया देह आदि कैसे प्रकट हो सकते हैं? अतः भगवान्‌की शक्ति ही कारणतया स्वीकारनी चाहिये क्योंकि आविर्भावरूप धर्मके कारण ही घटरूप धर्मी सिद्ध हो पाता है... ऐसा न स्वीकारनेपर तो प्रागभावनिवृत्तिरूप उत्पत्ति माननेवालोंको भी इन दोषोंसे बचना कठिन हो जायेगा. क्योंकि उत्पत्ति भी तो एक धर्म है ही जिसका कोई धर्मी तो होना ही चाहिये. उस उत्पत्तिको किस धर्मीका धर्म मानना?... जो भी कोई वस्तु इस उत्पत्तिरूप धर्मका धर्मी मानी जाये उसे उत्पत्तिसे पूर्वसिद्ध तो मानना ही पड़ेगा... अतः धर्मीको सनातन माने बिना कोई उपाय शेष नहीं रह जाता है.

अब ऐसा धर्मी तो ब्रह्म परमात्मा भगवान् ही हो सकते हैं. अन्य कोई नहीं, अद्वैतश्रुतिके कारण. अतः आविर्भावरूप धर्मके घटादिरूप धर्मीका ब्रह्मत्व या भगवत्त्व भी स्वीकारना ही पड़ेगा. इसीके साथ जुड़ा हुवा पीछे-पीछे चला आयेगा आविर्भावरूप धर्मका भी ब्रह्मत्व या भगवत्त्व.''

(त.दी.नि.प्र.२।१४०).

इस प्रतिपादनका फलितार्थ विचारनेपर कार्यकारणभाव या धर्मधर्मिभाव अथवा शक्ति-शक्तिमद्भाव के द्वैत या अद्वैत के स्वरूपोंमें किसी तरहका प्रभेद महाप्रभुको मान्य हो ऐसा प्रतीत तो होता नहीं है. अतः अकारण तादात्म्यको भेदाभेदरूप माननेके बजाय भेदाभेदातीत तुरीयकोटि मानना ही उपपन्न होता है. अतः 'शुद्धाद्वैत'पदके घटक 'अद्वैत'पदको भावरूप अभेदात्मक या तादात्म्यरूप मान कर 'शुद्ध'पदसे यदि किसी पदार्थकी व्यावृत्ति स्वीकारनी हो तो वह ब्रह्मेतरतया प्रतिभात या सम्भावित सभीकी व्यावृत्ति माननी ब्रह्मवादके व्याख्यानतया अनिवार्य लगती है.

इसके अलावा इस लक्षणके अन्तर्गत एक और विशेष उल्लेखनीय बात **''द्वित्वप्रकारकज्ञानप्रतियोगिताक अभाववान्''** शुद्धाद्वैत माना गया है. इसे सरल शब्दावलीमें समझना हो तो किसी विशेष प्रकारके ज्ञानका कहीं न होना उसका शुद्धाद्वैतलक्षणविशिष्ट होना है. जहां तक अन्यान्य वेदान्तसम्प्रदायोंके मतोंसे इस शुद्धाद्वैतलक्षणके असंकीर्ण होनेकी बात हो तो श्रीपतिभगवत्पादाचार्यके विशेषाद्वैतसे इस लक्षणके आधारपर पृथक् कर पाना दुष्कर लगता है. रही इस अभाववत्ताकी कथा तो क्या इसे विषयविषयिभावरूप सम्बन्धप्रयुक्त लेनी या आश्रयाश्रयिभावरूप सम्बन्धप्रयुक्त लेनी? यदि विषयविषयिभाव सम्बन्धप्रयुक्त लेते हैं तो ''ये घट और पट दोनों भिन्न हैं'' ऐसे बोधमें न तो घट और पट के बीच कार्यकारणभाव होता है और न अंशांशिभाव या व्याप्यव्यापकभाव ही. ऐसी स्थितिमें कार्यकारणाभावादिप्रयुक्त द्वित्व

न होनेके कारण वैसा द्वित्वविशिष्ट-घट-पट-विषयक भेद ज्ञानमें भासित नहीं होगा. अतः ऐसे ज्ञानके विषयतया घटपटभेदको भी शुद्धाद्वैतरूप मानना पड़ेगा. यदि इसे इष्ट ही मानें तब भी ''लक्षण और प्रमाण से वस्तु सिद्ध होती होने''के नियमके अनुरोधवश लक्षणौचित्यके विमर्शके समय शुद्धाद्वैतके साध्य होनेसे ही शुद्धाद्वैतज्ञान प्रत्यक्षबाधित हो जायेगा. यदि इसे श्रुतिप्रामाण्यके प्राबल्यवश बाधित न भी मानें तब भी शुद्धाद्वैत अन्योन्याभावरूप भेदका पारिभाषिक पदमात्र रह जानेसे लक्षणकी अन्यथोपपत्ति गलेपतित होगी.

अतः ज्ञानाभाववत्ताको आश्रयाश्रयिभावरूप सम्बन्धप्रयुक्त मानते हैं तो शिला आदि जड़ पदार्थोंमें, निर्विकल्पकज्ञानवान् अथवा मूर्छित या निद्रित पुरुषोंमें भी अतिव्याप्त मानना पड़ेगा. **''सर्वं खलु इदं ब्रह्म''** (छान्दो. उप.३।१४।१) श्रुतिवचनके आधारपर सभी कुछ ब्रह्मरूप होनेसे सर्वत्र शुद्धाद्वैतके अभीष्ट होनेकी बात कही जाय, तब तो शांकरोंकी मायावादानुसारी मतिको भी सर्वके अन्तर्गत ब्रह्मरूपतया मान्य कर लेना उचित होनेसे, शुद्धाद्वैतके लक्षणमें इतरव्यावर्तनकी अपेक्षा ही रह नहीं जायेगी. शुद्धाद्वैतके लक्षणपरिष्कारमें उभरी इस असमञ्जसताके बीज ग्रन्थकारके गुरु शुद्धाद्वैतमार्तण्डकारके तादात्म्यको भेदाभेदरूप माननेके असमीक्षिताभिधानके वश ही हुयी लगती है. अतएव शुद्धाद्वैतमार्तण्डकारके —

''शुद्धाद्वैतविदोंकी प्रतीति तो उत्तम है परन्तु भेदाभेदकी प्रतीति मध्यमकक्षाकी जाननी चाहिये. अतः शुद्धाद्वैतके अनुरोधवश मध्यमकक्षाकी प्रतीतिको भी गोस्वामी श्रीपुरुषोत्तमजी तथा श्रीमदाचार्यचरणने भी कहीं-कहीं मान्य रखी है.''

(शुद्धा.मार्त.३४-३५).

इस उद्गारका फलितार्थ स्वयं महाप्रभुको अभिमत शुद्धाद्वैतके स्वरूपसे स्वतन्त्र शुद्धाद्वैतके प्रतिपादनार्थ है अथवा श्रीमदाचार्यचरण तथा

श्रीपुरुषोत्तमजी के शुद्धाद्वैतसम्बन्धी प्रतिपादनोंको सर्वत्र शुद्धाद्वैतपरक लेनेके बजाय भेदाभेदपरक लेते रहनेकी सावधानीका निर्देशन है, यह स्फुट नहीं हो पाता! अस्तु.

शुद्धाद्वैतवादका श्रौत मूल तथा तुलनात्मक स्वरूप :

ब्रह्म तत्त्व यदि उपनिषत्प्रतिपाद्य हो तो सभी वेदान्तके सम्प्रदायोंका इस अर्थमें ब्रह्मवादी होना तो अनुक्तसिद्ध ही है परन्तु ब्रह्मके तथा ब्रह्मसे उत्पन्न और उसमें स्थित और लीन होनेवाले जड़जीवात्मक जगत्के परस्पर सम्बन्धोंकी व्याख्याओंमें आधारभूत उपनिषद्वचनोंके पार्थक्यके कारण वेदान्तके चिन्तनमें अनेकविध सम्प्रदायोंका उद्भव कैसे हुवा, इस तुलनात्मक तथ्यके अवलोकनार्थ अधोनिर्दिष्ट श्रुतिवचनावली तथा श्रुतिव्याख्यावली पर दृष्टिपात आवश्यक लगता है :

(१)केवलाद्वैतमत

(वाक्य)

एकमेवाद्वितीयं + इन्द्रो मायाभिः पुरुरूप ईयते.

(व्याख्या)

सजातीय विजातीय स्वगत भेदात्यन्ताभावोपलक्षित + मायोपाधिक व्यावहारिक/प्रातिभासिक भेद

(२)औपाधिकद्वैताद्वैतमत

(वाक्य)

एकमेवाद्वितीयं + परास्य शक्तिर्विविधैव श्रूयते.

(व्याख्या)

कारणरूपका अद्वैत + शक्तिकार्यभूतोंका द्वैत

(३)विशिष्टाद्वैतमत

(वाक्य)

एकमेवाद्वितीयं + यः पृथिव्यां तिष्ठन्...अन्तरो यमयति

(व्याख्या)

विशिष्टका अद्वैत + विशेषण-विशेष्योंका और विशेषणोंका द्वैत

(४)द्वैतमत

(वाक्य)

एकमेवाद्वितीयं + ज्ञाज्ञौ द्वौ अजौ ईशानीशौ

(व्याख्या)

स्वगतसजातीय-द्वैतराहित्य + पारमार्थिक विजातीयद्वैत

(५)विशेषाद्वैतमत

(वाक्य)

एकमेवाद्वितीयं + स यथा नद्यः...समुद्रं प्राप्य अस्तंगच्छन्ति भिद्यन्ते तासां नामरूपे समुद्र इत्येव

(व्याख्या)

सभी स्वाभाविकभेदभिन्नोंका ब्रह्मान्तर्लयार्ह अद्वैत + अनादिसान्त पारमार्थिक द्वैत

(६)अविभागाद्वैतमत

(वाक्य)

एकमेवाद्वितीयं + यथाग्नेः क्षुद्राः विस्फुलिंगाः व्युच्चरन्ति

(व्याख्या)

आकाशोपमनित्याविकारि-अधिष्ठानमें अविभागरूप अद्वैत + सृष्टिमें अनित्यनामरूपविभाजनरूप द्वैत

(७)शुद्धाद्वैतमत

(वाक्य)

एकमेवाद्वितीयं + तद् ऐक्षत बहु स्यां प्रजायेय

(व्याख्या)

ब्रह्मस्वरूपस्वाभाविक अद्वैत + नाम-रूप-कर्म-जीवनानात्वरूप ऐच्छिक द्वैत

वेदान्तके इन विविध सम्प्रदायोंमें अभिप्रेत द्वैत एवं अद्वैत के परस्पर सम्बन्धमूलक स्वरूपभेदोंको रेखात्मक प्रतीकचित्रोंद्वारा भी एक बार निरख कर सुनिर्धारित कर लेना उपयुक्त होगा. अतः द्वैत और अद्वैत दोनोंके दो-दो वृत्त बना कर उनके परस्पर अन्तर्भाव या बहिर्भाव

को यों चित्रित किया जा सकता है :

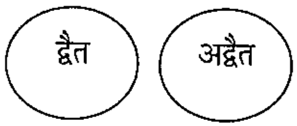

= केवलाद्वैतवाद

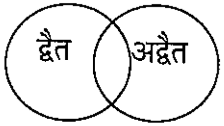

= औपाधिकद्वैताद्वैतवाद

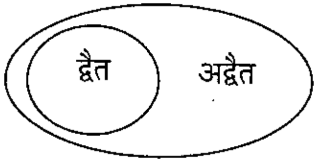

= विशेषाद्वैतवाद/अविभागाद्वैतवाद

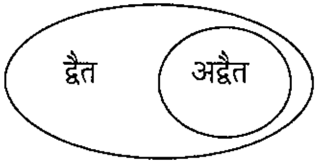

= द्वैतवाद/विशिष्टाद्वैतवाद

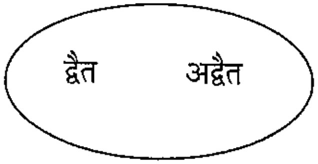

= शुद्धाद्वैतवाद

वेदान्तके विविध सम्प्रदायोंद्वारा उनकी धारणाओंके मूलमें रहे श्रुतिवचन और उनकी विविध व्याख्याओंके विहंगावलोकन करनेपर एक बात तो यह बिलकुल स्पष्ट हो जाती है कि इन सभीके बीच ब्राह्मिक अद्वैतके बारेमें मतभेद उतने अधिक नहीं है जितने कि उस ब्रह्मके साथ जड़जीवात्मक जगत्के सम्बन्धको ले कर मतभेद तीव्र हुवे हैं. दूसरी बात यह कि किसी न किसी तरहका द्वैत तो — और किसी न किसी तरहका अद्वैत — सभी सम्प्रदायोंको अभिप्रेत है ही. अतः हम देख सकते हैं कि "भेद है या अभेद?" इस प्रश्नको ले कर मतभेद उतने नहीं उभरे हैं जितने द्वैत है तो कैसा है और अद्वैत है तो कैसा? यों 'द्वैत' या 'अद्वैत' पदोंके साथ जोड़े जाते विशेषणोंके कारण मतभेद उभरे हैं. द्वैताद्वैतवादी होनेपर भी श्रीभास्कराचार्य 'औपाधिक' विशेषण द्वैताद्वैतवादके साथ जोड़ना चाहते हैं, तो श्रीपतिभगवत्पादाचार्य अद्वैतवादके साथ 'विशेष' विशेषण जोड़ना चाहते हैं, तो श्रीविज्ञानभिक्षु अद्वैतवाद के साथ 'अविभाग' विशेषण जोड़ना चाहते हैं. इसी तरह शुद्धाद्वैतवादका मतभेद समीपतरवर्ती इन अवधारणाओंके साथ इस अर्थमें है कि अद्वैत यहां स्वाभाविक है तो द्वैत ऐच्छिक है. अतः द्वैतका सर्वथा अस्वीकार तो शांकर वेदान्तमें भी उपलब्ध नहीं होता. क्योंकि वहां भी पारमार्थिक अनौपाधिक अद्वैतके साथ ही साथ व्यावहारिक और प्रातिभासिक मायोपाधिक द्वैत तो मान्य रखे ही गये हैं.

ब्रह्मवादके आधारपर प्रस्तावित शुद्धाद्वैतवादी दृष्टिकी पारिभाषिकता :

अतः उपनिषत्प्रतिपाद्य ब्रह्मके अंगीकारके अर्थमें तो वेदान्तके सभी सम्प्रदाय ब्रह्मवादी हैं ही परन्तु एतावता सभीको शुद्धाद्वैतवादी माना नहीं जा सकता. इसी तरह भारतीय दर्शनमें उदाहरण न भी मिल पाये परन्तु पाश्चात्य दर्शनमें Idealistic Monism बाह्य जगत्को काल्पनिक मान कर उसके अधिष्ठानभूत तत्त्वके अद्वैत होनेके सिद्धान्तकी तुलनामें, बाह्य जगत्को वास्तविक मान उसके उपादानभूत तत्त्वके

भावरूप अद्वैत होनेका सिद्धान्त Realistic Monism प्लोतिनस्, जॉन्ह स्कॉटस् एरिजेना, कूसा निकोलस्, तोमासो केम्पानेला, बारुक् स्पिनोज़ा, शीलिंग् और ए.एन्. व्हाईट्हेड् जैसे दार्शनिकोंके चिन्तनमें भी मिलता ही है. ये सभी किसी न किसी प्रकारसे शुद्धाद्वैतवादका ही समर्थन करते हैं. अतः शुद्धाद्वैतवादके प्रत्येक प्रकारमें उसका ब्रह्मवादपर अवलम्बित होना भी सिद्ध नहीं हो पाता. अतः महाप्रभु श्रीवल्लभाचार्यको जो अभिमत हो सके ऐसे शुद्धाद्वैतवाद और ब्रह्मवाद के बीच पारस्परिक सम्बन्ध निर्धारित करना आवश्यक हो जाता है.

जैसा कि हम देख चुके तदनुसार श्रुतिप्रतिपाद्य यदि ब्रह्म एकमेव अद्वितीय हो अर्थात् सजातीय विजातीय एवं स्वगत भेदोंसे विवर्जित हो तो द्वित्वप्रकारक ज्ञानका विषय वह मूलस्वरूपेण तो हो नहीं सकता. अतः जब ऐसे उस ब्रह्मके बारेमें श्रुति कहती है कि **''यह दृश्यमान् सभी कुछ पहले ब्रह्म ही था. उसने अपने-आपके बारेमें सोचा कि 'मैं तो ब्रह्म हुं' अतएव वह सभी कुछ बन गया''** (बृह.उप.१।४।१०) तो ऐसी स्थितिमें ब्रह्मके भीतर जो कार्यकारणभाव या अंशांशिभाव प्रकट हुवा, उनमें कार्य या अंश और कारण या अंशी दोनोंका ही ब्रह्मात्मक होना आवश्यक हो जाता है. अन्यथा स्वगत भेदकी आपत्ति आयेगी, ब्रह्मका कोई सजातीय या विजातीय पदार्थ न भी हो तब भी. ऐसी स्थितिमें 'अद्वैत'पदके साथ 'शुद्ध' विशेषण जोड़नेपर किस अन्यका व्यावर्तन शक्य मानना? यह प्रश्न उठता है. इस प्रश्नका समाधान खोजने जानेपर श्रुतिके अनुसार या स्वमतमें तो कोई व्यावर्तनीय मिल नहीं सकता. अतएव महाप्रभु कहते हैं :

> **''ब्रह्मवादके विचार करनेपर तो किसी भी तरहकी निरुक्ति या लक्षण (लक्ष्येतरके व्यावर्तनार्थ) प्रस्तुत नहीं किया जा सकता. क्योंकि जब सभी कुछ ब्रह्म हो तो, न**

> **तो ब्रह्मेतरतया व्यावर्तनीय कोई वस्तु हो सकती है और न ब्रह्ममें ऐसा कोई इतरव्यावर्तक असाधारण गुणधर्म ही माना या दिखलाया जा सकता है. अतः ब्रह्ममेंसे ऐच्छिक भेदभिन्न लोकके प्रकट होनेके बाद ही (ब्रह्ममीमांसौपयिक लक्षण-प्रमाणनिर्धारणके) व्यवहार सम्भव बनते हैं.''**
>
> (पत्रावलम्बन : ३).

इस विधानका मर्म भलीभांति समझना हो तो पुनः उपनिषद्में मिलते ब्रह्मके स्वरूपलक्षण और उसकी श्रुतार्थापत्ति अवलोकनीय हैं. सर्वप्रथम वहां ब्रह्मके स्वरूपलक्षणके रूपमें यह कहा गया कि देशतः कालतः और स्वरूपतः अपरिच्छिन्न सत्ता और चैतन्य होना ब्रह्मका स्वरूप है. यद्यपि मायावादमें इस सत्ता-चैतन्यकी अपरिच्छिन्नताको तार्किक नियतिसे मुक्त करनेको अविद्यारूपा मायाको सदसद्विलक्षण अनिर्वचनीय स्वरूपानादि और तज्जन्यविषयसृष्टिको सदसद्विलक्षण अनिर्वचनीय प्रवाहानादि माना गया है. यों ब्राह्मिकी सत्ता-चेतनाकी अपरिच्छिन्नतामें बाधक न हो पानेवाली अपारमार्थिकी सत्ता स्वीकार ली गयी है. अतः हम देख सकते हैं कि ब्रह्मकी स्वरूपलक्षणौपयिकी अपरिच्छिन्नताका पक्ष लेनेको ब्रह्मकी कार्यलक्षणौपयिकी अपरिच्छिन्नताके साथ अन्याय हो गया है! क्योंकि उपनिषद्में स्वरूपलक्षणके साथ ही साथ दिये कार्यलक्षणमें तो सुस्पष्ट शब्दोंमें यह और कहा गया है कि **''सत्यज्ञानानन्तस्वरूप ब्रह्मात्मामें से ही आकाशादि पञ्च महाभूतरूप सृष्टिमें पुनः ब्रह्मलक्षणाक्रान्त अन्न अन्नमय प्राणमय मनोमय विज्ञानमय तथा आनन्दमय यों कोशोपम उत्तरोत्तर अन्तर्वती आत्मरूप प्रकट हुवे हैं.''** (तैत्ति.उप.२।१-५).

अतः हम स्पष्टरूपमें देख सकते हैं कि आत्मसृष्ट आकाशादि जड़रूप और अन्नमयादि जीवरूप, दोनोंमें उपासनार्थ नहीं प्रत्युत स्वयं ब्रह्मरूप आत्माके अनितरसाचिव्यवश सर्वत्र ब्रह्मरूपता प्रतिपादित हुयी है. ऐसी स्थितिमें सदसद्विलक्षण अपारमार्थिक ही सही ब्रह्मेतर किसी

कारण पदार्थका ब्रह्मकी अपरिच्छिन्न सत्ता-चेतनाके भवनमें पिछले द्वारसे प्रवेश यदि उपनिषदोंको मान्य होता तो वहां ऐसा कभी कहा नहीं जाता कि —

"जो ब्रह्मकी अपरिच्छिन्न सत्ताचेतनाका अस्वीकार करता है, वह 'मैं नहीं हुं' कहनेवाला असद्भाषी बन जाता है... क्योंकि ऐसा कहनेवाला जब इस लोकका त्याग कर अन्यत्र जाता है तो वह जानेवाला कौन है? जब एक ब्रह्मज्ञानी लोकत्याग करता है तो वह ब्रह्मकी अन्य किसी अवस्था या स्वरूप को प्राप्त करता है या नहीं? वह ब्रह्मज्ञानी ब्रह्मस्वरूप प्राप्त करता ही है, क्योंकि ब्रह्मने ही कामना की, कि 'मैं एक अनेक बन जाऊं!'... उसीने यह सब कुछ सिरजा और अपनी सृष्टिके भीतर प्रविष्ट हुवा... प्रविष्ट हो कर वही प्रत्यक्ष और परोक्ष जगत् बना. निरुक्त और अनिरुक्त बना. साधार और निराधार बना. विज्ञान और अविज्ञान बना. सत्य और अनृत भी वही बना. इसलिये यह जो कुछ हो उसे 'सत्य' कहना चाहिये. यह दिखलायी देती सृष्टि पहले नहीं थी और बादमें बनी हों ऐसी लगती हैं (ऐसा परन्तु सचमुचमें नहीं. क्योंकि) **उसने अपने-आपको ही सृष्टिके रूपमें निष्पादित किया. अतएव यह उसका सुकृत है. सृष्टिमें जो कुछ है वह उसका सुकृत ही है. वही तो रस है. इसी रसको पा कर आनन्दी बना जा सकता है. अन्यथा इस आकाशमें ब्रह्म भरा हुवा न होता तो कौन सांस लेना चाहता और प्राणी बनना चाहता? उसीके कारण आनन्दानुभूति होती है. जो कोई इस अदृश्य,** (क्योंकि वह स्वयं सभीके भीतर आत्मरूप है, कोई उसके भीतर आत्मतया अवस्थित न होनेसे) **अनात्म्य, अनिरुक्त तथा**

निजात्मामें ही प्रतिष्ठित रहता है. ऐसे उसमें जो प्रतिष्ठित हो पाता है उसके सारे भय निवृत्त हो जाते हैं. इस अपरिच्छिन्नमें, परन्तु, जो किसी तरहकी परिच्छिन्नता प्रकट करना चाहता है उसे तो भयभीत ही होना पड़ता है."

(तैत्ति.उप.२।६-७).

यहां सुस्पष्ट शब्दोंमें अविज्ञान — यदि सत्त्वासत्त्वेन अनिरुक्त रखना हो तब भी — भी सत्यज्ञानानन्त ब्रह्म द्वारा लिया गया एक रूप माना गया है. ऐसी स्वीकृतिके आधारपर इस अविद्यारूपा मायामें भी ब्रह्मकी स्वरूपापरिच्छिन्नता प्रतिपादित हुयी माननी पड़ती है. अतएव महाप्रभु कहते हैं **"सर्वभवनसमर्थ भगवान्‌की प्रकट होनेवाली अनेकानेक शक्तिओंमें विद्या और अविद्या भी दो शक्तियां होती हैं. इनके कारण भगवदंशरूप जीव संसारसे मुक्त या संसारमें बद्ध होते रहते हैं. ये कभी, परन्तु, स्वयं परमेश्वरको प्रभावित नहीं कर पाती"** (त.दी.नि.१।३१). अतः कार्यसृष्टिको भी अब्रह्मात्मिका मानो तभी स्वगत परिच्छेद होता है अन्यथा नहीं. यह सुस्थिर हुवा.

'शुद्धाद्वैत' पदके घटक कर्मधारय और तत्पुरुष समासों द्वारा प्रकट होते द्विविध स्वारस्य :

कोशके अनुसार 'शुद्ध'पदके दो अर्थ होते हैं : १.पूत और २.केवल. अब पूत होनेके अर्थमें ब्रह्म या उसके अद्वैत पर पहले अपवित्र हो जानेके अध्यारोप रखे बिना 'शुद्ध' पद सार्थक हो नहीं पायेगा. और 'केवल' अर्थ लेनेपर तो 'शुद्धाद्वैत'पद पुनः केवलाद्वैत होनेका भाव प्रकट करेगा.

अतः अगतिकतया अध्यारोपित अपवित्रताको अज्ञान संशय अथवा भ्रान्तिवश प्रतीत होती माननी पड़ेगी. अतः ब्रह्मके स्वरूपलक्षणतया "जो शुद्ध भी हो और अद्वैत भी हो" ऐसा कर्मधारय समास सोचा

जा सकता है. इसका फलितार्थ होगा : ब्रह्मके सजातीयतया या ब्रह्मसे विजातीयतया, कल्पित या संभावित किसी भी पदार्थके कारण, ब्रह्मका अद्वैत अपवित्र नहीं होता.

अथवा 'शुद्ध'पदको केवलार्थक माननेपर पूर्वोक्त 'एकमेव' श्रुत्यंशका पर्यायवाचक 'शुद्ध'पदको मानना चाहिये. अर्थात् ब्रह्मके समान जातिवाला कोई अन्य पदार्थ हो नहीं सकता. इसी तरह 'अद्वैत' पद भी उसी 'अद्वितीय' श्रुत्यंशके पर्यायतया स्वीकारना पड़ेगा कि ब्रह्मसे विजातीय भी कोई पदार्थ हो नहीं सकता.

यों स्वरूपलक्षणार्थक कर्मधारय समासके कारण मिलते अर्थका विमर्श कर लेनेपर तत्पुरुष समासाश्रित 'शुद्धाद्वैत' पदका भाव ब्रह्मके कार्यलक्षणके सन्दर्भमें सोचा जा सकता है.

प्रश्न यहां उठता है कि क्या सजातीय-विजातीय भेदोंसे रहित ब्रह्ममें कार्य-कारणरूपों अथवा अंशांशिरूपोंका प्रादुर्भाव ब्रह्ममें स्वगत भेद प्रकट करेगा कि नहीं? कार्य-अंश आदि रूपोंमें और कारण-अंशी आदि रूपोंमें ब्रह्मेतरतया कल्पित या सम्भावित किसी भी पदार्थके द्वैतसे रहित ब्रह्मको माननेपर "स्वयं अपनेसे भिन्न नहीं ऐसे शुद्ध कार्यों या शुद्ध अंशों का ही ब्रह्म शुद्ध कारण तथा शुद्ध अंशी बनता है. अतः दोनों शुद्धोंका ही अद्वैत है" ऐसा तत्पुरुष समासके कारण द्योतित होता है. अतः स्वगत भेद भी आपादनीय नहीं रह जाता.

यहां एक शंका उभरती है कि जड़ पदार्थोंमें चिदानन्दांशके तिरोधानवश जो उत्पत्ति स्थिति विपरिणति वृद्धि अपक्षय और विनाश रूप छह भावविकार अनुभूत होते हैं, वे या तो ब्रह्ममें भी स्वीकारने पड़ेंगे अथवा उन्हें ब्रह्ममें न माननेपर ब्रह्मके सदंशरूप जड़ कार्योंके कारण ब्रह्ममें स्वगत भेदकी आपत्ति तो आयेगी ही. इसी तरह

चिदंश जीवमें आनन्दांशके तिरोधानवश देह इन्द्रिय प्राण अन्तःकरण और निजस्वरूपके अज्ञान रूपी पांच आविद्यक अध्यास प्रकट होते हैं, वे भी या तो ब्रह्ममें स्वीकारने पड़ेंगे और ब्रह्ममें न स्वीकारनेपर ब्रह्मके चिदंशमें इन आविद्यक अध्यासोंके कारण ब्रह्ममें स्वगत भेदकी आपत्ति आयेगी ही.

इन आपत्तियोंके समाधानार्थ शुद्धाद्वैतवादमें कार्यों या अंशों में सच्चिदानन्दरूप ब्रह्मकी अनेकधा अन्तर्व्याप्तिपर ध्यान दिलवाया जाता है. नामशः : सदंशोपादनतया, सर्वभवनसमर्थतया तथा सत्यसंकल्पसामर्थ्यके वश स्वान्तर्निहित स्वात्मक नाम-रूप-कर्मोंके आविर्भावकतया, चिदंशोके अंशितया, सर्वान्तर्यामितया, परस्पर सर्वविषमोंमे सर्वसमतया, सर्वरूपतया आदि रूपोंमें. अतः जिन ब्रह्मोपादानक पदार्थोंमें केवल सत्ता या चैतन्य प्रकट अनुभूत होते हैं, वहां भी अवशिष्ट चिदंश या अवशिष्ट आनन्दांश का ऐकान्तिक अभाव माननेके बजाय तिरोभाव ही माना जाता है. अतएव उपादेय कार्य तत्त्वोंमें कारणतत्त्वके तथा अंशोंमें अंशीके भी अन्तर्निहित होनेसे ब्रह्मके भीतर स्वगतभेदके अभावकी आपत्ति अविचारित लगती है, लोकप्रत्यक्षमें ब्रह्मके अन्तर्निहित होनेका तथ्य अनवभासित रहता होनेसे. 'तिरोभाव'पदका अर्थ होता है : किसी वस्तुके विद्यमान होनेपरभी या तो उसकी अर्थक्रियाकारिता प्रकट न होनी या उसकी अनुभूतिगोचरता प्रकट न होनी; या दोनों ही. अतः ऐसी स्थितिमें अज्ञानी जनोंकी प्रतीतिके वश स्वगत भेदकी उभरती आपत्ति वस्तुतः टिक नहीं पाती.

इस विवेचनाके बलपर शुद्धाद्वैतवादकी उदाहरणोपपत्ति — सुवर्णके कुण्डलात्मना परिणत होनेपर भी सुवर्णरूपता न खो देनेके कारण — लौकिक उदाहरणद्वारा दरसायी जा सकती है. ब्रह्मवादके उपपादनार्थ, परन्तु, लौकिक उदाहरण खोज पाना शक्य नहीं. मूलमें इसका कारण यही है कि ब्रह्मको उपादान या समवायी कारण भी माना गया है,

तो अविकारी भी माना गया है. कर्ता भी माना गया है और इतरकरणोंकी अपेक्षासे रहित भी.सर्वज्ञ माना गया है तो आनन्दरूपा लीलाओंमें विहारकारी भी. एतावता सिद्ध हो जाता है कि 'शुद्धाद्वैतवाद'को, महाप्रभुके मतके प्रमुख अभिधान होनेके पदपर अभिषिक्त करना हो तो, वह ब्रह्मवादका सहारा लिये बिना शक्य नहीं. 'ब्रह्मवाद' — स्वमतानुरूप परिभाषित या अपरिभाषित अर्थमें भी — पदसे अभिधेय अवधारणाको महाप्रभुके मतके प्रमुख अभिधान होनेके पदपर अभिषिक्त करना हो तो उसे 'शुद्धाद्वैत'पदकी अपेक्षा नियत नहीं लगती है.

__शुद्धाद्वैतवादके प्रमुख घटक या आधारभूत आठ वाद__ :

अतः शुद्धाद्वैतवादको महाप्रभुके मतके प्रमुख अभिधानतया सांगोपांग निहारना हो तो अधोनिर्दिष्ट वाद अनिवार्यतया आधारभूत अवधारणाओंके रूपमें मान्य करने ही पड़ते हैं :

१.ब्रह्मवाद.
२.विरुद्धधर्माश्रयतावाद.
३.अभिन्ननिमित्तोपादानकारणतावाद.
४.सत्कारणतावाद.
५.सत्कार्यवाद.
६.आविर्भावतिरोभाववाद.
७.कार्यकारणतादात्म्यवाद तथा अंशांशितादात्म्यवाद.
८.लीलार्थसृष्टिवाद.

इन आठोंके आठों वादोंके उपोद्बलक श्रुतिवचन और महाप्रभुके वचनोंमें स्वीकृत उनके निष्कर्ष दोनों ही अणुभाष्यप्रथमाध्यायके प्रथमखण्डकी भूमिकामें दिये ही हैं. सो विशेष जिज्ञासा होनेपर वहींसे देख लेना उपकारक होगा. यहां उनके परिगणनका प्रमुख हेतु यह दरसाना है कि इन आठ वादोंके अन्तर्गत प्रथम और अन्तिम वाद केवल श्रुत्येकगम्य

अवधारणायें हैं; जबकि, दूसरेसे सातवें वादोंवाली अवधारणायें लौकिक प्रतीति तथा युक्ति द्वारा गम्य भी तथा उपपन्न भी की जा सकती हैं. इन आठ वादोंको आधारभूत वाक्यतया निहारनेपर अर्थापत्तिद्वारा जो शुद्धाद्वैतवाद सिद्ध होता है, उसे ही महाप्रभुके दार्शनिक चिन्तनके प्रमुख होनेकी पदवीपर अभिषिक्त किया जा सकता है.

यह तो स्पष्ट ही है कि इन आठ वादोंमें महाप्रभुद्वारा अंगीकृत सारी कि सारी दार्शनिक अवधारणायें अन्तर्भूत हो नहीं पाती. उदाहरणतया, प्रपञ्चसंसारभेदवाद, जीवत्रैविध्यवाद, कृपालभ्यत्ववाद, श्रीकृष्णपरब्रह्मत्ववाद आदि भी वाल्लभ मतमें अनेकानेक अतिशय प्राणोपम धार्मिक या दार्शनिक अवधारणायें हैं. ब्रह्मवादके अन्तर्गत, परन्तु, ये सभी आन्तरिक वैचारिक संगतिके वश महत्त्वपूर्ण होनेपर भी स्वयं ब्रह्मवादके प्रमुख या अविनाभावी अभिप्रायमें आधारभूत या नियत निष्कर्षरूप अवधारणायें नहीं हैं.

इन आठ वादोंके अलावा शुद्धाद्वैतवादमें अभिमत पदार्थमीमांसा, जिसके अन्तर्गत : ब्रह्मकी १.स्वरूपकोटि २.कारणकोटि तथा ३.कार्यकोटि, यों तीन तरहकी कोटियां परिगणित हुयी हैं. इनमें —

(१) सच्चिदानन्दरूप ब्रह्मके धर्मधर्मिभावात्मना विभाजनवश सत्=क्रियाशक्ति, चित्=ज्ञानशक्ति, तथा उभयविधशक्तिविशिष्ट पूर्णानन्दात्मक ऐश्वर्य-वीर्य-यश-श्री-ज्ञान-वैराग्य आदि आनन्दात्मक धर्म तथा आनन्दात्मक आकारवाले स्वरूप, सृष्टिगत मूलतत्त्वप्राप्तिके विविध साधनोंके फलात्मा परब्रह्म पुरुषोत्तम स्वरूप, लीलासृष्टिके अन्तर्गत सदंशभूता जडसृष्टिके नियमनार्थ समष्टि अन्तर्यामी जो सकल गुणावतारों एवं लीलावतारों का अवतारी ब्रह्माण्डमूर्ति परमात्मा 'नारायण' कहलाता है. इस नारायणके अंशभूत चिदंशभूतजीवोंमें अन्तर्विराजमान असंख्य व्यष्टि अन्तर्यामी. उक्त

पुरुषोत्तमकी देश-काल-स्वरूपतः अपरिच्छिन्न सत्ता तथा चेतना रूपी सर्वकारणकारणभूत अक्षरब्रह्म, जो अपने भीतर सृष्ट्यर्थ काल-कर्म-स्वभावरूपा शक्तिओंको प्रस्फुटित करनेवाला स्वरूप होता है.

(२) ऐसे अक्षरब्रह्मके स्वरूपमें से ब्रह्माण्डके प्राकट्यसे पूर्व कारणकोटितया प्राथमिक विभाजन द्वारा क्रियाशक्तिविशिष्ट अर्थात् सत्त्व-रजस्-तमोगुणोंकी समष्टिरूपा प्रकृति आविर्भूत होती है. उससे चित्त और बुद्धि यों दो रूपोंमें प्रकट होता महत् तत्त्व. उससे अहंकार. अहंकारसे पांच शब्द-स्पर्श-रूप-रस-गन्ध तन्मात्रा, मन, पांच ज्ञानेन्द्रिय और पांच कर्मेन्द्रियां. अन्तमें तन्मात्राओंके घनीभाववश प्रकट होते आकाश-वायु-तेजस्-आप्-पृथ्वी. इतनी कारणकोटियां प्रकट होती है.

(३) व्यष्टि तथा समष्टि रूपी कार्यकोटि तो असंख्येय होनेसे उनका वर्गीकरण अनावश्यक माना गया है.

इनका सुविशद निरूपण सर्वनिर्णय, तृतीयस्कन्धसुबोधिनी तथा प्रस्थानरत्नाकर ग्रन्थोंमें हुवा है. अतः विशेष जिज्ञासा होनेपर वहीं इनका अवलोकन सहायक हो सकता है.

इस प्रमेयबहुल पदार्थव्यवस्थामें ब्रह्म तो शास्त्रैकगम्य शुद्धाद्वैत प्रमेय है. ब्रह्मके ऐसे स्वरूपके बारेमें सैद्धान्तिक अवबोधार्थ श्रुति स्मृति सूत्र पुराण आगम आदि अनेक शास्त्रोंकी एकवाक्यतापन्न वचनराशी ही प्रमाण मानी गयी है. उस शास्त्रैकगम्य ब्रह्मकी लीलाके रूपमें प्रकट होनेवाले अनेकानेक नाम-रूप-कर्मोंको लौकिक प्रत्यक्ष अनुमान आदि प्रमाणोंसे गम्य माना जाता होनेपर भी उनका ब्राह्मिक मूलस्वरूप तो शास्त्रैकगम्य ही माना गया है.

यों ब्रह्मवादाश्रित शुद्धाद्वैतवेदान्तके इस मौलिक रूपको निरख लेनेके बाद अब वादावलीके इस चतुर्थ खण्डमें प्रकाश्यमान ग्रन्थोंके

सारके अवलोकनार्थ अग्रसर होना अवसरोपात्त होगा.

१. श्रीहरिरायमहानुभावविरचित पद्यात्मक ब्रह्मवाद :

विषय : सभी उपनिषदोंमें ब्रह्म और प्रपञ्च का अभेद प्रतिपादित हुवा है. उस अभेदका स्वरूप ही यहां प्रतिपाद्य विषय है.

संशय-पूर्वपक्ष : इसमें संशय यह होता है कि हमारी इन्द्रियोंसे गोचर होनेवाला प्रपञ्च यदि ब्रह्मरूप हो तो, ब्रह्मके अगोचर होनेके कारण यह प्रपञ्च भी अगोचर क्यों नहीं रहता? पूर्वपक्षतया इसे ब्रह्मसे भिन्न भी मान लेने उद्यत हो जायें तबभी ब्रह्माद्वैतके ज्ञानीको यह दिखलायी देता बन्द होना चाहिये था. अतः ब्रह्मज्ञानियोंके उदाहरणोंका विमर्श करनेपर उन्हें प्रपञ्च दिखलायी देता होनेके प्रमाणोंके आधारपर प्रपञ्चको ब्रह्मसे भिन्न भी माना नहीं जा सकता. अतः ब्रह्मके साथ न तो अभेद और न भेद ही स्वीकार्य लगता है.

सिद्धान्त : उपनिषदोंमें ब्रह्म और प्रपञ्च का अभेद ही प्रतिपादित मिलता होनेसे, प्रपञ्च, वस्तुतः, जैसा है वैसा हमें दिखलायी नहीं देता. हमारे ज्ञानके उपकरणों या साधनों के अज्ञानसे आवृत होनेके कारण, उस आवरणके रंगमें रंगा दिखलायी देता होनेसे, हमारी अनुभूति प्रमाण नहीं मानी जा सकती. ब्रह्मज्ञान होते ही प्रपञ्चकी ब्रह्मरूपताको आवृत करनेवाला अज्ञान दूर हो जाता होनेसे उसका ब्रह्मात्मक स्वरूप भी अनुभूतिगोचर बनता है. अतः ब्रह्मबोध न होनेपर सत्य भी असत्यतया प्रतीत होता है और ब्रह्मबोध होनेपर असत्य भी सत्यतया अनुभूतिगोचर बनता होनेसे सभी कुछ ब्रह्मरूप हो जाता है. इस तरहका शुद्धब्रह्मवाद हृदयारूढ होनेपर मतमतान्तरोंमें कोई भी महाप्रभुका अनुयायी भ्रमित नहीं हो पाता.

२. श्रीहरिरायमहानुभावविरचित गद्यात्मक ब्रह्मवाद :

विषय : पुष्टिभक्तिमार्गमें माहात्म्यज्ञानपूर्वक सुदृढ सर्वतो अधिक स्नेहको

भक्तिरूप माना जाता है. अतः ऐसी इस भक्तिमें ब्रह्मके माहात्म्यका निरूपण करनेवाले ब्रह्मवादका स्वरूप क्या-कैसा है? अनेक श्रुतियोंमें एकमेव अद्वितीय ब्रह्मके प्रपञ्चरूपेण आविर्भूत होनेके प्रतिपादनवश मूलतः तो ब्रह्म अद्वयरूप ही होता है. फिरभी अपनी क्रीड़ाके अधिष्ठानतया उसने स्वयं अपने भीतरसे प्रपञ्च प्रकट किया. सो ऐसा माहात्म्य उसका जाननेपर प्रपञ्च भगवान्ने स्वभजनार्थ ही प्रकट किया है, ऐसे ज्ञानवाले पुष्टिजीवको अपने जीवनके प्रयोजनतया भजन समझमें आ पाता है.

संशय-पूर्वपक्ष : संशय यहां यह उभरता है कि एकमेव अद्वितीय ब्रह्मके भीतर कारण-कार्य और भजनीय-भक्त यों दो-दो रूपोंका अंगीकार करनेपर क्या द्वैतापत्ति नहीं आयेगी? पूर्वपक्षतया यहां यह कहा जा रहा है कि आयेगी ही क्योंकि : [१]यदि ब्रह्म एकाकी हो तो नानारूप वास्तविक नहीं हो सकते. [२]प्रपञ्चको भगवद्रूप माननेपर मोक्षसाधनके उपदेशोंमें प्रापञ्चिक विषयोंके हेय होनेका उल्लेख संगत नहीं हो पाता. [३]स्वयं भगवद्रूप यदि प्रपञ्च हो तो भगवान्के बजाय प्रपञ्चके भजनमें भी आपत्ति नहीं होनी चाहिये. [४]शुद्धब्रह्मवादके अनुसार जीव स्वयं भी भगवद्रूप होनेसे उसे अपनेसे अतिरिक्त भगवद्रूपका भजन आवश्यक नहीं होना चाहिये. [५]पुष्टिभक्तिमें भगवद्भजन पुष्टिजीवरूप ब्रह्मांशके प्रकट होनेका प्रयोजन ही हो तो ऐसी भजनैकपर्यवसायिनी साधनामें कुछ भी दोषरूप हेय या त्याज्य नहीं होना चाहिये. ऐसी स्थितिमें साधनाचरणके नामपर करने-धरनेको कुछ भी अवशिष्ट नहीं रह जाता. [६]दोषनिवृत्तिरूप किसी भी प्रकारके साधनोंकी उपयोगिता या आवश्यकता पर भार देनेपर इस प्रकारकी भक्तिको भगवत्कृपासे मिलती 'पुष्टिभक्ति' कहना असंगत हो जायेगा. [७]जीवको तो अभगवदात्मक अंश माननेपर द्वैतापत्ति और भगवदात्मक अंश माननेपर भजनकी निरर्थकता भी गलेपतित होती है. [८]स्वभजनरूपा भगवत्क्रीड़ाकी भगवदिच्छाके वश पुष्टिजीवकी दैवी सृष्टि स्वीकारनेपर पुष्टिभक्तिकी करणरूपता निरस्त हो जायेगी.

[९]जीवोंको भगवान्का अंश माननेपर जीवोंमें दैवी और आसुरी विभाग भी अनुपपन्न हो जाता है. [१०]यदि भगवान् स्वयं पुरुषोत्तमरूपमें बन्धन या मुक्ति प्रदानकी लीला करते हों और अक्षररूपेण कार्य-कारण रूपोंको प्रकट करनेकी लीला भी करते हों तो उनमें प्रकृति या प्राकृत विषयोंमें ही फंसे रहनेवाले आसुरी जीव होते हैं और प्रकृतिके बन्धनसे मुक्त होना चाहनेवाले दैवी जीव होते है, ऐसा विभाग अनुपपन्न हो जायेगा. प्रकृति भी भगवान् द्वारा धारण किये गये अनेक रूपोंमेंसे एक रूप होनेके कारण ऐसा विभाजन उपपन्न नहीं हो पाता. [११]आसुरी जीवोंका लय भगवान्में न मान कर प्रकृतिमें ही मानो तब भी प्रकृति भी तो अन्तमें प्रलयकालमें भगवान्में लीन होती होनेसे आसुरी जीवोंका भी लय भगवान्में भी स्वीकारना ही पड़ेगा.

सिद्धान्त : [१]ब्रह्मके बारेमें श्रुतिमें यह कहा गया है कि सच्चिदानन्दरूपतया एकरूप ब्रह्मके भीतर कुछ भी नाना रह नहीं पाता. नानात्व तो ब्रह्मको न जाननेवालोंके अज्ञानवश वहां प्रतीत होता है. [२]हेयोपादेयके भेद लीलार्थ प्रकट हुवे होनेसे लीलामें यथाधिकार किसी अधिकारीके लिये कुछ हेय होनेपर भी प्रपञ्चकी भगवद्रूपताका बाध नहीं होता. [३]ज्ञानमार्गीय साधनाओंके अन्तर्गत उपासनायें जो उपदिष्ट हुयी हैं, उनमें कुछ उपादेय तो अन्य कुछ हेय माना गया है. ब्रह्मज्ञान प्राप्त हो जानेपर किसी भी विषयके बारेमें उसके हेय होनेकी बुद्धि टिक नहीं पाती. [४]जीवात्माओंकी भगवद्रूपता अंशरूपेण ही है, अंशिरूपेण नहीं. भजन अंशीका कहा जाता होनेसे भगवद्भजन अनावश्यक नहीं सिद्ध हो पाता. [५]भगवल्लीलाके अन्तर्गत पुरुषोत्तमसे अपने-आपको वियुक्त जाननेवालोंको पुरुषोत्तमभजनमें अनुपयोगी पदार्थोंमें हेय या त्याज्य बुद्धि होगी ही. [६]मूलमें तो भजन भावरूप होनेपर ही फलात्मक माना जाता है. उस भावकी अनुभूतिके हेतु किया जाता भजन साधनरूप भी हो ही सकता है, जहां साधनोंकी उपयोगिता रह सकती है.

यह सब कुछ भगवत्कृपाके अनुसार ही सिद्ध होता होनेसे कृपारूप भी माना जाता है. [७]जीव भगवान्का भगवदात्मक अंश है. फिरभी भगवद्भजनार्थ भगवान्को अभीष्ट हो तो उसे पुष्टिजीव माना जाता है अन्यथा नहीं. [८]भगवान्को निजभजनार्थ अभीष्ट जीव होना पुष्टिभक्तका स्वरूप होता है और पुष्टिभक्त द्वारा किया जाता भजन साधनरूप भी होता ही है. [९]भगवान्ने निजलीलाके अन्तर्गत किन्हीं दैवी जीवोंको पुष्टिजीव या मर्यादाजीव, तो अन्य किन्हीं जीवोंको आसुरी भी बनाया है. अतः लीलार्थ विभागमें कोई अनुपपत्ति नहीं. [१०]आसुरी जीवोंमें प्राकृत विषयोंका आकर्षण प्रबल रखा गया है. उन्हें भगवान् अपने पुरुषोत्तमरूपद्वारा आकृष्ट करनेके बजाय अपने प्रकृतिरूपद्वारा आकृष्ट रखते हैं. अतः आसुरी जीवोंका वहीं परायण होना वैसी भगवदिच्छाके कारण होता है. [११]बन्ध-मोक्षप्रदानकी लीला पुरुषोत्तमरूपेण ब्रह्म करता है और सृष्टि-प्रलयकी लीला अक्षरब्रह्मरूपेण. उभयविध लीलाओंके चक्रवत् सर्वदा चलते रहनेसे उभयविध जीवोंका होना कोई आपत्तिजनक बात नहीं मानी जाती. अतः आसुरी जीवोंका प्रकृतिमें आवेष्टित रहते हुवे ब्रह्ममें लीन होना ब्रह्मके अद्वैतभावको हानि नहीं पहुंचाता.

३.श्रीकल्याणरायात्मज-श्रीगोपेश्वरविरचिता वादकथा :

विषय : सर्वोत्तमस्तोत्रके मंगलाचरणमें **निगमप्रतिपाद्य शुद्ध साकार ब्रह्ममें प्रकृतिसे प्रादुर्भूत होनेवाले कोई प्राकृत गुणधर्म न होनेपर भी ब्रह्म अपने अप्राकृत गुणधर्मोरूप होता** हैऐसा प्रतिपादन किया गया है. इसे यहां विचार्यविषयतया प्रस्तुत किया गया है.

संशय-पूर्वपक्ष : ब्रह्मका ऐसे तरहका निरूपण उपपन्न है या नहीं? ऐसे संशयके उभरनेपर पूर्वपक्षतया यह आपत्ति उठायी जाती है कि ब्रह्म तो स्वयं अप्राकृत होनेसे प्राकृत गुणधर्म उसमें अविद्यावश ही हो सकते हैं. इसी तरह अप्राकृत गुणधर्मरूप ब्रह्मको मानना हो तो उन्हें ब्रह्मसे भिन्न मानने या अभिन्न? भिन्न माननेपर उस

भेदको गुणधर्मस्वरूप मानना, अन्योन्याभावरूप मानना, वैधर्म्यरूप मानना अथवा अन्य कुछ? निगमोंमें अनाविद्यक शुद्ध ब्रह्मको आकाररहित मान कर आविद्यक या उपासनार्थ कल्पित ब्रह्मको साकार या सर्वाकार माना गया है.

सिद्धान्त : सदसद्विलक्षणरूपा प्रपञ्चपरिणामकी उपादानभूता अविद्या तो ब्रह्मकी शक्तिरूपा न हो कारणत्वके अध्यारोपणार्थ उपाधि होती है. ऐसी तो अविद्या मान्य न होनेपर भी ब्रह्म स्वयं जड़जीवात्मक प्रपञ्चके अभिन्ननिमित्तोपादानकारणतया मान्य है, अतः प्रकृति स्वयं ब्रह्मात्मिका मानी जाती है. ब्रह्म, अपनी अंशिरूपा समग्रतामें, प्राकृत गुणधर्मोंका आश्रय साक्षात् नहीं होता परन्तु प्रकृत्युपादानतया अंशात्मना ही. ब्रह्मके तो अन्य भी ऐसे अनेक रूप होते हैं जहां प्रकृतिजन्य गुणधर्मोंके आश्रयतया उसे माना नहीं जा सकता. अतः निगमप्रतिपाद्य शुद्ध ब्रह्म ही विरुद्धधर्माश्रय होनेके कारण निराकार पुरुषोत्तमाकार सर्वाकार तथा भक्तादिजन-भाविताकार भी होता है.

४.श्रीगिरिधरविरचितो विग्रहवादः :

विषय : प्रस्तुत वादमें यागादि कर्मोंमें सम्प्रदानीभूत देवता मन्त्रात्मक होते हैं या विग्रहवान् होते हैं, इस विषयपर विचार किया गया है.

संशय-पूर्वपक्ष : संशय यहां इस तरह उभरता है कि देवताओंको विग्रहवान् माननेपर मध्यम परिमाणवाले मानने पड़ेंगे. ऐसी स्थितिमें एक कालमें अनुष्ठित दो समानकर्मोंके अन्तर्गत समान देवता आहूत होनेपर आहूतिग्रहणार्थ कैसे समर्थ हो पायेंगे? अतएव पूर्वपक्षतया देवताओंका स्वरूप मन्त्रात्मक ही मानना उचित है. यदि सच्चिदानन्दरूप ब्रह्मके चिदंशतया विग्रहवत्ता माननी हो तो प्रतिबिम्बवाद अथवा आभासवाद के अनुसार मायामें ब्रह्मके किसी विशेष प्रकारके चित्प्रतिबिम्ब या चिदाभास को विग्रहवान् देवता मान लेना उचित होगा, ब्रह्मकी अद्वितीयताके

अनुरोधवश.

सिद्धान्त : ब्रह्मके सच्चिदानन्दरूपतया अद्वितीय होनेपर भी अपने बहुभवनके अप्रतिहत संकल्प तथा सामर्थ्य के वश वह अनेकविध विग्रहवान् देवताओंके रूप भी धारण करता है. अतः सभी यज्ञयागादि कर्मोंमें दी जाती आहूतिका भोक्ता स्वयं ब्रह्म ही होता है.

५.श्रीगिरिधरविरचितः प्रपञ्चवादः :

विषय : प्रस्तुत वादमें प्रपञ्चके ब्रह्मात्मक होनेसे जो प्रत्यक्षविरुद्ध नित्यता स्वीकारनी पड़ती है उसे कैसे उपपन्न करना यह प्रतिपादित किया गया है.

संशय-पूर्वपक्ष : संशय यहां इस तरहका उभरता है कि ब्रह्मको यदि उपनिषद्में 'एकमेवाद्वितीय' माना गया हो तो उस ब्रह्मसे अतिरिक्त कुछ भी या तो होना ही नहीं चाहिये अथवा तो अज्ञान या भ्रान्ति के वश कल्पित होना चाहिये. अतएव पूर्वपक्षतया इस बातपर विशेष भार दिया गया है कि प्रपञ्चका त्रैकालिक अभाव होता है. ऐसे अभाववाले प्रपञ्चका आभास अविद्यावश होता है. अतः अविकारी ब्रह्मके अधिष्ठानपर विकारशील प्रपञ्चको प्रमारूप न मान कर भ्रमरूप स्वीकारना ही उचित है.

सिद्धान्त : सिद्धान्तीका कहना है कि उपनिषदोंमें नाम-रूप-कर्मात्मक प्रपञ्चका ब्रह्ममेंसे ही आविर्भाव अनेकत्र निरूपित होनेसे उसे ब्रह्मात्मक ही मानना उचित है. अतः दृश्यमान प्रपञ्चके प्रागभाव प्रध्वंसाभाव और अन्योन्याभाव ही जब सिद्ध नहीं होते तो अत्यन्ताभावकी कथा तो दूरापास्त ही है. अविद्यामेंसे प्रपञ्चका प्राकट्य श्रुतिमें नहीं माना गया है. ब्रह्मके आनन्दमें से उत्पन्न हो कर, आनन्दमें स्थित रहता और आनन्दमें लीन होनेवाला है, ऐसा निरूपित हुवा है. अतः अविकारी

ब्रह्ममें विकारी प्रपञ्चकी प्रतीति भ्रान्तिरूपा नहीं लीलारूपा ही माननी चाहिये.

६.श्रीरघुनाथात्मजश्रीव्रजनाथविरचितो ब्रह्मवादः :

विषय : वादकथाकी तरह ही इस वादमें भी सर्वोत्तमस्तोत्रके मंगलाचरणकी पदावलीके आधारपर ब्रह्म प्राकृत विशेषोंसे शून्य तथा अप्राकृत विशेषवद् है, ऐसा उपनिषदोंके आधारपर प्रतिपादन किया है (विषयविवेचनमें पार्थक्यके बावजूद संशय पूर्वपक्ष सिद्धान्त लगभग उसी तरहके होनेके कारण पुनरावृत्ति नहीं की जाती है).

७.श्रीविट्ठलरायात्मजश्रीवल्लभकृतः प्रपञ्चसंसारभेदवादः :

विषय : प्रस्तुत वादमें इस विषयकी चर्चा की गयी है कि परस्पर पर्यायवाचकतया प्रयुक्त 'प्रपञ्च' और 'संसार' एक ही अर्थके वाचक हैं या विभिन्न अर्थोंके.

संशय-पूर्वपक्ष : ऐसा संशय उभरनेपर पूर्वपक्षतया यह कहा जाता है कि प्रपञ्चको सत्य और संसारको असत्य मान कर दोनोंके बीच प्रभेद करना उचित नहीं. अतः प्रपञ्चकी तरह संसारका भी आविर्भाव-तिरोभाव ही स्वीकार लेना चाहिये.

सिद्धान्त : संसार ब्रह्मके सदंश या चिदंश रूप को उपादान बना कर प्रकट नहीं होता प्रत्युत इन अधिष्ठानोंपर भासित होता है, अतः भगवच्छक्तिरूपा अविद्या द्वारा बुद्धिमें प्रकट किया गया व्यामोह है. वह तो सत्य विषयके आच्छादनके बाद आच्छादित अधिष्ठानसे अन्य विषयकी असत्यविषयताके रूपमें घटित है. अतः चिदंशोंमें अहन्ता-ममतारूपा मिथ्याविषयताकी प्रतीति होने लगती है. इसी तरह सदंशोंमें उत्पत्ति-नाशरूपा अब्राह्मिकताकी प्रतीति उत्पन्न होती है. आविर्भाव-तिरोभाव तो जहां सच्चिदानन्द ब्रह्मके सदंश चिदंश या आनन्दांश मेंसे किसीमें नामान्तरण रूपान्तरण या कर्मान्तरण की वास्तविक अनुभूति होती हो वहीं स्वीकारे गये हैं.

८.श्रीगोकुलनाथात्मजविट्ठलरायविरचितं ब्रह्म - जीव - तदैक्य -स्वरूप-निरूपणम् :

विषय : प्रस्तुत कारिकात्मक ग्रन्थ तीन विषयोंके प्रतिपादनार्थ है : १.ब्रह्मस्वरूप २.जीवस्वरूप ३.ब्रह्मजीवैक्यस्वरूप. इस लघुकाय ग्रन्थमें विषय संशय पूर्वोत्तरपक्षोंकी शैलीका प्रकटरूपेण निर्वाह नहीं किया गया है. अतः उन अंगोंका सारानुवाद देना भी आवश्यक नहीं लगता.

९.गोस्वामिश्रीपुरुषोत्तमान्तेवासिश्रीतुलजारामकृतं विरुद्धधर्माश्रयत्वविवेचनम् :

विषय : प्रस्तुत वादमें ब्रह्मके विरुद्धधर्माश्रयताकी श्रुतिवचनोंके आधारपर उपपत्ति तथा तद्विषयक शंका-समाधान किये गये हैं.

संशय-पूर्वपक्ष : ब्रह्मकी विरुद्धधर्माश्रयताके बारेमें यह संशय होता है कि लौकिक धर्मोंसे रहित और अलौकिकधर्मरूप जब ब्रह्मको मान लिया गया है, तो विरोधी गुणधर्मोंसे रहित भी उसे मान लेनेके बराबर है, अतः विरुद्धधर्माश्रयताका प्रसंग ही कैसे सोचा जा सकता है? यहां पूर्वपक्षतया यह कहा जा रहा है कि ब्रह्मको निर्विशेष मान लेनेसे काम चल जाता हो तो उसे निरर्थक विरुद्धधर्माश्रय माननेकी क्लिष्टकल्पना क्यों करनी चाहिये? अतः निर्विशेषवाद ही उपपन्न लगता है.

सिद्धान्त : यह कहा गया कि ब्रह्मकी निर्विशेषता तो तब सिद्ध हो पायेगी जब धर्मसामान्यका वहां निषेध हो. श्रुतिओंमें लौकिक गुणधर्मोके निषेधपूर्वक अनेकानेक जगत्कर्तृत्वादि अन्तर्यामित्व फलदातृत्व आदि अलौकिक गुणधर्म भी तो उपदिष्ट हुवे ही हैं. विरुद्धधर्मोका आश्रय जब ब्रह्मको कहा जाता है तब उन गुणधर्मोका ब्रह्ममें तो वस्तुतः विरोध न होनेपर भी ब्रह्मेतर पदार्थोमें ऐसे गुणधर्मोकी परस्पर विरोधिता दिखलायी देती है. अतः इसी अर्थमें ब्रह्मगुणोंको परस्पर

विरोधी माना गया है. उपनिषदोंके अनुसार तो केवल ब्रह्म ही नहीं अपितु ब्रह्मके साक्षात्कारसे सम्पन्न अधिकारीमें भी विरुद्धधर्माश्रयता प्रकट होने लगती है. इसके अतिरिक्त सभी पदार्थोमें सर्वरूप ब्रह्मको माननेपर मूलस्वरूप आवेशावतार अंशावतार विभूतिरूप आदि भगवद्रूपोंका प्रभेद भी विरुद्धधर्माश्रयताके विविध प्रकारोंमें परिगणित किया जाना चाहिये.

१०.श्रीगोकुलोत्सवात्मजश्रीगोपेश्वरविरचितः आत्मवादः :

विषय : प्रस्तुत वादमें ब्रह्म प्रत्यक्षादि प्रमाणोंसे अगम्य तथा स्वतःप्रमाणरूपा श्रुतिरूप प्रमाणसे ही गम्य है, इस विषयका प्रतिपादन किया गया है.

संशय-पूर्वपक्ष : इस विषयमें संशयकी कोटि यों है : जगत्कारणतया परिभाषित ब्रह्मको जगद्रूपी कार्यके कर्ता होनेके अनुमानोंके आधारपर भी स्वीकारनेमें क्या आपत्ति है? पूर्वपक्षतया अनेक अनुमान प्रस्तुत किये गये हैं. यथा क्षिति-अंकुर आदि किसी कर्तासे उत्पन्न होने चाहिये, कार्य होनेके कारण घड़ेकी तरह. सर्गके आदिकालमें दो अणुओंके जुड़नेकी क्रिया किसी न किसीके प्रयत्नके कारण हुई होनी चाहिये, जैसे हमारे शरीरमें उत्पन्न होती क्रिया हमारे वैसे प्रयत्नके कारण उत्पन्न होती हैं. ब्रह्माण्डमें गुरुभूत पिण्ड पड़नेके बजाय टिके रहते हैं, वह किसीके रोके रखनेके प्रयत्नवश ही शक्य हो सकता है, जैसे पक्षिगण अपने-आपको आकाशमें अपने प्रयत्नद्वारा गिरने नहीं देते. ब्रह्माण्ड आदिका विनाश भी किसीके प्रयत्नके वश होता होना चाहिये, जैसे फाड़े जानेपर कपड़ा फट जाता है वैसे. इत्यादि अनेक अनुमानके प्रकार प्रस्तुत किये गये है.

सिद्धान्त : सिद्धान्तरूपेण यह कहा गया है कि लौकिक कार्योके कर्ताके नियमके उदाहरणके बलपर ब्रह्मका कर्तृत्व स्वीकारनेपर, उसे

शरीरवान् भी माननेपर ही सम्भव होगा, क्योंकि लोकमें शरीररहित कोई कर्ता होता नहीं. साथ ही साथ तर्कानुमित ईश्वरको शरीरवान् माननेपर शरीर-शरीरीके भेद या अभेद रूपी सम्बन्धोंका भी विचार प्रसक्त होगा. सांख्यमतके अनुसार यह आपत्ति भी दिखलायी गयी है कि लौकिक घटादि कार्योंके कर्ताकी तरह ईश्वरके कर्ता होनेका अनुमान करनेपर, लौकिक कर्ताकी तरह ईश्वरमें भी राग आदि गुण मानने पड़ेंगे. क्षिति आदिको सावयव होनेके कारण कार्यरूप मानना भी संदेहसे परे नहीं. क्षिति आदिके, क्योंकि, उपादानकारण अवगत नहीं हो पाते. बड़े-बड़े विशाल निर्माणोंमें अनेक कर्ताओंकी अपेक्षा रहती ही है, ऐसे ही ईश्वरके बारेमें सोचे जानेपर तो ईश्वर भी अनेक स्वीकारने पड़ेंगे. अतः श्रुत्येकगम्य प्रमेय ब्रह्मके बारेमें अनुमान आदि प्रमाणोंका उपयोग शक्य नहीं.

* वादावलीपरिशिष्टानि *

१.श्रीगोकुलनाथात्मजश्रीदीक्षितविरचितं प्रश्नोत्तरसाहस्रीपर्यालोचनम् :

विषय : केवलाद्वैतवाद वेदान्तके विचारणामें स्वयं निरत तथा एतदर्थ अन्योंको भी निरन्तर प्रेरित करते रहनेवाले परमादरणीय श्रीअनन्तकृष्ण शास्त्रीजी, गोस्वामी श्रीदीक्षितजी (प्रस्तुत सम्पादकके पितृचरण) के शांकरवेदान्तके विद्यागुरु थे और जब भी वैष्णवमतकी आलोचना करनेको कोई ग्रन्थ लिखते तो प्रकाशनार्थ आर्थिक सहयोग तथा प्रत्युत्तर लिख कर दिखानेका स्नेहानुरोध भी करते! अतः विद्यागुरुकी आज्ञाके वश शिष्यद्वारा लिखा गया यह आलोचनात्मक ग्रन्थ है. परमादरणीय शास्त्रीजीने वैसे तो शांकर भाष्यपर हजार प्रश्न उद्भावित कर उनके हजार प्रत्युत्तर भी दिये हैं. प्रस्तुत लेखनमें, परन्तु, दोनों गुरुशिष्योंके बीच जो मौखिक चर्चा हुयी, उसमेंसे जितनी बादमें कभी पितृचरणने लेखबद्ध की, उतनी ही यहां प्रकाशित हो रही है.

यहां ग्रन्थारम्भमें मायावाद प्रच्छन्नबौद्ध सिद्धान्त है कि नहीं

उस बारेमें श्रीशास्त्रीके १०००वें प्रश्नोत्तरका पर्यालोचन है. द्वितीय २९वें प्रश्नो.पर्या.में निर्धर्मक चैतन्यके बारेमें अध्यासभाष्यगत "अन्योन्यधर्मान् च" पदावलीके औचित्यकी चर्चा की गयी है. तृतीय १४८ वें प्रश्नो.पर्या.में इस विषयको छेड़ा गया है कि ब्रह्मके बारेमें उपनिषद्के अलावा अन्य भी प्रमाणोंका प्रसर माननेपर उसे 'औपनिषद' मानना उचित होगा या अनुचित. चतुर्थ २००वें प्रश्नो.पर्या.में यह चर्चा हुयी है कि सांख्यमतीय प्रकृतिकी उपादानताका प्रत्याख्यान करनेके बाद केवलाद्वैतवादमें पुनः मायाको उपादानतया प्रस्तुत करना कहां तक उचित या अनुचित है. पंचम २६६ वें प्रश्नो.पर्या.में जिस श्रुतिमें जगत्कारणमें संनिष्ठको मुक्तिलाभका अधिकारी होना कहा गया वहां जगत्को मायोपादानक माननेवालोंके मतमें उस श्रुतिकी कैसे संगति बैठ पायेगी? षष्ठ २९० वें प्रश्नो.पर्या.में कारणविज्ञानसे सभी कार्यभूतोंका विज्ञान प्रतिपादन करनेवाली श्रुतिकी शांकर वेदान्तमें संगति-विसंगतिकी चर्चा की गयी है. सप्तम ५४८ वें प्रश्नो.पर्या.में ब्रह्मके अन्तर्यामिस्वरूपको सगुण माननेपर उसके ज्ञानसे सर्वज्ञान मान्य हो पायेगा कि नहीं इस विषयकी चर्चा हुयी है. अष्टम ५४९ वें प्रश्नो.पर्या.में ब्रह्मको निर्विशेष माननेपर "अन्तर्यामी अधिदैवादिषु तद्धर्मव्यपदेशात्" (ब्र.सू.१।२।१८) ब्रह्मसूत्रकी केवलाद्वैतवादमें संगति-विसंगति विचारी गयी हैं. नवम ५८५-६ संख्याक प्रश्नो.पर्या.में 'भूमा'पुरुषकी अवधारणा केवलाद्वैतमें कहां तक संगत या विसंगत है यह विचारा गया है. दशम ७७६ वें प्रश्नो.पर्या.में "प्रकृतिश्च प्रतिज्ञादृष्टान्तानुपरोधात्" (ब्र.सू.१।४।२३) ब्रह्मसूत्रके शांकरभाष्यीय उपपादनकी युक्तता/अयुक्तताके बारेमें चर्चा हुयी है. ग्यारहवें ७७७ वें प्रश्नो.पर्या.में अविद्याको ही केवल कारणतया मान्य रखनेवाले कल्पमें ब्रह्मकी उपादानताकी संगति-असंगतिके बारेमें चर्चा हुयी है. बारहवें ७७९ वें प्रश्नो.पर्या.में ब्रह्मको विवर्तरूप प्रपञ्चके उपादानतया स्वीकारनेसे पूर्व स्वयं विवर्तोपादानता उपपत्त्यर्ह अवधारणा है कि नहीं इस सन्दर्भमें चर्चा की गयी है. अन्तमें तेरहवें ९१६ वे प्रश्नो.पर्या.में निर्विशेष ब्रह्मकी जिज्ञासाद्वारा आरब्ध मीमांसाका "सर्वधर्मोपपत्तेः च" (ब्र.सू.२।१।३७)

सूत्रतया उपसंहार केवलाद्वैतमें कितना युक्तियुक्त या अयुक्त है इस बारेमें विचार किया गया है.

२.श्रीदीक्षितात्मजश्याममनोहरविरचितं प्रश्नोत्तरसाहस्रीचर्चितं प्रकृत्यधिकरणसमालोचनम् :

विषय : प्रश्नोत्तरसाहस्रीकार परमादरणीय श्रीअनन्तकृष्ण शास्त्रीजी, मेरे किशोरावस्थाकी बात है, एक दिन सहसा पितृचरणसे मिलने हमारे घर आये. पितृचरण तब कहीं घरसे बाहर गये हुवे थे. सो मुझे श्रीशास्त्रीके पास बैठना पड़ा. पढ़ाईके नामपर पितृचरणके प्रवचनोंमें बैठ कर जो कुछ सुना था सो सुना था, उसके अलावा वेदान्तके किसी ग्रन्थको व्यवस्थित रूपमें पढ़ पानेका कोई कार्यक्रम बन नहीं पाया था. अपने भीति और संकोच को तोड़ने भरके हेतुसे मैं शास्त्रीजीसे पूछ बैठा "आपने रामानुज-माध्व मतोंकी आलोचना करनेको जैसे ग्रन्थ लिखे हैं वैसे वाल्लभ मतकी आलोचनाके रूपमें कोई ग्रन्थ क्यों नहीं लिखा?" और शास्त्रजीने मुझे आज्ञा दी कि वाल्लभ वेदान्तके बारेमें मैंने जो कुछ सीखा-पढ़ा हो, बोल कर सुनाऊं तो वे अभी ही आलोचना सुनाना पसन्द करेंगे. मैं तो सकपका गया और इस बातको सुन कर मेरी बुद्धि तो घास चरने ही कहीं चली गयी! फिरभी डरते-डरते न जाने क्या उनसे पूछा बैठा जो अब बराबर याद नहीं आता! और न जाने क्या उसकी समालोचना समादरणीय शास्त्रीजीने आधे पौने घंटे तक धाराप्रवाह मुझे सुनायी. वह तो न तब बराबर समझ पाया और न अब याद ही रह गया! हां इतना अवश्य याद है पितृचरणके घर लौट आनेपर शास्त्रीजीने मेरेपर खुश हो कर पितृचरणको कहा *"तुम्हारे पुत्रको मेरे पास पढ़ने भेजो. मैं इसे तुम्हारे जैसा बनाऊंगा. शास्त्रचर्चा कैसे करनी सिखाऊंगा!"* ये मेरे बड़े दुर्भाग्य रहे कि मैं उनके पास अध्ययनार्थ जा नहीं पाया!

फिरभी उनकी शास्त्रचर्चाकी आज्ञा किशोरावस्थामें अध्ययनाभाववश

पालन हो नहीं पायी. उसके अनुपालनार्थ सन् अस्सीके दशकमें कभी पितृचरणके 'प्रश्नोत्तरसाहस्रीपर्यालोचन' की तरह मुझे भी कुछ लिख देनेकी प्रेरणा हुयी. वैसे तीनेक अधिकरणोंकी आलोचना उस समय लिखी थी. वे रफ् नोट्स् न जाने कहां खो गयी! फेअर् की हुई इतनी ही बची रही सो प्रकाशित कर रहा हुं. उन परमगुरुके प्रति अपनी कृतज्ञतापूर्ण श्रद्धांजलिके रूपमें. यही तो उनका मुझे सहृदय आदेश था!

इस लेखनमें मैंने शुद्धाद्वैत ब्रह्मवादके प्राणोपम सिद्धान्त ब्रह्मके अभिन्ननिमित्तोपादानकारणतावादमें बाधक बनते परमादरणीय श्रीशास्त्रीजीके प्रश्नोत्तरसाहस्रीगत प्रमुख समाधानोंका शुद्धाद्वैतवादकी दृष्टिसे समालोचन किया है. शेष स्वयं ग्रन्थमें ही अवलोकनीय जानना चाहिये.

३.श्रीदीक्षितात्मजश्याममनोहरविरचितः केवलाद्वैतवादाभिमताविद्यास्वरूपविमर्शः :

विषय : यह लेख मेरे विद्यागुरु श्रीधर्मदेव जेटलीजीके पास जब मैं सन् साठके दशकके पूर्वार्धमें 'सिद्धान्तबिन्दु', 'सिद्धान्तलेशसंग्रह', 'विवरणप्रमेयसंग्रह', 'खण्डनखण्डखाद्य' और 'चित्सुखी' पढ़ने जाता था तब लिखा था. जेटलीजी मुझे पुत्राधिकवात्सल्यवश नव्यन्याय पढ़ाना ही अधिक चाहते थे परन्तु मेरी अल्पसामर्थ्य और अल्परुचि के वश मैं तदर्थ उद्यत हो नहीं पाया. अतएव श्रीधर्मदेवजी मुझे उनका अल्पबुद्धिवाला शिष्य समझते थे! सो अध्यापनकालमें मेरे मनमें उभरते संशयको उनके सामने प्रस्तुत करनेका साहस कभी जुटा नहीं पाया. और यों मेरे संशयोंको लिख-लिख कर सम्हाल रखता था, किसीके पास समाधान जान पानेको. अध्यापनके बाद उन्हें सम्हाले रखने कि फाड़ कर फेंक देने योग्य हैं, यह जाननेको एक दिन मैंने मेरे काव्य-व्याकरण-तर्कसंग्रहके अध्यापक हमारे यहां पितृचरणके बाल्यकालसे निवास करनेवाले और "बावा! न्याय नहीं पढ़ोगे तो विषयके साथ

अन्याय ही करोगे!!"की सतत प्रेरणा देते रहनेवाले समादरणीय श्रीकृष्णमाधव झा पण्डितजीको दिखाया था. उन्होने इसे पसन्द कर कहीं-कहीं व्याकरणाशुद्धि भी दूर की थी. सो अभी तक यह लेखन संभला रहा और उसे यहां प्रकाशित कर रहा हुं. इस निबन्धमें उपक्रमोपसंहारके श्लोकोंके अलावा सारा लेखन तभीका है.

केवलाद्वैतवादमें अविद्याके बारेमें मिलते प्रतिपादनोंके बारेमें मेरे विद्यार्थिमनमें उभरी ये अनुपपत्तियां थी. किसी भी युक्तायुक्तताके विवेकके बिना अविकलतया उन्हें यहां परिशिष्टके प्रकाशित करनेमें किसी तरहके सम्भावित अनौचित्यकी विद्वज्जनोंसे क्षमायाचनाके साथ.

४.श्रीदीक्षितात्मजश्याममनोहरविरचितो अक्षरपुरुषोत्तमद्वैतनिरासवादः :

विषय : श्रीस्वामिनारायणसम्प्रदायके अहमदाबादमें आयोजित द्विशताब्दिमहोत्सवके अन्तर्गत विचारगोष्ठीमें प्रा.श्रीरमेश दवेने मुझे अतीव स्नेहाग्रहपूर्वक आमंत्रित किया था. वहां चर्चासत्रमें उनके साथ गहन चर्चा मंचपर हुयी थी. बादमें मुंबई लोटते समय विमानमें बैठे-बैठे भीतर निरन्तर चर्चा मनमें गूंजती रही, सो मैंने उसे श्लोकबद्ध कर दी. बीस-तीस श्लोक तो विमानयात्रामें ही बन गये थे. बाकीके बादमें यहां पहुंचनेपर लिखे गये. पड़े-पड़े ये भी कहीं नष्ट न हो जायें एतदर्थ मुद्रित कर दे रहा हुं.

वाल्लभ वेदान्तमें परब्रह्म और अक्षरब्रह्म के बीच रूपान्तर नामान्तर और क्रियाकलापान्तर का प्रभेद मान्य होनेपर भी दोनोंके बीच परस्पर अविच्छिन्नतया अवस्थित होनेका तत्त्वैक्य ही माना गया है. जबकि श्रीस्वामिनारायण सम्प्रदायके शिक्षापत्री और वचनामृत नामक ग्रन्थोंमें मूलतः साधनाप्रणालीमें वाल्लभ सिद्धान्त और तत्त्वशास्त्रीय चिन्तनमें रामानुजीय मतको मान्य रखा गया था. बादमें परन्तु इस सम्प्रदायकी आधुनिक शाखाओंमें इन्हें अस्वीकार कर दिया. रामानुजीय तत्त्वत्रयीके

स्थानपर तत्त्वपंचक प्रस्तावित किये गये हैं. तदनुसार पुरुषोत्तम अक्षर ईश्वर जीव और माया रूपी तत्त्वपंचकमें भी नव्यविशिष्टाद्वैत और अनेकविध अक्षरोंकी अवधारणा प्रस्तुत हुयी हैं. ये न तो रामानुजीय हैं और न वाल्लभीय अवधारणा ही. इनका वैलक्षण्य निर्विवाद होनेपर भी आन्तरिक संगति विचारणीय लगती है. अतः इसीके औचित्यानौचित्यका यहां विचार किया गया है.

सर्वथा उस चर्चामें पूर्वपक्षतया अपने मतकी प्रस्तुति प्रिय श्रीरमेशभाईने ही की थी सो उनके प्रति हार्दिक कृतज्ञताज्ञापनके साथ!

ग्रन्थकारों तथा ग्रन्थमातृकाओं का विवरण

महानुभाव श्रीहरिरायजी पद्य-गद्यात्मकब्रह्मवादके तथा श्रीगोपेश्वरजी वादकथाके लेखक :

श्रीहरिरायजी तथा श्रीगोपेश्वरजी : महाप्रभु श्रीवल्लभाचार्यचरणके द्वितीयात्मज गोस्वामी श्रीविट्ठलनाथ प्रभुचरणके पुनः द्वितीयात्मज श्रीगोविन्दरायजीके प्रथम पुत्र श्रीकल्याणरायजीके ज्येष्ठपुत्र श्रीहरिरायजी (ज.स्थ.व्रजके गोकुल गांवमें ज.स.वि.सं.१६४७ आश्विनकृष्णा पंचमी) और इनके अनुज श्रीगोपेश्वरजी (जन्म वहीं वि.सं.१६४९ में) इन दोनों ब्रह्मवादों और वादकथा के लेखक हैं.

श्रीवल्लभसम्प्रदायमें स्वयं महाप्रभु, प्रभुचरण; उनके चतुर्थात्मज श्रीगोकुलनाथजीके बाद पांचवी पीढ़ीपर प्रादुर्भूत होनेवाले श्रीहरिरायजीका इस सम्प्रदायके प्रचार-प्रसार तथा धार्मिक ऐतिहासिक एवं भावात्मक साहित्यनिर्माण में अनन्यसाधारण योगदान है. इनके भक्तिभावसे ओतप्रोत व्यक्तित्व एवं चरित्र के कारण इन्हें 'महानुभाव' कहा जाता है. इनको अपने पितामह श्रीगोविन्दरायजीसे भगवत्सेवाकी अनन्यनिष्ठा विरासतमें मिली थी. स्वमार्गीय आचार्यरचित मूलग्रन्थोंपर व्याख्या आदि सतत लिखते रहनेकी प्रेरणा इन्हें अपने पिता श्रीकल्याणरायजीसे मिली. इसी

तरह इनके स्वमार्गीय दीक्षा एवं विद्या के गुरु श्रीगोकुलनाथजीसे सम्प्रदायके प्रसार-प्रचार करनेकी अथक निष्ठा इन्हें प्राप्त हुयी थी.

श्रीहरिरायजी अपने जन्मकालसे ८० वर्ष पर्यन्त व्रज-गोकुलमें ही बिराजे परन्तु शेष अन्तिम ४५ वर्षों तक तब मेवाड़ राज्यके खिमनोर गांवमें बिराजे. तदनुसार १२५ वर्ष पर्यन्त इनकी भूतलपर स्थिति मानी गयी है. स्वमार्गीय पुष्टिभक्तिके प्रचार-प्रसार हेतु निरन्तर गुजरात राजस्थान ही नहीं अपितु सुदूर सिन्ध तथा सीमाप्रान्तोंमें (हालमें पाकीस्तानमें चले गये डेरा गाज़ीखां पर्यन्त, जहां देशके बटवारेके समय तक इनके बिराजनेकी बैठक भी थी) यात्रा करके पुष्टिमार्गका सर्वविध प्रचार-प्रसार इन्होनें किया था.

इनके स्वमार्गीय धर्म-दर्शन सम्बन्धी चिन्तनपर इनके दीक्षागुरु एवं विद्यागुरु श्रीगोकुलनाथजीका गहरा प्रभाव प्रकट प्रतीत होता है.

निरर्थक ही अनपेक्षित गंभीरतासे न ले लिया जाये तो कहनेकी इच्छा होती है कि महाप्रभुके ग्रन्थराशीके दुर्गमें प्रमाण-साधनदृष्टिकी बुर्जोंकी संभाल उनके ज्येष्ठात्मज श्रीगोपीनाथ प्रभुचरणने स्वीकारी तो प्रमेय-फलदृष्टिकी बुर्जोंको संभालनेका काम कनिष्ठात्मज श्रीविट्ठलनाथ प्रभुचरणने स्वीकारा था. गोस्वामी श्रीविट्ठलनाथजीके भी तृतीयात्मज श्रीबालकृष्णजी तथा चतुर्थात्मज श्रीगोकुलनाथजी ने भी अपने पितृव्य और पिता की तरह महाप्रभुके उपदेशात्मक ग्रन्थोंकी अपनी-अपनी व्याख्याओंमें ऐसा दृष्टिभेद सा कहीं-कहीं प्रकट किया है. इसे और भी अधिक स्पष्टताके साथ कहना हो तो यों कहा जा सकता है कि इन दोनों परम्पराओंमें अन्यकी अस्वीकृतिके बजाय स्वस्वीकृतपर आभिप्रायिक रुचिभारका भेद अधिक लक्षित होता है, मूलसिद्धान्तोका प्रभेद नहीं. स्वाभाविक रूपमें श्रीहरिरायजी अपने विद्या-दीक्षागुरु श्रीगोकुलनाथकी परम्पराके समर्थ उत्तराधिकारी हैं. जबकि श्रीहरिरायजीके कनिष्ठ समकालिक अवतारवादावलीकार गोस्वामी श्रीपुरुषोत्तमजी तृतीयात्मज श्रीबालकृष्णजीके

वंशज तथा उसी व्याख्यानपरम्पराके ज्योतिस्तम्भरूप अनुगामी है. आगे चल कर श्रीपुरुषोत्तमजीके कनिष्ठ समकालिक श्रीविट्ठलरायात्मज 'लेखकार'नाम्ना प्रसिद्ध श्रीवल्लभजी, जिनकी कृति प्रस्तुत खण्डमें 'प्रपञ्चसंसारभेदवाद' नाम्ना संकलित हुयी है, इन्हीं श्रीहरिरायजीकी परम्परामें आते हैं. अस्तु.

श्रीहरिरायजीने अनेक प्रकारके साहित्यसे पुष्टिभक्तिमार्गीय सिद्धान्तोंके दुरूह प्रमेयोंको अपने उपदेशात्मक डेढ़ सोसे भी अधिक लघुकाय प्रकरणग्रन्थोंसे समृद्ध बनाया है. पुष्टिभक्तिमार्गपर अग्रसर होना चाहते पुष्टिपथिकोंको उलझनमें डाल देनेवाली कौन सी ऐसी गुत्थी होगी जिसे सरल भाषामें इन्होंने इन लघुकाय ग्रन्थोंमें सुलझा नहीं दी है! ऐसे एक नहीं अनेक प्रकारके इनके योगदान वस्तुतः विस्मयजनक हैं! महाप्रभुके मूलग्रन्थ षोड़शग्रन्थ पत्रावलम्बन तथा श्रीमद्भागवतसुबोधिनी पर इनके द्वारा लिखी व्याख्याओंका अपना एक विशिष्ट महत्त्व है. अपने गुरु श्रीगोकुलनाथजीद्वारा प्रकटित व्रजभाषामें महाप्रभु और उनके अनुगामिओंके वार्ताप्रसंगपर भी 'भावप्रकाश' लेखनके अलावा विभिन्न विषयोंपर इनके व्रजभाषामें भी अन्य ४६ ग्रन्थ गिनाये जाते है. इनके अलावा संस्कृत व्रजभाषा राजस्थानी गुजराती पंजाबी भाषाओंमें इनके द्वारा लिखे गये भगवल्लीलागानार्थ गेयपदोंका साहित्य भी केवल विपुल ही नहीं अपितु अद्भुत है. इनके रचित गेय पदोंमें सैद्धान्तिक गंभीरता है तो पदोंका लालित्य भी. इनके भक्तिभावोंका अनुपम निखार हमारे हृदयको भक्तिभावार्द्र बना देता है. इसके अलावा संस्कृत ग्रन्थोंके इनके द्वारा किये व्रजभाषानुवादोंके संकलन-सम्पादन और प्रकाशन पर तो कईओंकी अभी तक दृष्टि ही नहीं गयी है. इनके भाषासाहित्यकी विपुलताका एक दुष्परिणाम, निःसंकोच स्वीकारने लायक, मुझे यह भी लगता है कि इनकी शैली अपना कर इनके नामके मिथ्यायोजन द्वारा अगड़म-बगड़म भी न जाने क्या-क्या हस्तलिखित साहित्य उपलब्ध नहीं होता! इनके अनुज श्रीगोपेश्वरजींकी भगवत्सेवामें सहयोगिनी पत्नीके

शरीर न रह जानेकी सम्भावनावश इन्होंने अपने अनुजको जो ४१ शिक्षापत्र लिखे थे वे तो पुष्टिमार्गीय उपदेशोंके इतिहासमें क्रोशस्तम्भके समान हैं. सभी पाठकोंके लिये ये परम प्रेरणादायक उपदेश माने जाते हैं. इतना ही नहीं अपितु साधारण अनुगामिजनोंके भीतर पुष्टिभावोंके उद्बोधन परिवर्धन तथा संनिर्वाह में इनका प्रमुख योगदान रहा है. इनके अनुज द्वारा लिखी इन ४१ शिक्षापत्रोंकी व्रजभाषा व्याख्या भी महत्त्वपूर्ण रही है.

पद्य-गद्यात्मक दोनों ब्रह्मवाद और वादकथा को मातृका : ये दोनों, बल्कि तीनों ब्रह्मवाद सर्वप्रथम श्रीहरिशंकर ओंकारजी शास्त्रीने सम्पादित कर के आजसे ७९ वर्षपूर्व वि.सं.१९८५ में चौखंभा संस्कृत सीरिज़ ऑफिस् विद्याविलास प्रेस वाराणसी द्वारा इन्हें प्रकाशित करवाये थे. इस संस्करणमें श्रीहरिरायजीके दोनों ब्रह्मवादोंकी व्याख्या भी मुद्रित थी. गद्यात्मक ब्रह्मवादके व्याख्याकार गोष्ठीशाल श्रीगोपालकृष्ण भट्ट हैं. ये श्रीहरिरायजीसे पांचवी पीढ़ीपर इनके घरमें गोद आये रश्मिकार श्रीगोपेश्वरजीके शिष्य हैं, स्वयंकृत उल्लेखके आधारपर. इसके अलावा और कोई जानकारी उपलब्ध नहीं है. पद्यात्मक ब्रह्मवादकी व्याख्याके लेखकके तो नामकी भी जानकारी नहीं मिलती. इस प्रकाशनके चार वर्ष बाद सन् १९३३ में 'वादवारिधिः' नामक न्यायशास्त्रीय वादोंके संकलनमें श्रीबालकृष्ण मिश्रने 'भक्तिमार्गवादः' नाम्ना यही गद्यात्मक ब्रह्मवाद पुनः वहीं चौखंभासे प्रकाशित करवाया था. वादकथा श्रीमगनलाल गणपतिराम शास्त्रीने ९० वर्षपूर्व 'पुष्टिभक्तिसुधा'(मुंबइ) वि.सं.१९७३में प्रकाशित करवायी थी. बादमें हमारे पितामहके आस्थानपण्डित श्रीरमानाथ शास्त्रीजीने वि.सं.१९७६=ई.स.१९२०में पुष्टिमार्गीयसिद्धान्तकार्यालय (मुंबइ) द्वारा प्रकाशित करवायी थी. प्रस्तुत संस्करण इन्हीं प्रकाशनोंका पुनर्मुद्रण है, सम्पादक-प्रकाशकों प्रति कृतज्ञताद्योतनपूर्वक.

गोस्वामी श्रीगिरिधरजी विग्रहवाद तथा प्रपञ्चवाद के लेखक :

श्रीगिरिधरजी : इन दोनों वादग्रन्थोंके लेखकका तृतीयात्मज श्रीबालकृष्णजीके घरके होना इन दोनों ही ग्रन्थोंमें **"राजलीलापतिः कृष्णः प्रभुः श्रीद्वारकेश्वरः", "एतेन अस्मत्पति यो अस्ति प्रभुः श्रीद्वारकेश्वरः"** इन आत्मस्वीकृतिके आधारपर निःसन्देह सिद्ध होता है. इन दोनों ग्रन्थोंकी मूल हस्तलिखित प्रतियां भी कांकरोलीके पूज्यपाद महाराजश्रीसे सम्पादक श्रीमगनलाल गणपतराम शास्त्रीजीको मिली थी जो उन्होंने 'पुष्टिभक्तिसुधा' मासिक पत्रिकाके वर्ष ३ अंक ५-७ में सम्पादित करके आजसे ९४ वर्षपूर्व प्रकाशित करवाये थे. इसमें विग्रहवादकी एक हस्तलिखित प्रति ज़ेरोक्स प्रतिलिपि गोस्वामी श्रीपुरुषोत्तमजीके हस्ताक्षरोंमें अनुलिपि की हुई मुझे भी देखनेको मिली. एतावता इनकी उत्तरावधि तो निर्धारित हो जाती है परन्तु पूर्वावधि निर्धारित करने जानेपर अवतारवादावलीकारसे पूर्वभावी अथवा समकालिक दो 'गिरिधरजी' नाम वंशावलीमें उपलब्ध होते हैं :

१.द्वारकेशात्मज गिरिधरजी (वि.सं.१६६२) २.व्रजभूषणात्मज गिरिधरजी (वि.सं.१७४५). इन दोनोंमें से कोई एक होना ग्रन्थकारका निर्धारित किया जा सकता है. 'कांकरोलीका इतिहास' नामक ग्रन्थमें द्वितीय गिरिधरजीके शास्त्रव्यसनी विद्वान् होनेका उल्लेख मिलता है. परन्तु वर्तमान तृतीय पीठाधीश गोस्वामी श्रीव्रजेशकुमारजीकी धारणा है कि इन्हें द्वारकेशात्मज गिरिधरजी ही मानना चाहिये. इन विषयोंमें उनकी जानकारी मुझे जो कुछ सामग्री उपलब्ध है, उससे कहीं अधिक ही होनेसे इदमित्थतया कुछ भी निर्धारित कर पाने मैं अपने-आपको समर्थ नहीं पाता.

मातृका : जैसा कि उल्लेख कर दिया गया तदनुसार 'पुष्टिभक्तिसुधा' तथा बादमें हमारे पितामहके आस्थानपण्डित श्रीरमानाथ शास्त्रीजीने वि.सं.१९७६=ई.स.१९२०में पुष्टिमार्गीयसिद्धान्तकार्यालय (मुंबइ) द्वारा प्रकाशित वादावली संग्रहमें प्रपञ्चवाद संकलित हुवा था. उसमें सम्पादक महोदयने प्रभुचरणके ज्येष्ठात्मज द्वारा विरचित होनेका अनुमान किया है परन्तु वह सम्भावना इतनी प्रबल नहीं लगती है.

गोस्वामी श्रीरघुनाथात्मज श्रीव्रजनाथजी ब्रह्मवाद (तृतीय) के लेखक :

श्रीव्रजनाथजी : श्रीमद्वल्लभवंशावलीके अनुसार प्रभुचरणके ज्येष्ठात्मज श्रीगिरिधरजी (वि.सं.१५९७)के तृतीयात्मज श्रीगोपीनाथजी (वि.सं.१६३४), इनके ज्येष्ठात्मज श्रीप्रभुजी (वि.सं.१६६०), इनके ज्येष्ठात्मज श्रीरणछोड़जी (वि.सं.१६७७), इनके द्वितीयात्मज श्रीरघुनाथजी (वि.सं.१७२७), इनके आत्मज श्रीव्रजनाथजी (वि.सं.१७४४) प्रस्तुत ग्रन्थके लेखक हैं. यों अवतारवादावलीकारके कनिष्ठ समकालिक सिद्ध होते हैं. इनकी कृतियोंमें षोडशग्रन्थोंके अन्तर्गत सिद्धान्तमुक्तावलीकी विवृतिटिप्पणी प्रकाशित है. इसी तरह 'वैयासन्यायमाला' नामिका ब्रह्मसूत्र वृत्ति भी प्रथमाध्याय द्वितीयपाद पर्यन्त प्रकाशित है. परन्तु कांकरोलीस्थ विद्याविभागमें तृतीयपादके १५ वें सूत्र पर्यन्त विद्यमान होनेका उल्लेख मिलता है, ऐसा 'शुद्धाद्वैतपुष्टिमार्गीय संस्कृत वाङ्मय'कारका कहना है. कहा जाता है कि ये काका वल्लभजीके शिष्य थे और अपने प्रत्येक ग्रन्थको संशोधनार्थ उनके पास भेजते थे. सो कुछ इनके ग्रन्थोंके संशोधित संस्करण संशोधनकारके नामके साथ भी प्रसिद्ध हैं.

मातृका : दो उपलब्ध हुयी दोनों ही पूर्वोल्लिखित प्रथम संस्करण श्रीरमानाथ शास्त्रीजी द्वारा और द्वितीय संस्करण श्रीहरिशंकर शास्त्रीजी द्वारा. इन्हीं दोनों संस्करणोंके आधारपर यह तृतीय संस्करण पुनःप्रकाशित किया जा रहा है.

गोस्वामी श्रीविट्ठलरायात्मज श्रीवल्लभजी प्रपञ्चसंसारभेदवादकर्ता :

श्रीवल्लभजी : श्रीमद्वल्लभवंशवृक्षावलीके अनुसार 'विट्ठलरायात्मज श्रीवल्लभजी' सर्वप्रथम तो प्रभुचरणके चतुर्थात्मज श्रीगोकुलनाथजीका अपर नाम है. द्वितीय प्रथम/६ गृहमें एक विट्ठलरायजी (वि.सं.१६५७) में हुवे और इनके चतुर्थात्मजका भी 'काका वल्लभजी' (वि.सं.१७०३) नाम मिलता है. तीसरा नाम पंचम गृहमें 'विट्ठलेशजी' (वि.सं.१६९८) और इनके आत्मज वल्लभजी (वि.सं.१७२९) मिलता है. यों तीनोंमें

से ये कौनसे हैं कह पाना कठिन है. हमारे यहांसे प्रकाशित वादावलीमें इस ग्रन्थके लेखकतया प्रभुचरणात्मज श्रीगोकुलनाथजीको माना है. कोई काका वल्लभजी अवतारवादावलीकारके कनिष्ठ समकालिक भी हैं और ये ही सुबोधिनीपर 'लेख' नामक व्याख्यानके कर्ता हैं. यों नामसाम्यवश ग्रन्थकर्ताका निर्धारण कठिन हो गया है. वैसे प्रभुचरणके चतुर्थात्मज बहुधा अपने नामके साथ साथ 'पितृचरणैकतान' विशेषण अवश्य जोड़ते हैं, वह यहां पुष्पिकामें अनुल्लिखित होनेसे तथा प्रथम/६ गृहके काका वल्लभजी वादावलीकारसे ६७ वर्ष वयसा ज्येष्ठ होनेके कारण वादावलीकार उनका 'वल्लभः' ऐसा एकवचनान्त नामोल्लेख नहीं करते, क्योंकि उनकी पदप्रयोगशैलीके यह प्रतिरूप है अतः, तृतीय श्रीविट्ठलरायात्मज श्रीवल्लभजीका ही लेखकार होना अधिक सम्भाव्य लगता है.

वाल्लभ वेदान्तके ग्रन्थोंकी सेवाके हेतु श्रीपुरुषोत्तमजीके अपरप्राकट्य जैसे श्रीमूलचन्द तेलीवालाकी भी धारणा यही है. अतः तृतीय श्रीवल्लभजी ही इस ग्रन्थके भी कर्ता होने चाहिये.

गोस्वामी श्रीगोकुलनाथात्मज श्रीविट्ठलराय ब्रह्म-जीव-तदैक्य-स्वरूप-निरूपणकार :

श्रीविट्ठलराय : वंशवृक्षमें प्रथम/६ गृहमें प्रभुचरणसे सातवीं छट्ठी पीढ़ीपर पूर्वोल्लिखित काका वल्लभजीके सातवें पुत्र श्रीगोकुलनाथजी (वि.सं.१७५०) हुवे, इनके द्वितीयात्मज श्रीविट्ठलरायजी (वि.सं.१७८१) में जनमे, इससे अधिक इनका कोई विवरण मुझे ज्ञात नहीं.

मातृका : ये तीनों ग्रन्थ वर्षों पहले 'बृहत्स्तोत्रसरित्सागरः' नामक लघुग्रन्थोंका जो संकलन प्रकाशित हुवा था, उसमें प्रकाशित पाठका ही यहां पुनःप्रकाशन है.

गोस्वामिश्रीपुरुषोत्तमान्तेवासी श्रीतुलजारामजी विरुद्धधर्माश्रयत्वविवेचन-

कर्ता :

श्रीतुलजारामजी : ये स्वयं अपने-आपको वादावलीकार श्रीपुरुषोत्तम-जीका अन्तेवासी होना स्वीकारते हैं. सो उनके समकालिक होना तो इनका निश्चित ही है. कुछ वर्षों पूर्व श्रीनाथद्वारामें द्वितीयपीठाधीश श्रीकल्याणरायजीके हार्दिक औदार्यवश उनके हस्तलिखित संग्रहके दर्शनका सौभाग्य प्राप्त हुवा था. तब अतीव उदारहृदयसे उन्होंने महानुभाव श्रीहरिरायजी द्वारा पुत्रतया गोदमें लिये गये श्रीगिरिधरजीके प्रति वादावलीकार श्रीपुरुषोत्तमजीके निज हस्ताक्षरोंमें लिखित तीन पत्रोंके दर्शन कराये थे. उन पत्रोंकी प्रतिलिपि भी करनेकी अनुमति दी थी सो अपने कृतज्ञताद्योतनपूर्वक इस प्रसंगमें उन्हें उद्धृत करना चाहुंगा :

(१)

स्वस्ति श्रीपुरुषोत्तमानां परमसुहृत्तमप्रियान्तेवासिषु गिरिध-रेषु... मच्छिष्यस्य तुलजारामस्य वल्लभस्य च दण्डवत्प्रणामाः.

(२)

स्वस्ति श्रीपुरुषोत्तमानां प्रियतमगिरिधारिषु शुभाशिषः समुल्लसन्तु. शम् इह, भावत्कं प्रतिदिनम् एधमानम् आशास्महे. अपरञ्च ...णापट्टणपत्रं लिखितं प्राप्तम्. सर्वोऽपि उदन्तो ज्ञातः तेन आनन्दः समजनि. अतः परं भगवद्दर्शनं विधाय शीघ्रम् आगन्तव्यं कृतकार्यैः. काञ्च्यां प्रहस्तस्य प्रचारस्य काचन वार्ता श्रुता भवति चेद् विलेख्या. तुलजारामवल्लभदा-सयोः दण्डवत्प्रणामाः स्वीकार्याः.

(३)

श्रीहरिर्जयति

श्रीमत्प्रभुपदसविधे भवतः स्मर्यते. इदानीं मम नेत्रयोः अपाटवं भूयो जातम् अस्ति.

इन पत्रोंके भी आधारपर यह सिद्ध होता कि श्रीतुलजारामजी न केवल शिष्य थे किन्तु श्रीपुरुषोत्तमजीके प्रिय अन्तेवासी भी थे. यहां प्रकाश्यमान ग्रन्थके अलावा और भी कुछ इनके ग्रन्थोंकी हस्तलिखित प्रतिलिपियां मिलती हैं जो अभी तक प्रकाशित हो नहीं पायी हैं. इससे अधिक और कुछ इनके बारेमें मुझे अवगत नहीं.

श्रीगोकुलोत्सवात्मज श्रीयोगिगोपेश्वरजी आत्मवादके लेखक :

श्रीयोगिगोपेश्वरजी : इनके पिता श्रीगोकुलोत्सवजी (वि.सं.१८१६), श्रीवल्लभवंशवृक्षके अनुसार, द्वितीय/१ गृहमेंसे अवतारवादावलीकार श्रीपुरुषोत्तमजीके तृतीय/२ गृहमें गोद गये थे; और, ये श्रीयोगिगोपेश्वरजी (वि.सं.१८३५) पुनः सुरतसे नाथद्वारा स्थित द्वितीय/१ गृहमें गोद आ गये. अतएव श्रीपुरुषोत्तमजी द्वारा लिखित ग्रन्थोंकी हस्तलिखित प्रतियां इन्हें सुलभ थी. कहा जाता है अपने ग्रन्थकी एक प्रति श्रीपुरुषोत्तमजी अपने पूर्वोक्त शिष्य श्रीगिरिधरजीको भी भेजते थे. इनके भी द्वारा विरचित साहित्यका प्रमाण विपुल है : अणुभाष्यप्रकाशरश्मि (प्रकाशित), सुबोधिनीके जन्मप्रकरणपर बुभुत्सुबोधिका (प्रका.), भक्तिमार्तण्ड (प्रका.), तैत्तिरीयसंहितानवार्थिभाष्य (अप्र.), परिवृढाष्टकव्याख्या (प्रका.), आत्मवाद (प्रका.) भक्तिरत्न (प्रका.) नामावली(अप्र.), प्रकीर्णपद्यशतकत्रयी (अप्र.) आदि. उदयपुरमहाराणा श्रीभीमसिंह इनके पास पुष्टिमार्गीय सिद्धान्तग्रन्थ सुनने आते थे और उनके आग्रहवश लेखनमें कठिनता दूर कर दुबारा उसी विषयको लिखा ऐसा इनके लेखनमें उल्लेख मिलता है. १२० वचनामृतकार भी कहते हैं इनका प्रवचन इतना क्लिष्ट होता था कि साधारण श्रोताओंके लिये वह श्रवणमंगल ही होता था. वही क्लिष्टता इनकी लेखनशैलीमें भी बहुत झलकती है. फिरभी विभिन्न शास्त्रोंके वचनोंकी उपस्थिति तो वस्तुतः इनकी अद्भुत है!

मातृका : पूर्वोल्लिखित 'पुष्टिभक्तिसुधा' मासिकके वर्ष ३ अंक

१० वेंमें प्रस्तुत आत्मवाद इदम्प्रथमतया प्रकाशित हुवा. बादमें हमारे यहांसे श्रीरमानाथ शास्त्रीजीके सम्पादकत्वमें प्रकाशित पूर्वोल्लिखित वादावलीमें भी यह वाद पुनःप्रकाशित हुवा. प्रस्तुत संस्करण उन दोनों आधारमातृकाओंके अलावा अन्य भी कुछ हस्तलिखित प्रतिलिपियोंसे इसे संवादित तथा संशोधित किया गया है.

इन सभी पूर्वसम्पादकों तथा पूर्वप्रकाशकों के प्रति अपनी हार्दिक कृतज्ञता प्रकट करते हैं. मूलमें उनके ही परिश्रमके फलस्वरूप आज इन ग्रन्थोंका पुनःप्रकाशन शक्य हुवा है. यद्यपि पाठभेदतालिका देना हमारा आवश्यक कर्तव्य है तथापि अधिक मातृकाओंके उपलब्ध न होनेके कारण और अधिकांश वाद पूर्वमुद्रितोंका पुनर्मुद्रण होनेसे सर्वथा भ्रष्टपाठवाली ही मातृकाओंके पाठभेद तैयार करनेमें श्रम-समयकी मर्यादा आड़े आती होनेसे यथामति संशोधनपूर्वक प्रकाशित की जा रही हैं.

इस पुनःप्रकाशनार्थ हस्तलिखित मातृका, जो भी उपलब्ध हो पायी उन्हें खोजना, कम्प्युटरमें फीड् करना, पाठभेदनिर्धारणार्थ मातृकाओंके सहपठनमें लंबे काल तक बैठना, उपन्यस्त शास्त्रवचनोंके मूलसन्दर्भ खोजना आदिमें सहयोग प्रदान करनेवाले चिरंजीवी गोस्वामी श्रीशरद्, चिरंजीवी गोस्वामी श्रीमन्दार, श्रीधर्मेन्द्र झाला, श्रीमती मनीषा तथा श्रीपरेश शाह, श्रीअनिल भाटिया, श्रीजगदीश शेठ आदिके वाल्लभ वेदान्तके वाङ्मयकी सेवाके भावको कैसे भुलाया जा सकता है! प्रस्तुत ग्रन्थके सुन्दर रंगीन आवरकचित्रकी निर्मात्री सुश्री ख्याति मेहता है. मुद्रापणोपयोगी सारी व्यवस्थाको संभालनेवाले श्रीमनीष बराई हैं. प्रकाशक श्रीव.वि.श्रीवि.प्र.आ.हो. न्यासके सुसंचालक श्रीहंसराजभाई वेद आदि न्यासिगणों तथा मुद्रक रमा आर्ट्स्के प्रति भी कृतज्ञतांगीकार प्रकट करते हैं.

दिनांक : २३, जनवरी २००८ *गोस्वामी श्याम मनोहर*

उपोद्घातः

<u>ब्रह्मवादः</u> :

ब्रह्मसूत्रद्वितीयाध्यायप्रथमपादे **"स्वपक्षदोषात् च"** (ब्र.सू.२।१।२९) इति सूत्रे श्रीमच्छंकराचार्यैः उच्यते **"परिहृतस्तु ब्रह्मवादिना स्वपक्षे दोषः"** (शां.भा.२।१।२९) इति. न तावद् अविदितम् इदं विदुषां यत् श्रीशंकराचार्यास्तु निर्विशेषं निर्धर्मकं ब्रह्म इति प्रतिपादयन्तः जगत्कारणत्वन्तु मायायाएव अभ्युपगच्छन्ति इति. अतः शबलब्रह्मकारणतावादः प्रकृतिकारणता-वादएव कुतो न पर्यवसन्नो वेदितव्यो, अपास्तसमस्तविशेषरूपत्वेन ब्रह्मणि कारणत्वादिधर्माणां सत्ताभावात्. जगद्विवर्ताधिष्ठानतया तद्धि ब्रह्म विवर्तोपादानमेव, परिणाम्युपादानरूपा वा निमित्तरूपा तु पुनः मायैव, कर्तृत्वधर्मस्य क्रियाकारकभेदसापेक्षतया भ्रान्तप्रत्ययरूपत्वमेवेति. किम् ईदृशस्य वादस्य ब्रह्मवादत्वं वक्तुं शक्यं न वा इति इह विचारणीयं मनीषिभिः.

वस्तुतस्तु एतन्निर्णयस्य 'ब्रह्मवाद'शब्दार्थनिर्णयाधीनतया प्रथमं 'ब्रह्मवाद'शब्दार्थएव विमृश्यो भवति : ब्रह्मणस्तु अधिष्ठानमात्रत्वं विश्वनिर्मात्री मायैव, प्रपञ्चस्यतु विवर्तरूपत्वमेवेति एतादृशस्य वादस्य ब्रह्मवादत्वं कथम्? अथवा किं तद् ब्रह्म निमित्तकारणम् आहोस्विद् अभिन्ननिमित्तोपादानकारणं वा? कथम्भूतस्य हि वादस्य तावद् ब्रह्मवादत्वम् अभ्युपेतव्यम्?

अत्र उत्तरदानात् प्रागपि किञ्चिद् आलोचनीयं भवति : तत्र प्रकृतिपरिणामवाद-परमाण्वारम्भवाद-ब्रह्मपरिणामवाद-ब्रह्मविवर्तवादादीनां विचारक्रमोऽपि अवलोकनीयः. श्रीवेदव्यासोक्तस्य ब्रह्मवादस्य स्वारस्यमपि

कुत्र इति सूक्ष्मतया आलोचनीयम्. तेन एतेन श्रीवेदव्यासद्वारा प्रतिपादित'ब्रह्मवाद'पदाभिहितार्थः कः इति निश्चेतुं प्रभवामः.

तत्र तावद् जगतः सुखदुःखमोहान्वितत्वं दृष्ट्वा त्रिगुणपरिणामभूतं जगद् इति कल्पना महर्षिकपिलहृदये आविर्भूता.

सोऽयं प्रकृतिपरिणामवादः तार्किकहृदयसिंहासनम् अधिरोढुं न अशकदिति महर्षिणा गौतमेन परमाणुवादः प्रवर्तितः. अनेकचेतननियन्त्रितत्वे तु प्रकृतेः तावद् अकिञ्चित्करत्वं, सर्वथा हि अनियन्त्रितायास्तु पुनः तस्याः जडरूपतया कथं व्यवस्थितपरिणतिशीलता इत्यादीनाम् अनेकप्रश्नानाम् उद्भवो अत्र सम्भवति. जडायाः प्रकृतेः एकचेतननियन्त्रिततांगीकाराय न्यायदर्शनेन ईश्वरस्वीकारः कृतः. ईश्वरनियन्त्रितेभ्यः परमाणुभ्यः विश्वारम्भः इति तेषां प्रक्रिया. जडपदार्थस्य केनचित् चेतनेन नियन्त्रणाभावे तस्य व्यवस्थितपरिणतिरेव भवितुं न अर्हतीति. अनेकचेतनसम्बन्धस्यतु व्यवस्थाविप्लावकत्वमेवेति पूर्वोक्तयुक्तिद्वयेनैव परिणामवादासंगतिं प्रदर्श्य आरम्भवादः कणभक्षाक्षपादीयैः समर्थितः.

सोऽयं नैयायिकवैशेषिकैः कृतः ईश्वरस्वीकारो योगदर्शनेऽपि अनुमतः किन्तु एतदभ्युपगमबीजभूतहेतुकलापनिरीक्षणेन उभयोः पार्थक्यमपि अनुभवपथम् अधिरोहति.

न्यायमते वैशेषिकमते च ईश्वरस्य जगत्कर्तृत्वेन निमित्तकारणत्वेन प्रतिपादनम् अभीष्टं, योगमतेतु ईश्वरस्य आदिगुरुत्वेन आदिसंकेतप्रवर्तकत्वेन जगन्नियन्तृत्वेन शास्त्रप्रकाशकत्वादिरूपेण प्रसिद्धिः.

एवं मतत्रयस्य सेश्वरवादिदर्शने समावेशः. न्यायस्तु परिणामवादस्य तर्कानुपपन्नत्वं प्रदर्शयन् आरम्भवादस्य तर्कसंगतत्वं साधयन् स्वोक्ततर्कदार्ढ्याय ईश्वरम् अभ्युपगच्छति. योगदर्शनन्तु साधकस्य निरवलम्बनत्वपरिहृतये समाधौ

अलौकिकसौन्दर्यनिर्मित्यर्थं च परमकारुणिकस्य निग्रहानुग्रहसमर्थस्य साधकसम्बन्धावश्यकताम् अभ्युपगच्छति, अन्यथातु समाधेः काठिन्यम्. एवंरीत्या ईश्वरम् उपोद्बलयति. अतएव योगमते "**क्लेशकर्मविपाकाशयैः अपरामृष्टः पुरुषविशेषः ईश्वरः**" (पात.यो.सू.१।२४) इति 'ईश्वर'शब्दव्याख्यापि विचारचातुर्येण उपस्थापिता. कर्तृत्वचर्चानैरपेक्ष्येण 'ईश्वर'शब्दस्य स्वाभिप्रेतव्याख्यायाः पार्थक्यम् बुद्धिपूर्वकमेव आपादितम्. द्वितीयव्याख्यापि "**सहि पूर्वेषामपि गुरुः...**" (पात.गो.सू.१।२६) इत्येवम् उक्ता, सापि कर्तृत्वासम्बद्धैव.

नैयायिकशिरोमणिभूताः श्रीजयन्तभट्टास्तु न्यायमञ्जर्यां सुरुचिरप्रक्रियया आरम्भवादं समर्थयन्तः ईश्वरं साधयन्ति निक्षिपन्ति च अनीश्वरवादम्. तद् यथा मञ्जर्यां "**ते इमे परमाणवः चेतनम् अन्तरेण विशिष्टक्रमकम् इतरेतरसंघटनम् अलभमानाः कार्यसिद्धये न पर्याप्नुयुः अचेतनत्वाद्**" (न्या.मं.८।ईश्व.सा) इति चेतनः एषां अधिष्ठाता सकलभुवननिर्माणमतिः ईश्वरो अभ्युपगतः. तत्सिद्धयेच निरवद्यम् अनुमानं च उपपादितम्.

प्रशस्तपादभाष्यारम्भे "**प्रणम्य हेतुम् ईश्वरम्**" (वैशे.सू.भा.मंग.) इति पद्यमपि ईश्वरस्य जगत्कर्तृत्वम् प्रत्याययत्येव. उदाहृतवचनद्वयेनैव नैयायिकाः वैशेषिकाः च कथम् ईश्वरम् अंगीकुर्वन्ति इति स्फुटं भवति.

"**ईश्वरः कारणं, पुरुषकर्माफल्यदर्शनाद्**" (गौत.न्या.सू.४।१।१९) इति सूत्रेऽपि 'ईश्वर'शब्द-'कारण'शब्द-समभिव्याहारोऽपि अभिसन्धिपूर्वकएव. अत्र 'कारण'शब्देन निमित्तकारणत्वरूपकर्तृत्वमेव सूचितम्. अत्र वार्तिककाराणां वार्तिकतात्पर्यकाराणां च मिथो विसंवादः आभाति. वार्तिककारास्तु अत्र 'कारण'शब्दस्य "निमित्तकारणरूपो जगत्कर्ता" इति अर्थं कुर्वन्तः इदं सूत्रं सिद्धान्तप्रतिपादकं मन्यन्ते. तात्पर्यकारास्तु अस्य सूत्रस्य पूर्वपक्षप्रतिपादकत्वं मन्यमानाः 'कारण'शब्दम् उपादानार्थकं वदन्ति. अस्मिन् सूत्रे ब्रह्म उपादानम् इति पूर्वपक्षाशयं निरूपयन्तः "**तत्कारितत्वाद् अहेतुः**" (गौत.न्या.सू.४।१।२१) इति सूत्रे सिद्धान्तसम्मतां निमित्तकारणतां समर्थयन्ति. अत्र "**प्रावादुकानां**

दृष्टयः प्रदर्श्यन्ते'' (तत्रैव) इति पंक्तिं प्रधानीकृत्य तात्पर्यकाराः वाचस्पतिमिश्राः वार्तिककारतो भिन्नां हि व्याख्यानरीतिं प्रकटीकुर्वन्ति ''**किन्तु आप्तकल्पश्च अयं, यथा पिता अपत्यानां, तथा पितृभूतः ईश्वरो भूतानाम्**'' (न्या.भा.४।१।२१) इति एषा भाष्यपंक्तिः वार्तिकव्याख्यानपक्षपातित्वं स्वस्याः अभिव्यनक्ति. अतएव ''**अत्र कानिचिद् दर्शनानि प्रतिषिध्यन्ते, कानिचिद् अभ्युपगम्यन्ते**'' इति निर्णयं स्वव्याख्यानयुक्ततायै वार्तिककाराः उपपादयन्ति.

वार्तिककारश्रीमदुद्योतकराचार्यव्याख्यानमेव अत्र उचितमिति प्रतीयते. अन्यथा सूत्रकारमुखेन कर्तृत्वचर्चैव नैयायिकैः न उपलभ्येत.

यद् अत्र विद्वद्वरेण्यैः डॉ. श्रीगंगानाथझाशर्मभिः खद्योतटीकायाम् उक्तम् —

> ''**अत्र ईश्वरस्य निमित्तकारणत्वं प्राचीनतमन्यायाचार्याणाम् अभिमतं न वा इत्येतदपि विचारम् अर्हति ? तृतीयाध्यायद्वितीयाह्निकगत ६६ तमे सूत्रवार्तिके 'सर्गादेः अनभ्युपगमाद्' इति उक्तम्. तदेव पुनः अत्रत्य २१ तमे सूत्रवार्तिके 'एवम् सर्गादेः अनभ्युपगमाद्' इति सर्गनिमित्तकारणस्य क्व उपयोगः ? तथाच ईश्वरः केवलं नियन्ता इति न्यायमतं प्रतिभाति. भाष्यकारोऽपि अग्रे 'ईश्वरो द्रष्टा बोद्धा सर्वज्ञाता' इत्येव उक्तवान् न पुनः कर्ता स्रष्टा वा**'' इति.

इमाः खद्योतोक्तयः प्रमाणविरहिताः हेत्वाभासयुक्ताः वा इतितु वक्तुं न शक्नुमः किन्तु चिन्त्याः इति तु अवश्यमेव वदामः ''**ईश्वरकर्तृत्वस्य न्यायदर्शनप्राणभूतत्वात् वार्तिककारीयमेव व्याख्यानम् अत्र प्रधानतया उपन्यस्यते**'', ''**न्यायदर्शनप्राणभूतस्य ईश्वरकर्तृत्वस्य प्रावादुकदृष्ट्या अभिधानासम्भवाद्**'' एतत्पंक्तिद्वयेन खद्योतकाराः स्वयमपि ''**ईश्वरो जगत्कर्ता**'' इति सिद्धान्तं न्यायदर्शने तावत् प्राणरूपत्वेन स्वीकुर्वन्ति इति

तु स्पष्टमेव. तथाच न्यायदर्शनप्राणरूपस्य सिद्धान्तस्य सर्वथा सूत्रभाष्यानुक्तत्वसाधनं प्राणरूपत्वस्थापनं चेति उभयन्तु परस्परविरुद्धतया न उचितम्. यदि दर्शनप्राणरूपस्य सिद्धान्तस्यैव सूत्रभाष्यासम्मतत्वं तर्हि तस्य कथं प्राणरूपत्वमपि इतितु बुद्ध्यगम्यमेव. यस्य सिद्धान्तस्य मूलत्वेन तद्दर्शनप्रवर्तकवचनानि न उपलभ्यन्ते चेत् तथाभूतस्य सिद्धान्तस्य तस्मिन्नेव दर्शने प्राणरूपत्वमपि इति एतदपेक्षया का वा कस्यापि दर्शनशास्त्रस्य अधिका स्वरूपप्रच्युतिः कल्प्या !

श्रीउदयनाचार्याः श्रीजयन्तभट्टाः श्रीवर्धमानमिश्राः श्रीश्रीधराचार्याः न्यायलीलावतीकारश्रीवल्लभाचार्याः श्रीशंकरमिश्रादयः सर्वेऽपि आन्वीक्षिकीविदो तार्किकचूडामणयः एकहृदयेन न्यायदर्शनसिद्धान्तरूपत्वेन ''ईश्वरो जगत्कर्ता'' इति सिद्धान्तम् अभ्युपगच्छन्ति. तेषां सर्वेषामपि अभ्युपगमः सूत्रभाष्यकाररूपमुख्यप्रवर्तकोक्तिमूलविरहितः इति कथनन्तु न विद्वन्मनोरमम्. यदि उच्येत मुक्तावल्यादिषु सप्तपदार्थवादो यथा वैशेषिकेभ्यः परिगृहितो, नतु तस्य प्राचिननैयायिकसिद्धान्तत्वं; तथैव ईश्वरस्य जगत्कर्तृत्ववादोऽपि वैशेषिकेभ्यः प्राप्तः नैयायिकैः, एतत् कथनमपि चिन्त्यमेव, मुक्तावल्यादिचिन्तामण्यनन्तरभाविग्रन्थसरणिः मञ्जर्यादिप्राचीनग्रन्थसरणितो भिन्नैवेति. मुक्तावल्यादिग्रन्थेषु न्यायवैशेषिकमिश्रसिद्धान्तप्रतिपादनम् उपलभ्यते, मञ्जर्यादिषु तु केवलन्यायसिद्धान्तप्रतिपादनम्. तस्माद् एभिः ग्रन्थकारैः वैशेषिकेभ्यो अयं सिद्धान्तो गृहीतः इति उक्तिस्तु हृदये न प्रविशति. जैनबौद्धादिग्रन्थेष्वपि ईश्वरकर्तृत्वसिद्धान्तो न्यायदर्शनसिद्धान्तत्वेन उपक्षिप्तः इत्यतोऽपि खद्योतकारोक्तिः चिन्त्यैव.

एतेन योगदर्शने न्यायदर्शने च भिन्नाभिसन्धिपूर्वकं ईश्वरस्वीकारः इति सुव्यक्तम्.

एतावता परिणामवादानन्तरं परमाणुवादस्य कथं विकासो जातः इति ज्ञापितम्. तेन एतेन परमाणुवादेनापि ऋषिसमुदायहृदयतुष्टिः न अभूद्,

ऋषयस्तु मन्त्रद्रष्टारइति वेदार्थविचारकत्वं तेषां विवादरहितम्. ततोहि वैदिकदर्शनविरुद्धार्थस्वीकारः तेषां न इष्टो भवितुम् अर्हति, सति चैवं परमाणुवादस्य तदभिप्रेतत्वं कथं सम्भवेत्? अतएव श्रीशंकराचार्यैः ब्रह्मसूत्रभाष्ये उक्ताः —

''**प्रधानकारणवादः कैश्चिद् मन्वादिभिः सत्कार्यत्वाद्यंशोपजीवनाभिप्रायेण उपनिबद्धः. अयन्तु परमाणुवादो न कैश्चिदपि शिष्टैः केनचिदपि अंशेन परिगृहीतइति अत्यन्तमेव अनादरणीयो वेदवादिभिः**''.

''**तदेवम् असारतरतर्कसंदृब्धत्वाद् ईश्वरकारणश्रुतिविरुद्धत्वात् श्रुतिप्रवणैः च शिष्टैः मन्वादिभिः अपरिगृहीतत्वाद् अत्यन्तमेव अनपेक्षा अस्मिन् परमाणुवादे कार्या श्रेयोर्थिभिः इति वाक्यशेषः...वैशेषिकसिद्धान्तो दुर्युक्तियोगाद् वेदविरोधात् शिष्टापरिग्रहात् च न अपेक्षितव्यः.**''(शां.भा.२।२।३,१७) इति.

इमाः पंक्तयो वेदान्तिनाम् अभिप्रायावगमार्थम् पर्याप्ताः. औडुलोम्यसित-देवल-नारद-काशकृत्स्नादयो हि वैदिकविचारपरम्पराप्रवर्तकाः एतद्वादालोचने दृढाग्रहिणो अभूवन्. भगवता बादरायणेन महाभारत-ब्रह्मसूत्र-भागवतादिग्रन्थान् विरचय्य वैदिकोपनिषद्दर्शनस्य पुनरुद्धारः कृतः. ब्रह्मैव जगदभिन्ननिमित्तोपादानकारणम् इति सिद्धान्तस्य उद्घोषः कृतः. तस्माद् ब्रह्मभिन्नपरमाण्वारब्धं जगद् इति सिद्धान्तस्वीकारेतु अनेकश्रुतिसूत्रेतिहासपुराणवचनविरोधः प्रत्यक्षः.

तथाच अनेकश्रुतिमुख्यार्थबाधेन गौणी लक्षणा वा आश्रियते. उदाहरणरूपेण ''**यतो वा इमानि भूतानि जायन्ते, येन जातानि जीवन्ति, यत् प्रयन्ति अभिसंविशन्ति**'' (तैत्ति.उप.३।१) इति इयं श्रुतिः जगदुत्पत्तिस्थितिलयाः ब्रह्मण्येव भवन्ति इति कथयति. अत्र लयोऽपि सुस्पष्टो ब्रह्मणि प्रदर्शितः. कार्यविलयः उपादानएव भवति, नतु निमित्ते.

घटलयो मृत्तिकायामेव दृष्टो न कुम्भकारे. यदि ब्रह्मणो निमित्तकारणतैव अभ्युपेयते चेद् न कथञ्चिदपि जगद्विलयो ब्रह्मणि भवितुम् अर्हति. विलयानुपपत्तौतु अस्याः श्रुतेः ''**तज्जलान्...** '' (छान्दो.उप.३।१४।१) इति श्रुतेश्च विरोधएव. लयप्रतिपादकभागस्य गौणार्थत्वाश्रयणं ध्रुवं भवतीति मुख्यार्थबाधएव. कुतोहि मुख्यार्थबाधः करणीयः, किं प्रत्यक्षविरोधेन वा तर्कविरोधेन आहोस्वित् शब्दविरोधेन वा?. एतेषु विरोधेषु आद्यविरोधद्वयस्यतु अनवसरपराहततैव, शब्दैकसमधिगम्यत्वाद् अस्य विषयस्य. ''**योनिश्च हि गीयते**'' (ब्र.सू.१।४।२७) तथा ''**एतेन शिष्टापरिग्रहाअपि व्याख्याताः**'' (ब्र.सू.२।१।१२) इत्यनयोः सूत्रयोः भाष्ये श्रीभगवत्पादोक्तयस्तु अवश्यानुसन्धेयाः. ताः यथा —

''**न लोकवद् इह भवितव्यम्. नहि अयम् अनुमानगम्यो अर्थः, शब्दगम्यत्वाद् अस्य अर्थस्य यथाशब्दम् इह भवितव्यम्. शब्दश्च ईक्षितुः ईश्वरस्य प्रकृतित्वं प्रतिपादयति इति अवोचाम.**''

''**एतेन प्रकृतेन प्रधानकारणवादनिराकरणकारणेन शिष्टैः मनुव्यासादिभिः केनचिद् अंशेन अपरिगृहिताः ये अण्वादिकारणवादाः तेऽपि प्रसिद्धतया व्याख्याताः निराकृताः द्रष्टव्याः. तुल्यत्वाद् निराकरणकारणस्य. न अत्र पुनः आशंकितव्यं किञ्चिद् अस्ति. तुल्यम् अत्रापि परमगम्भीरस्य जगत्कारणस्य तर्कानवगाह्यत्वं तर्कस्य अप्रतिष्ठितत्वम्. अन्यथा अनुमानेऽपि अविमोक्षः आगमविरोधः च इति एवंजातीयकं निराकरणकारणम्.**''

(शां.भा.१।४।२७-२।१।१२).

तद् एतत् सिद्धम् उपन्यस्तैः वचनैः यत् श्रीमच्छंकराचार्याअपि ब्रह्मजगत्कारणता केवलवेदप्रमाणगम्या इति अभिलषन्ति सिद्धान्ततया इति. केवलवेदशब्दप्रमाणक-प्रमेयप्रतिपादके वेदभागे गौण्याः लक्षणायाः वा आश्रयणं सर्वथा अनिष्टम् इति तेषां मनःप्रत्ययः. एतत्साक्षित्वेन ''**तन्निष्ठस्य**

मोक्षोपदेशाद्'' (ब्र.सू.१।१।५) इति सूत्रभाष्यस्थानि श्रीशंकरभगवत्पादवचनान्येव उद्घ्रीयन्ते **''अपिच क्वचिद् गौणः शब्दो दृष्टो नच एतावता शब्दप्रमाणके अर्थे गौणी कल्पना न्याय्या, सर्वत्र अनाश्वासप्रसंगाद्''** (ब्र.सू.शा.भा.१।१।७) इति. उदाहृतेन श्रीशंकराचार्यवचनेन वैदिकानां ऋषीणां विचारधारा का इति विद्वद्भिः सरलतया ज्ञातुं शक्या. यदि श्रीशंकराचार्यकालिकवेदान्तचिन्तकानामपि श्रुतौ मुख्यार्थबाधो अनिष्टः आसीत् तदा श्रीवेदव्यासकालिकस्य ऋषिमुदायस्य कृते **''यतो वा इमानि भूतानि जायन्ते, येन जातानि जीवन्ति, यत् प्रयन्ति अभिसंविशन्ति''**, **''तज्जलान्...''** (तैत्ति.उप.३।१, छान्दो.उप.३।१४।१) इत्यादिवाक्यानां मुख्यार्थबाधेन ब्रह्मणो निमित्तकारणतावादः कथं स्वीकार्यः स्यात्! अतोहि महर्षिद्वैपायनेन औपनिषद्ब्रह्मवादस्थापनायैव ब्रह्मसूत्राणां रचना कृता इति अवगम्यते. अभिन्ननिमित्तोपादानकारणं ब्रह्म इति सिद्धान्तितम्. **''तद्भूतयोनिं परिपश्यन्ति धीराः''** (मुण्ड.उप.१।१।६) **''कर्तारम् ईशं पुरुषं ब्रह्म योनिम्''** (मुण्ड.उप.३।१।३) इत्यादिश्रुत्यन्तर्गत'योनि'शब्दमुख्यार्थरक्षणार्थम् लयप्रतिपादकश्रुतिवाक्यमुख्यार्थसंरक्षणार्थं च ब्रह्मवादः स्थापितः.

एतेनैव छान्दोग्यस्थानाम् एकविज्ञानेन सर्वविज्ञानप्रतिपादकप्रतिज्ञावचनानां मृदादिदृष्टान्तनिरूपकवचनानां च मुख्यार्थसंरक्षणं सम्पन्नम्. एवं निर्दिष्टवादानां विचारक्रमः श्रीव्यासमहर्षिकालिकवेदार्थविचारकाणां विचारपरम्परा च द्रष्टा.

इदानीं 'ब्रह्मवाद'शब्दार्थनिर्णयाय प्रयतामहे : पूर्वविवेचनेनैव इदं स्पष्टं यत् केवलनिमित्तकारणवादिनां न ब्रह्मवादित्वं किन्तु अभिन्ननिमित्तोपादानकारणवादिनएव ब्रह्मवादिनः. एतेन द्वितीयविकल्पनिरासप्रकारोऽपि सूचितः. एतद् उपादानत्वं खलु ब्रह्मणो विवर्तदृष्ट्या परिमाणदृष्ट्या वा स्वीकार्यम् इति एतन्निर्णयेनैव प्रथमविकल्पनिरसनपद्धतिरपि बुद्धिपथम् आयास्यति. 'ब्रह्मवाद'-शब्दार्थः च निर्णीतो भविष्यति.

तत्र तावद् ब्रह्मणो विवर्तोपादानता अभ्युपेतव्या वा न वा इति

निर्णयात् प्राक् सृष्ट्युत्पत्तेः पूर्वकालिकायाः अवस्थायाः प्रतिपादकैः उपनिषद्वचनैः सृष्टिस्वरूपनिरूपकवचनैः च साकं विवर्तोपादानत्वस्य एकवाक्यता शक्यते नवा? इति विमर्शस्य खलु परमा आवश्यकता. यस्माद् ब्रह्मणो विवर्तोपादानत्वम् अभ्युपगन्तॄणां मते प्रपञ्चस्य मायिकभ्रमरूपत्वम् अकामेनापि अभ्युपगमनीयमेव. भ्रमरूपेण जातस्य जगता सह कारणतया कस्यचन कर्तुः ईक्षणस्य च अपेक्षा वर्तते नवा इदमपि पराम्रष्टव्यम्. स्वमतसाधकत्वेन वेदान्तिनः ईक्षणं सविशेषम् उपयुज्जते इति सुप्रथितम्.

दृश्यते हि सृष्ट्युत्पत्तेः प्राक्कालिकावस्थानिरूपकेषु **''तद् ऐक्षत बहु स्याम्''** (छान्दो.उप.६।२।३) इत्येवमादिषु उपनिषद्वाक्येषु परमेश्वरकर्तृकम् ईक्षणं, तेन एतस्य पूर्णतया निगमप्रमितत्वमपि स्फुटमेव. यदि अनेन विवर्तोपादानत्वराद्धान्तो अविरुद्धः स्यात् तदैव विवर्तोपादानवादस्य वैदिकसम्मतत्वं स्वीकार्यं न अन्यथा. इतरथा शिष्टापरिगृहीतत्वम् न्यायवैशेषिकवद् अत्रापि तुल्यम् आस्थेयम्, श्रेयोर्थिनां च कृते हेयत्वोपेक्ष्यत्वे अपि. अतएव भ्रमोत्पत्तितः प्राग् ईक्षणम् आवश्यकं नवा इत्यपि विमृशामः.

तत्र न तावत् शुक्तिरजतादिविभ्रमोत्पत्तितः पूर्वं कुत्रापि ईक्षणं दृष्टिपथे आयाति, नच केनापि प्रकारेण ईक्षणावश्यकता भ्रान्तौ प्रतीयते. नहि प्रेक्षावान् कस्यापि भ्रमोद्भवतः पूर्वं ईक्षणेन सह भ्रान्तो भवति. भ्रमस्तु यदृच्छया अकस्मादेव भवतीति वस्तुतस्तु नास्त्येव विमर्शावश्यकता. तस्माद् भ्रमरूपप्रपञ्चोत्पत्तितः पूर्वं ब्रह्म सेक्षणं भ्रमात्मकं विश्वम् उत्पादयति इति कथनन्तु धिषणातिरेकविलसितमेव.

अन्यदपि अत्र विचारणीयम् : अध्यस्तं जगद् उत्पाद्य परमात्मा किमु स्वयं भ्रान्तो भवति? अथवा जीवेषु परमेश्वरो भ्रान्तिम् उत्पादयति यथा ऐन्द्रिजालिकः प्रेक्षकसमूहं भ्रान्तिम् अनुभावयति? जगन्निर्माणेक्षणकर्ता परमेश्वरः स्वयं भ्रान्तो भवति इति वचनन्तु ईश्वरस्य घोरोपहासएव! इतो अधिकस्य उपहासस्य शक्यतैव नास्ति. युक्त्यसंगतत्वमपि अस्य कथनस्य,

विचारस्य विशेषज्ञानोत्पादकत्वेन प्रत्युत भ्रमबाधकत्वात्.

अथ जगन्निर्माणेक्षणकर्तरि परमेश्वरे कारणतया वा कर्तृतया वा भ्रान्तिकारणकलापाः चेत् तदा अन्यमनस्कताकाचतिमिराद्याः भ्रान्तिकारणकलापाः देवदत्तनिष्ठाः यज्ञदत्तस्तु पुनः तैः भ्रान्तो भवति इति महत् चित्रम्! तद्वद् जीवो भ्रमानुभवं करोति इति पक्षस्यापि तर्कानुपपन्नत्वमेव. अतोहि ऐन्द्रजालिकवद् ईश्वरो हि भ्रान्तिं जनयति इत्यत्रापि तर्कानुपपत्तिस्तु तुल्यैव. यतोहि ऐन्द्रजालिकः स्वोत्पादितेषु मिथ्याभूतेषु प्रेक्षकेषु न भ्रान्तिं जनयति किमुत सत्यानेव प्रेक्षकान् मिथ्यावस्तु अनुभावयति!

तत्र प्रतिबिम्बवादेतु जीवस्य स्वयं भ्रमरूपत्वेन भ्रमानुभवकरणस्य अशक्यतैव. अवच्छेदवादपक्षे स्वल्पा खलु शक्यता, तथापि अवच्छेदवादिनस्तु जीवाश्रिताविद्यावादिनः इति एषा चर्चापि तेषाम् अनुपयोगिनी. अवच्छेदवादपक्षेतु जीवाश्रिताविद्यैव जगद्भ्रमजननी इति. तत्र ऐन्द्रजालिकवद् ईश्वरोपयोगएव नास्ति. अविद्यावच्छिन्नेन चेतनेन तथा अविद्यादोषेणैव सर्वकार्यसिद्धौ अनुभावकस्य ईश्वरस्य अजागलस्तनप्रायत्वमेव.

प्रपञ्चस्य विवर्तरूपत्वाभ्युपगमेतु इतोऽपि अधिकदोषाणां प्रसक्तिः. तत्र मुख्यतया इदम् आलोचनीयम् : ईश्वरो अपरमार्थः परमार्थो वा? परमार्थत्वपक्षेतु द्वैतापत्तिः. अपरमार्थत्वपक्षेतु एतद्भ्रमाधिष्ठानत्वेन शुद्धमेव अंगीकरणीयं किन्तु शुद्धस्य ज्ञानाविषयतया अधिष्ठानत्वम् अनुपपन्नम्. अधिष्ठानत्वानुपपत्तौतु कारणाभावाद् भ्रमाभावएव. यदि सादृश्याधिष्ठानज्ञानविषयतादि-कारणानाम् सादिभ्रमएव अपेक्षा तर्हि **''जीव ईशो विशुद्धा चित्''** (द्र. : सिद्धा.ले.सं.कृष्णा.१।१७) इत्यादिवचनैः ईश्वरभ्रमस्य अनादित्वेन अनादिभ्रमे कारणापेक्षा नास्ति इति वचनन्तु डिम्भजनव्यामोहनमात्रमेव. ''अनादिभ्रमे अधिष्ठान-दोष-रूपकारणद्वयापेक्षासत्त्वेऽपि अन्यकारणापेक्षा नास्ति, दोषजन्यत्वेऽपि अनादित्वम् अस्ति'' इत्यादिवचनानितु स्वगोष्ठीप्रसिद्ध-समयान्येव. अथ कारणद्वयापेक्षापि नास्ति इति स्वीकारेतु बौद्धशून्यवादप्रवेशएव

सुनिश्चितः. दोषजन्यत्वं च अनादित्वं चापि इतितु स्वतोव्याहतं वचनम्. अत्र विशेषजिज्ञासायान्तु श्रीभाष्यश्रुतप्रकाशिकातत्त्वमुक्ताकलापसर्वार्थसिद्धिशत-दूषण्यादीनाम् अवलोकनं परमावश्यकम्.

स्याद् एतद् न वयम् अधिष्ठानस्वरूपसत्तां भ्रमकालस्थलोभयावच्छेदेन व्यासेधामः येन सौगतसमयं प्रविशेम; अपितु अधिष्ठानज्ञातत्वापेक्षामेव **''अप्रत्यक्षेऽपि हि आकाशे बालाः तलमलिनताम् अध्यस्यन्ति''** (ब्र.सू.शा.भा.१।१।१) इति भाष्यवचनानुसारेण व्यासेधाम इति चेद्

अत्र किञ्चित् परामृश्यते : अनुद्भूतरूपवत्त्वेन चाक्षुषप्रत्यक्षाभावेऽपि यथा बालानां तलमलिनताद्यध्यासः चाक्षुषो भवति तथा अत्रापि प्रत्यक्षज्ञानाविषयतया अज्ञातेऽपि अधिष्ठाने ईश्वरभ्रमो विश्वभ्रमः च भवति इति न वक्तव्यम्, अज्ञातेऽपि अधिष्ठाने यदि भ्रमो भवति इति अंगीक्रियते तर्हि ''इदं मलिनम्'' इत्यत्र 'इदम्' इति सर्वनाम्ना कस्य परामर्शो वक्तव्यः, आकाशस्य मलिनतायाः वा? प्रथमपक्षांगीकारेतु अधिष्ठानस्य सामान्यतया ज्ञातत्वम् आयातमेवेति सर्वथा अज्ञातत्वसाधनं न उपपद्यते. द्वितीयपक्षस्वीकारेतु आकाशाश्रिताभ्रादिसम्बन्धिमलिनतायाएव 'इदम्' इत्यनेन ग्रहणात् तस्मिन्नेव तद्बुद्धिः भवतीति **''अध्यासो नाम अतस्मिन् तद्बुद्धिः''** (ब्र.सू.शा.भा.१।१।१) इति व्याख्याविरुद्धतया **''परत्र पूर्वदृष्टावभासः स्मृतिरूपः''** (तत्रैव) इति लक्षणानाक्रान्ततया च ''इदं मलिनम्'' इति प्रत्ययस्य अध्यासत्वमेव न भवेत्. तस्माद् ''इदं मलिनम्'' इति प्रत्ययस्य अध्यस्तत्वाभ्युपगमे अधिष्ठानस्य ज्ञातत्वं सामान्यतया अभ्युपेयमेव. अतः आकाशस्य अचाक्षुषत्वेऽपि मानसज्ञानविषयत्वेन सर्वथा ज्ञानाविषयता नास्ति इत्यस्मादेव हेतोः भ्रमसम्भवः. शुद्धब्रह्मणस्तु सर्वथा अज्ञातत्वेन तदधिष्ठानकभ्रमासम्भवएव.

किञ्च यादृशो विषयो यस्मिन् भ्रमे यत्र अधिष्ठाने आरोप्यते तादृशेनैव तेन अधिष्ठानेन तत्र भवितव्यम्. यथा चाक्षुषे चाक्षुषं, श्रावणे श्रावणम्

इत्यादि. सोऽयं नियमः शास्त्रशब्दैकगम्ये ब्रह्मणि सकलेन्द्रियग्राह्यस्य विश्वभ्रमस्य उपलब्धेः भग्नो भवति.

इदम् अत्र अवधेयं : पञ्चेन्द्रियग्राह्यभ्रमेषु प्रत्येकेन्द्रियग्राह्यभ्रमे एतन्नियमस्य नियतत्वेऽपि मनसस्तु सर्वेन्द्रियनियामकत्वेन सर्वेन्द्रियसम्बद्धत्वेन मनोग्राह्ये अधिष्ठाने मानसइव चाक्षुषादिभ्रमोऽपि सम्भवति. अतएव विप्रयुक्तस्य ''प्रासादे सा पथि-पथि च सा'' इत्याकारकविरहानुभवे मनोग्राह्यएव अधिष्ठाने चाक्षुषभ्रमोऽपि दृश्यते. अतो न अस्मदुक्तस्य अनुपपन्नत्वम् इति. एवंहि अभ्युपगमएव ''इदम् मलिनम्'' इति प्रत्ययस्य भ्रमत्वं सम्भवेद् अन्यथातु वियदाश्रिताभ्रादिमालिन्यस्य 'इदमा' परामर्शे तु भ्रमलक्षणानाक्रान्तत्वेन वियन्मालिन्यस्य अध्यासत्वमेव न उपपन्नं भवेद् इति अधस्ताद् उपपादितम्.

एतत्तु प्रौढ्या कृत्वाचिन्तया उक्तम्. अत्र अन्यदपि किञ्चिद् वक्तव्यम् अवशिष्यते : अवकाशरूपस्य आकाशस्यतु प्रत्यक्षत्वमेव अनुभूयते. अन्यथातु गृहनिर्माणादिक्रियाया गमनोपवेशनादिक्रियायाअपि असम्भवः. चक्षुषा दृश्यमानो अवकाशस्तु न पृथिव्यां न जले न तेजसि नवा वायौ अन्तर्भूतो भवति, पृथिव्यादिभिन्नतयैव स्पष्टतया दृश्यमानत्वात्. तत्तल्लक्षणासम्बद्धतयापि पृथिव्यादिभिन्नत्वम् अवकाशस्य. अवकाशदर्शनाभावे आधेयभूता मलिनतापि न दृश्येत इति अभ्रादिमालिन्याधारभूतस्य अवकाशरूपस्य आकाशस्य चाक्षुषत्वमेव अंगीकरणीयम्. एतावता अज्ञातत्वम् अधिष्ठानस्य निरस्तं ज्ञातत्वमेव सिद्धम्.

ननु अनुद्भूतरूपवत्त्वेन वायुः यथा अप्रत्यक्षः तथा अनुद्भूतरूपवत्त्वेन आकाशस्यापि अप्रत्यक्षत्वमेव उचितमिति कथम् एवम् उच्यते? इति चेत्, तुल्ये अनुद्भूतरूपवत्त्वेऽपि उभयोः एकस्य चाक्षुषप्रत्यक्षविषयत्वम् अन्यस्य न इत्यत्रापि किञ्चित् कारणं वक्तव्यम्. अवकाशरूपस्य आकाशस्य प्रत्यक्षसिद्धत्वेन उभयोः वैलक्षण्यं प्रत्यक्षम् अनुभूयते. अन्ततोगत्वा कश्चन स्वभावविशेषएव नियामकतया अंगीकार्यो येन वैलक्षण्यम् उपपद्येत.

अतिनिबिडान्धकारे मनसि कल्पिते मनोग्राह्यएव अधिष्ठाने कदाचित् कस्यापि कान्दिशीकस्य भावनाप्रकर्षेण चाक्षुषपिशाचादिभ्रमो भवति इति मनोग्राह्ये अधिष्ठानेऽपि चाक्षुषादिभ्रमो भवति इति अस्मदुक्तनियमस्यैव स्थैर्यम्.

अत्र पुनः किञ्चिद् उच्यते : विशेषतो विमर्शेतु अधिष्ठानस्य अज्ञातत्वं अन्ततोगत्वा भ्रमानुपयोगित्वएव पर्यवस्यति. भ्रमस्य प्रसिद्धिः अपारमार्थिकी सत्तापि भ्रान्ताधीनैव; यतो योहि भ्रमानुभवं करोति तदधीनैव भ्रमस्य प्रसिद्धिः अपारमार्थिकी च सत्ता वाच्या. अन्याधीनातु सत्ता नैव निरूपयितुं शक्या अन्यथा भ्रान्तसहवर्तिनामपि भ्रमानुभवो दुर्निवारएव भवेदिति शुक्त्यादिषु रजतादिकं सर्वैः अनुभूयेत्. अतो भ्रमप्रसिद्धिः अपारमार्थिकी सत्ता च भ्रान्ताधीनैव निरूप्या. भ्रमस्वरूपनिर्वाहोऽपि भ्रान्ताधीनएवेति यद् भ्रमप्राक्क्षणे भ्रमसमये वा भ्रान्तानुभूत्यगोचरं तद् भ्रमानुपयोगि इति अनिच्छयापि सिध्यति. एवम् अनुपयोगित्वसिद्धौ भ्रमसमये अधिष्ठानस्वरूपस्थितिः अप्रयोजिकेति निरधिष्ठानकभ्रमप्रसिद्धया तुर्यबौद्धचातुर्यमुखरत्वप्रसंगः. अतः सिद्धम् एतद् ''इदं मलिनम्'' इति प्रत्ययस्य भ्रान्तित्वम् अधिष्ठानसामान्यज्ञानेनैव सिध्यति. अन्यथातु सद्वस्त्ववगाहितया प्रमारूपत्वं दुर्वारमेव. अतः अप्रत्यक्षतोक्तिस्तु चिन्त्यैव.

यद् जैनादयो व्यक्तशत्रुत्वं प्रदर्शयन्त ईश्वरकारणत्वं खण्डयन्ति विवर्तवादिनस्तु स्वगृहस्थितगुप्तशत्रुवत् छद्मेण परमेश्वरास्तित्वं प्रतिषेधन्ति ननु तदपि ब्रह्मकारणत्वोपगमेन सहेति ब्रह्मणस्तु **''यतो वा इमानि भूतानि जायन्ते येन जातानि जीवन्ति यत् प्रयन्ति अभिसंविशन्ति... तद् विजिज्ञासस्व तद् ब्रह्म''** (तैत्ति.उप.३।१) इति श्रुतिबोधिताः सृष्टिजनकता सृष्टिपालकता, परमेश्वरता इति यावत्, सृष्टिलयोपादानता इत्येवमादिश्रौतधर्माः ध्रुवं निरस्ताः. ब्रह्म कारणं नास्ति इति स्पष्टतया कथनं श्रौतस्य ब्रह्मणः सर्वजनश्रोत्रगम्यो अनंगीकारः. एतद्वैपरीत्येन ''ब्रह्मणः कल्पितं कारणत्वम्'' इति कथनन्तु तस्य श्राव्यमाणेन कारणत्वजल्पनेन श्रोतृजनवञ्चनमेव. दृष्टान्तरूपेण कस्यचन व्यक्तिविशेषस्य पाण्डित्येन विरोधे ''एतस्मिन् पाण्डित्यं

नास्ति'' इत्येवं निन्दनं स्पष्टो विरोधः; तथैव, ''एतस्मिन् पाण्डित्यं जनैः स्वेन वा कल्पितम्'' इत्येव जल्पनन्तु छद्मो विरोधः. एवमेव जैनादिविरोधप्रकारो अद्वैतिविरोधप्रकारतः उत्कृष्टः इति अंगीकार्यमेव. अतएव साधूक्तं सर्वतन्त्रस्वतन्त्रैः मीमांसासरसीरुहसहस्रांशुरूपैः श्रीपार्थसारथिमिश्रैः ''**तद् वरम् अस्माद् मायावादाद् माहायानिकवादः**'' (शा.दी.१।१।५) इति.

तदेतत् सर्वं विमृश्य एवम् अस्माभिः निर्णीयते यत् प्रकृतेः स्वातन्त्र्यं सत्यत्वं च स्वीकृत्य प्रकृतिः जगत्कारणम् इति सांख्यसिद्धान्तः. प्रकृतेः अनिर्वचनीयत्वम् अंगीकृत्य वचनमात्रेण ब्रह्मपारतन्त्र्यं प्रदर्श्य, ब्रह्मणः प्रकृतिपारतन्त्र्यं प्रदर्शयित्वा अनीश्वरतुल्यतां च साधयित्वा सर्वथा कर्तृत्व-कारणत्वादि-धर्मशून्यतां शुद्धब्रह्मणः च स्वीकार्य ''**प्रकृतेः क्रियमाणानि**''(भग.गीता.३।७) तथा ''**तस्य कर्तारमपि माम्**'' (भग.गीता.-४।१३) इति गीतावाक्यद्वयस्यापि अन्यथार्थं कृत्वा ''सविशेषणे हि प्रसक्तौ विधिनिषेधौ विशेषणमेव उपसंक्रामतो विशेष्ये बाधके सति'' इति न्यायेन ब्रह्मकारणताम् अपह्नुत्य प्रकृतेः जगत्कारणत्वप्रतिपादनं हि ब्रह्मकारणतानिषेधायैव विवर्तोपादानवादिनाम् अद्वैतिनां सिद्धान्तः पर्यवसन्नः.

तुल्यतया सांख्यन्यायवैशेषिकवद् ब्रह्मोपादानकारणतायाः अद्वैतेऽपि विरोधः. अतः ''**एतेन शिष्टापरिग्रहा...**'' इत्यादिसूत्रभाष्ये उक्तो निर्णयः स्वसिद्धान्तेनापि सम्बध्यते इति अविस्मरणीयम् अद्वैतिभिः.

तस्माद् इदं निष्प्रत्यूहं सिद्धं यद् अभिन्ननिमित्तोपादानवादिनएव ब्रह्मवादिनः इति अस्मदुक्तं सर्वमपि निरवद्यम्.

'सगुण'-'निर्गुण'शब्दार्थविमर्शः :

इह हि विविधवृजिनतापोपतप्यमाननिखिलजनापवर्गाय शास्त्रे श्रवणादयः प्रतिपाद्यन्ते. तेषां विषयः च ब्रह्मैव तत् सगुणं निर्गुणं वा? इति भवति विचिकित्सा.

तत्र तावद् ''**अस्थूला...**'' (बृह.उप.३।८।८) इत्यादिश्रुतेः निर्गुणमेव इति अद्वैतिनः. ''**परा अस्य शक्तिः विविधैव श्रूयते स्वाभाविकी ज्ञानबलक्रिया च**'' (श्वेता.उप.६।८), ''**एतस्य वा अक्षरस्य प्रशासने...**'' (बृह.उप.३।८।९) इत्यादिश्रुतिभ्यो अप्राकृतनिखिलधर्मरूपम् इति ब्रह्मवादिनः.

एतन्निर्णयस्य, किन्तु, 'सगुण'-'निर्गुण'शब्दार्थविचारनान्तरीयकत्वेन पुरस्तात् 'सगुण'-'निर्गुण'शब्दार्थविचारः समीक्ष्यते. 'सगुण'-'निर्गुण'शब्दार्थयोः प्रकारद्वयं शास्त्रेषु समुपलभ्यते : एकः तावद् अद्वैतिमतरीत्या अन्यः शैववैष्णवमतरीत्या. अद्वैतिप्रकारे मायिकगुणयुक्तत्वं 'सगुण'शब्दस्य अर्थः सर्वथा गुणधर्मादिशून्यत्वं 'निर्गुण'शब्दस्य च अर्थः. शैववैष्णवप्रकारेतु अप्राकृत-दिव्य-गुणधर्मयुक्तत्वं 'सगुण'शब्दस्य अर्थः प्राकृतगुणराहित्यं च 'निर्गुण'शब्दस्य अर्थः. एतत्प्रकारद्वये कस्य श्रुत्यभिप्रेतत्वेन श्रुतिसिद्धत्वम् एतावदेव विमृश्यम्.

तैत्तिरीयनारायणोपनिषदि ''**अम्भस्य पारे...**'' इत्यारभ्य ''**तदेव ब्रह्म परमं कवीनाम्**'' (महाना.उप.१।१-६) इत्यन्तैः श्रुतिवाक्यैः सकलजगदुत्पादकत्वाऽऽदित्यादिप्रकाशकत्वाऽन्तःप्रविष्टत्व - समुद्रान्तःशायित्व-परत्वाद्यनेकैः धर्माः ब्रह्मणि सन्ति इति प्रदर्श्य एतद्गुणयुक्तस्यैव ज्ञानिसम्मतपरब्रह्मत्वम् इत्येतद् विद्वद्रूढ्या साधितम्. अत्र अप्राकृतनिखिलधर्मरूपस्यैव ज्ञानिसम्मतपरब्रह्मत्वसाधनेन तस्य गुणशून्यत्वाभ्युपगमस्तु विपर्यासएव इति सुस्पष्टं श्रुत्यैव सिध्यति इति वैष्णवमतस्यैव श्रुतिसम्मतत्वम्. नारायणपरब्रह्मत्वसिद्धान्तोऽपि श्रुत्यैव सिध्यति इति समुद्रान्तःशायित्वधर्मेण अयं समुद्रान्तःशायी नारायणएव परं ब्रह्म इति साधयित्वा तदेव ज्ञानिनां परब्रह्म इति साधनं वैष्णवमतस्यैव श्रुतिसम्मतत्वे प्रबलं प्रमाणम् इति दृश्यते. नारायणपरब्रह्मत्ववादोऽपि वैष्णवसम्मत'सगुण'-'निर्गुण' शब्दार्थानुकूलएव नतु अद्वैतिसम्मत'सगुण'-'निर्गुण'शब्दार्थानुकूलः.

ऋग्वेदस्थविष्णुसूक्ते ''**विष्णोर्नु कं वीर्याणि प्रवोचं यः पार्थिवानि**

विममे रजांसि'' (ऋक्संहि.१।१५४।१) इत्यनया श्रुत्या अनन्तगुणविशिष्टमेव ब्रह्मस्वरूपं सिध्यति. अस्यैव अनुवादो श्रीमद्भागवते ''**यो वा अनन्तस्य गुणान् अनन्तान्**'' (भाग.पुरा.११।४।२), ''**विष्णोर्नु वीर्यगणनां कतमो अर्हति इह**'' (भाग.पुरा.२।७।४०) इत्यत्र च कृतः. प्रदर्शितप्रमाणैः अप्राकृतदिव्यगुणधर्मयुक्ततैव ब्रह्मणः साधिता नतु गुणधर्मशून्यता.

''**परा अस्य शक्तिः विविधैव श्रूयते स्वाभाविकी ज्ञानबलक्रिया च**'' (श्वेता.उप.६।८) इत्यत्र 'अस्य' इति पुंल्लिंगप्रयोगः 'स्वाभाविकी' इति पदप्रयोगश्च औपाधिकगुणवादोन्मूलनार्थं पर्याप्तः. ब्रह्मसूत्रदृष्ट्या विचारेतु मायिकगुणाभ्युपगन्तृमते ईक्षत्यधिकरणे सांख्यमतनिरासस्य वैयर्थ्यमेव. कथम्? इति चेत् ''**सविशेषणे हि प्रसक्तौ विधिनिषेधौ विशेषणमेव उपसंक्रामतो विशेष्ये बाधके सति**'' इति न्यायेन अद्वैतिमतेऽपि ईक्षणात्मकगुणस्य प्रकृतिपर्यवसायित्वमेव अभ्युपगन्तव्यम्.

सांख्यमते ब्रह्मानधिष्ठितायाः प्रकृतेः ईक्षणम्, अद्वैतिमतेतु ब्रह्माधिष्ठितायाः प्रकृतेः ईक्षणम् इति एतदुत्तरमपि अनुत्तरमेव, व्याससिद्धान्तप्रक्रियाविरोधित्वात्. ईक्षणस्य ब्रह्मेतरप्रकृतिपर्यवसायित्वे व्याससिद्धान्तविरोधारम्भः. ईक्षणस्य प्रकृतिपर्यवसायित्वे गौणता अनिवार्या भवतीति ''**गौणः चेद् न, 'आत्म'शब्दाद्**'' (ब्र.सू.१।१।५) इति सूत्रोक्तव्यासाशयविरोधित्वं सुव्यक्तमेव अद्वैतिमते. अन्यच्च ''**अपिच क्वचिद् गौणः शब्दो दृष्टः नच एतावता शब्दप्रमाणके अर्थे गौणी कल्पना न्याय्या, सर्वत्र अनाश्वासप्रसंगाद्**'' (यथापूर्वम्) इत्याद्यनेकस्ववचनविरोधोऽपि अत्र समायाति. ''**दूरे गुणाः तवतु सत्त्वरजस्तमांसि तेन त्रयी प्रथयति त्वयि निर्गुणत्वम्. नित्यं, हरे!, निखिलसद्गुणसागरं त्वाम् आमनन्ति परमेश्वरम् ईश्वराणाम्**'' (   ) इत्यत्र या 'सगुण'-'निर्गुण'शब्दार्थव्याख्या वैष्णवसम्मता सैव श्रुतिसम्मता इति निष्प्रत्यूहं सिद्धम्.

''अदृश्यत्वाद्युक्तेः गुणशून्यो धर्मराहित्योक्तेः च'' एवं सूत्रम् अनुपन्यस्य

''**अदृश्यत्वादिगुणको धर्मोक्तेः**'' (ब्र.सू.१।२।२१) इत्येवं सूत्रोपन्यासएव व्याससम्मत'सगुण'-'निर्गुण'शब्दार्थौ निर्णये पर्याप्तः. अनेनैव सूत्रेण ''**यत् तद् अद्रेश्यम्...**'' (मुण्ड.उप.१।१।६) इत्यादिश्रुत्याशयोऽपि सौकर्येण अवबुद्ध्यते. एतेषां वचनानां अलौकिकगुणसिद्धावेव तात्पर्यं नतु गुणशून्यत्वसिद्धौ. श्रुतिगीतासूत्रभागवतरामायणमहाभारतादिभिः सर्वैरपि प्रमाणभूतग्रन्थैः ब्रह्मगुणोद्घोषः क्रियते. किमर्थम् एतावान् अद्वैतिनामेव ब्रह्मगुणविद्वेषः इति कृतेऽपि प्रयासे न बुद्धिपथम् आरोहति!

''**अस्थूलम् अनणु अह्रस्वम्**'' इत्यादिश्रुतेरपि न सर्वगुणनिषेधे तात्पर्यम्. अन्यथा ''**एतस्य वा अक्षरस्य प्रशासने**'' (यथोक्ते) इति श्रुतौ 'प्रशासनो'क्तिरेव जरद्गववाक्यतुल्या भवेत्. अतएव सर्वलौकिकगुणनिषेधपूर्वकं प्रशासनाद्यलौकिकगुणविधानएव हृदयं श्रुतेः व्यक्तम् अनुभूयते.

''**यदा पश्यः पश्यते रुक्मवर्णम्**'' (मुण्ड.उप.३।१।३) इति श्रुतावपि 'रुक्मवर्ण'इत्यादिविशेषणपञ्चकं चमत्कृतिजनकम् अनेकार्थगर्भितं विशिष्टार्थवद् अस्ति. 'रुक्मवर्णम्' इति विशेषणेन ''**दिवि सूर्यसहस्रस्य भवेद् युगपदुत्थिता**'' (भग.गीता.११।१२) ''**आदित्यवर्णं तमसः परस्तात्**'' (भग.गीता.८।९) इत्यादिवाक्यानां प्रत्यभिज्ञानं भवति. एवम् अस्य विशेषणस्य नारायणपरतत्त्वनिर्णायकत्वं वैष्णवमतपोषकत्वं शैवमतालोचकत्वं च उपलभ्यते. ''**कर्तारं योनिम्**'' इति विशेषणद्वयस्य अभिन्ननिमित्तोपादानसिद्धान्तसमर्थकत्वम् अस्ति. '**पुरुषं रुक्मवर्णम्**' इति विशेषणद्वयस्य अद्वैतालोचकत्वं वैष्णवसिद्धान्तसमर्थकत्वं च उपलभ्यते. 'ईशम्'इति विशेषणमपि अद्वैतिस्वीकृतराद्धान्तालोचकं वैष्णवाभ्युपेतसगुणवादोपोद्बलकम् अवलोक्यते. अत्र विशेषणार्थक्रमस्तु इत्थम् : 'ईशः'इति प्रथमं विशेषणम्, एतेन ब्रह्मण ऐश्वर्यगुणवैशिष्ट्यं सिद्धम्. तदनन्तरं नैयायिकवैशेषिकान् प्रति एतदैश्वर्यव्यक्तप्रदर्शनपरम् अभिन्ननिमित्तोपादनतासमर्थकं 'कर्तारं योनिम्' इति विशेषणद्वयम् अस्ति. तदनु दैवमीमांसाप्रत्यभिज्ञापकं 'पुरुषं रुक्मवर्णम्' इति विशेषणद्वयं वरीवर्ति.

एतेन एतद् अध्यवसितं यत् परब्रह्म महाविष्णुः नारायणः कृष्णएव.

एतच्छ्रुतिविमर्शेन सर्वाधिकलाभस्तु अयं संवृत्तो यद् एतादृशविशेषणविशिष्टब्रह्मदर्शनस्यैव मोक्षसाधकत्वं प्रदर्शितम्. एतद्दर्शनमपि 'पश्य' इति पदेन, न ज्ञानिनो नापि भ्रान्तस्य,इति तत्त्वज्ञानसामयिकम् एतत् न भ्रमसामयिकम्. अविद्यारोपितसकलानर्थमूलसांसारिकभ्रान्तिप्रत्ययनिवारकन्तु तत्त्वज्ञानमेव भवति नतु अतत्त्वज्ञानम्. अन्यथा अद्वैतसिद्धौ दृश्यत्वहेतोः परिष्कृतरूपकथनावसरे **''शब्दाजन्यवृत्तिविषयत्वं दृश्यत्वम्''** (अद्वै.सि.१।दृश्यत्वहेतु.) इत्येव उक्तहेतोः परिष्कृतस्वरूपं विवरणानुयायिनो न प्रतिपादयेयुः किन्तु भामतीमतानुसारेण वृत्तिव्याप्यस्य मिथ्यात्वमेव तैः अंगीक्रियेत. किन्तु ''तत्त्वज्ञानमेव मोक्षसाधनम्'' इति सिद्धान्तं द्रढयितुं विवरणानुसारिविद्वद्भिः भामत्यनुयायिसाजात्यं परित्यक्तम्. अतो यदि एतद्गुणविशिष्टं ब्रह्मदर्शनं शुद्धदर्शनम् इति अंगीक्रियेत तदैव तस्य मोक्षसाधनत्वं नतु शबलदर्शनतया. शबलस्यतु मायाकामधेनुवत्सरूपत्वेन स्वयं भ्रमरूपतया तद्दर्शनस्य मोक्षसाधनत्वं कथं शक्यम्?

एतेन सर्वोत्तमस्तोत्रमंगलाचरणरूपा ''**प्राकृतधर्मानाश्रयम् अप्राकृतनिखिलधर्मरूपं निगमप्रतिपाद्यं... स्तौमि**'' इत्येषा श्रीमत्प्रभुचरणप्रतिज्ञा सुस्थिरैव. एवं वैष्णवसम्मतसगुणनिर्गुणव्याख्यायाः वेदानुकूलयुक्तिसंगतत्वं प्रादर्शि. अतएव श्रीमदुसूदनसरस्वत्यः श्रीगीताव्याख्यायां एतदेव समर्थयन्ति ''**पराकृतनमद्बन्धं परब्रह्म नराकृति सौन्दर्यसारसर्वस्वं वन्दे नन्दात्मजं महः**''. (भग.गीता.मधुसू.-१४।२७) इति. अत्र 'परब्रह्म-नराकृति' इति पदद्वयम् अप्राकृतनिखिलधर्मरूपं शुद्धं तथा साकृति इति श्रीप्रभुचरणोक्तशब्दैः सह सर्वथा समानार्थकमिति अभिन्नमेव तात्पर्यम् उभयोरपि महानुभावयोः. श्रीमधुसूदनसरस्वतीनां हृदयं सर्वथा वैष्णवभावपरिपूर्णम्. एतत्साक्षितया भिन्नभिन्नस्थलीया तदुक्तिरेव अस्माभिः उपन्यस्यते. तत्र तावद् गीताव्याख्यायां ''**प्रमाणतोऽपि निर्णीतं कृष्णमाहात्म्यम् अद्भुतं न शक्नुवन्ति ये सोढुं ते मूढाः निरयंगताः**'' (भग.गीता.मधुसू.१५।२०) इति उक्तिः सर्वथा वैष्णवभावपरिपूर्णता तेषां दर्शयति. अद्वैतसिद्धावपि निर्गुणवादानन्तरम् अव्यवहिततया ''**वंशीविभूषितकराद् नवनीरदाभात् पीताम्बराद् अरुणबिम्बफलाधरोष्ठात् पूर्णेन्दुसुन्दरमुखाद्**

अरविन्दनेत्रात् कृष्णात् परं किमपि तत्त्वम् अहं न जाने'' (अ.सि.२।ब्र.ज्ञा.) इति पद्ये प्रौढिपूर्विका स्पष्टोक्तिरपि तेषां हृदयं परमवैष्णवभावपरिपूर्णम् इति परिचाययति. तथा 'सगुण'-'निर्गुण'शब्दार्थयोः व्याख्या वैष्णवसम्मतैव तेषां हृदये अस्ति इति प्रमाणयति.

सगुणनिर्गुणश्रुति-वाक्यव्यवस्था-विचारे अपच्छेदन्यायस्य अनियतविरोधपौर्वापर्यविषयतया अप्रसरइति गुणप्रतिपादकवचनानाम् अबाध्यत्वम्. अतो अस्मदभ्युपेतावेव 'सगुण'-'निर्गुण'शब्दार्थौ व्यवस्थापयति इति सर्वम् अस्मदुक्तं निरवद्यम्. इति शम्.

पुरुषोत्तमस्य प्रसादभक्तिलभ्यत्वम्:

''**न अयम् आत्मा प्रवचनेन लभ्यो, न मेधया न बहुना श्रुतेन, यमेव एष वृणुते तेन लभ्यः, तस्य एष आत्मा विवृणुते तनूं स्वाम्**'' (मुण्ड.उप.३।२।३) इत्यत्र 'प्रवचन'पदं वेदवाचकं, वाच्यतासम्बन्धेन वेदोक्तयावत्कर्मज्ञानभक्त्यादिसाधनानां ग्रहणम् उपलक्षणविधया भवति. तेन अयम् आत्मा न वेदोक्तसाधनैः लभ्यो, नवा पुरुषनिष्ठान्यस्वाभाविकसाधनैः लभ्यो, नापि आगन्तुकसाधनैः लभ्यः इत्येतस्य सिद्धान्तस्य श्रुत्या सिद्धिः. तस्यैतस्यैव परमात्मनः कठोपनिषदि ''**सर्वे वेदा यत्पदम् आमनन्ति**'' (कठोप.२।१५) इति प्रतिपादनम्. श्रुतीनाञ्च एतासां भगवद्गीतया सह एकवाक्यतासम्पादने तु पुष्टिलभ्यतैव परमात्मनो निश्चिता भवति. पुष्टिभक्तेः अनुग्रहलभ्यत्वम् अनुग्रहापरपर्यायभूतायाः कृपायाः वरणलभ्यत्वं, वरणस्य इच्छाधीनत्वम्, एतेन मुख्यसाधनतातु इच्छायां पर्यवसिता, अवान्तरव्यापाररूपसाधनतातु पुष्टिभक्तौ. अतः ''**सर्वे वेदा यत्पदम् आमनन्ति**'' (कठोप.२।१५) इति श्रुतिप्रतिपाद्यमेव स्वरूपं ''**वेदैः च सर्वैः अहमेव वेद्यः**'' (भग.गीता.१५।१५) इति वाक्येन प्रतिपाद्यम् इति उक्तं भवति. स्वरूपस्यास्य प्राप्तिस्तु कथम्? इति आकांक्षापूर्तये ''**न अहं वेदैः न तपसा**'' (भग.गीता.११।५३) इति उक्त्वा ''**भक्त्यातु अनन्यया शक्यः**'' (भग.गीता.११।५४), ''**पुरुषः स परः, पार्थ!, भक्त्या लभ्यस्तु अनन्यया**''

(भग.गीता.८।२२) इति उक्तम्. अत्र प्रतिपादितः परः पुरुषो नान्यः कश्चन किन्तु "**अतो अस्मि लोके वेदे च प्रथितः पुरुषोत्तमः**" (भग.गीता.१५।१८), "**परं ब्रह्म परं धाम पवित्रं परमं भवान्**" (भग.गीता.१०।१२) इत्यादिवाक्यैः प्रतिपाद्यः कृष्णएव. इयम् अनन्यभक्तिरपि न पुष्टिभक्त्यतिरिक्ता किन्तु अनतिरिक्तैव. "**मयि आवेश्य मनो ये माम्**" (भग.गीता.१२।२), "**मन्मना भव मद्भक्तः**" (भग.गीता.९।३४—१८।६५) इत्यादिवचनानि सूत्रीकृत्य तद्भाष्यरूपत्वेन यदि "**तन्मनस्काः तदालापाः**" (भाग.पुरा.१०।३०।४४) इति वचनं गृह्येत चेद् अनन्यभक्त्यनतिरिक्तैव पुष्टिभक्तिः इति निश्चीयते. श्रीमद्भागवतेऽपि अस्य स्वरूपस्य अनुग्रहभक्त्यादिलभ्यत्वमेव प्रदर्शितं नतु साधनलभ्यत्वं, "**यद् न योगेन सांख्येन**" (भाग.पुरा.११।१२।९), "**सर्वं मद्भक्तियोगेन मद्भक्तो लभते**" (भाग.पुरा.११।२०।३३), "**सोऽहं तव अंघ्र्युपगतो अस्मि, असतां दुरापं तच्चापि अहं भवदनुग्रहः ईश मन्ये**" (भाग.पुरा.१०।४०।२८), "**तस्माद् मद्भक्तियुक्तस्य योगिनो वै मदात्मनो न ज्ञानं नच वैराग्यं प्रायः श्रेयो भवेद् इह**" (भाग.पुरा.११।२०।३१), "**न अयं सुखापो भगवान् देहिनां... यथा भक्तिमताम् इह**" (भाग.पुरा.१०।९।२१), "**प्रीयते अमलया भक्त्या हरिः**" (भाग.पुरा.७।७।५२) इत्यादिवचनानि अस्मदुक्तसाधकान्येव उपलभ्यन्ते.

इदम् अत्र अवधेयं : "**तद्विस्तारो भागवतम्**" (त.दी.नि.२।२२१) इति श्रीमदाचार्योक्त्या भगवद्गीताविस्तारत्वमेव भागवतस्य. यदि गीतोक्तोक्तं सूत्रोपमवाक्यं भाष्यरूपभागवतवाक्यैः व्याख्याततया अवलोक्यते, तर्हि विशेषानन्दो अनुभूयते इति सर्वसुज्ञजनविदितम्. उदाहरणरूपेण यदि "**न अयम् आत्मा... यमेव एष वृणुते तेन लभ्यः...**" (मुण्ड.उप.३।२।३) इति श्रुतिवचनं सूत्रत्वेन परिकल्प्य तद्वृत्तितया "**न अहं वेदैः न तपसा...**" (भग.गीता.११।५३) इति वाक्यं व्यवस्थाप्य पूर्वोक्तसूत्रवृत्त्योः भाष्यत्वेन यदि "**न रोधयति मां योगो न सांख्यं धर्मएव च न स्वाध्यायतपस्त्यागो न इष्टापूर्तं न दक्षिणा व्रतानि यज्ञः छन्दांसि तीर्थानि नियमाः यमाः ... ते न अधीतश्रुतिगणाः... माम् ईयुः अञ्जसा... यद् न योगेन सांख्येन दानव्रततपोऽध्वरैः व्याख्यास्वाध्यायसंन्यासैः प्राप्नुयाद् यत्नवानपि**" (भाग.पुरा.११।१२।१-९), इत्यादिवाक्यानि उपयुज्येरन्, तर्हि उत्तरोत्तराणां श्रुतिस्मृतिसूत्रभागवतानां पूर्वपूर्वसन्देहवारकताम् अवलोक्य निरतिशयां चमत्कृतिम् अनुभवेम.

किञ्च "**भक्त्या लभ्यस्तु अनन्यया**" (भग.गीता.८।२२) इति सूत्रभाष्यत्वेनापि पूर्वनिर्दिष्टवचनसन्दर्भोपयोगो भवति. "**मयि आवेश्य मनो ये माम्**" (भग.गीता.१२।२) इत्यादिसूत्रभाष्यरूपेणापि "**तन्मनस्काः तदालापाः...**" (भाग.पुरा.१०।३०।४४), "**ताः न अविदन्**" (भाग.पुरा.११।१२।१२) इत्यादीनि वचनानि योज्यानि. एतदुदाहरणानुरोधेन अधिकालोचने कृते सति विशेषप्रकाशोपलब्धिरपि भवति. अतएव श्रीमदाचार्यैः "**उत्तरं पूर्वसन्देहवारकम्**" (त.दी.नि.१।८) इति राद्धान्तो अंगीकृतः.

यद्यपि पूर्वपूर्वसन्देहवारकता प्रमाणचतुष्टयेऽपि अस्ति तथापि श्रीगीताभाष्यत्वेन श्रीभागवतस्य व्यवस्थापनं किञ्चिद्विशेषदृष्ट्या अन्येषान्तु केवलपूर्वसंशयनिरासकत्वमेव. भागवतस्यतु भाष्यत्वमपि भाष्यलक्षणाक्रान्तत्वात्. एतावता अनुग्रहभक्त्यादिलभ्यत्वं परमात्मनः प्रसाधितम्.

इदानीम् अन्याचार्यमतालोचनमपि कार्यम्, आवश्यकत्वात् : तत्र तावत् प्रथमम् एतत्सम्बन्धि श्रीमच्छंकरभगवत्पूज्यपादमतमेव आलोच्यते. बृहदारण्यकभाष्ये श्रीभगवत्पादाः निरूपयन्ति :

> "**तस्मात् तार्किकचाटभटराजाप्रवेश्यम् अभयं दुर्गम् इदम् अल्पबुद्ध्यगम्यं शास्त्रगुरुप्रसादरहितैः च. 'कस्तं मदामदं देवं मदन्यो ज्ञातुम् अर्हति'. 'देवैरत्रापि विचिकित्सितं पुरा'. 'नैषा तर्केण मतिः आपनेया' इति वरप्रसादलभ्यत्वश्रुतिस्मृतिवादेभ्यः च. 'तद् एजति तद् न एजति' इत्यादिविरुद्धधर्मसमवायित्वप्रकाशकमन्त्रवर्णेभ्यः च**".

(बृह.उप.शां.भा.२।१।२०)

ननु एतद्वचनतात्पर्यविषयीभूतो अर्थः किं ब्रह्मरूपः उत जीवब्रह्मात्म्यैक्यरूपः? यद् दुर्गं तत्तु अभयम् अल्पबुद्ध्यगम्यं तार्किक-दस्युराजाप्रवेश्यं शास्त्रगुरुप्रसादरहितैरपि अगम्यम् इति निरूप्य एतत्स्वरूपस्य साधनालभ्यत्वं तर्काद्यगम्यत्वं च प्रदर्श्य केवलवरप्रसादलभ्यत्व-स्थापनं तथा उक्तसिद्धान्तसमर्थकत्वेन विरुद्धधर्माश्रयत्वदृढीकरणं शुद्धाद्वैतब्रह्म-वादप्रवेशरूपं पुष्टिमार्गप्रवेशरूपम् इति अतिरोहितम् एतत्.

''**अपराधसहस्रभाजनं... अगतिं शरणागतं कृपया केवलम् आत्मसात् कुरु**''(आळ.स्तो.४८) इति श्रीयामुनेयोक्तिः, ''**भवतु मम परस्मिन् शेमुषी भक्तिरूपा**'' (श्रीभाष्यमंगला.) इति श्रीयतिराजोक्तिरपि श्रीयतिपतिसमयस्य अस्मत्समयानुकूल्यसाधने पर्याप्ता इति स्पष्टम्. स्वल्पएव मतभेदो अस्माकम्.

यदि उच्येत ब्रह्मणो वरणलभ्यत्वं कृपालभ्यत्वं वा इति न श्रीशंकराचार्याभिप्रेतं किन्तु ब्रह्मात्माद्वैतज्ञानस्यैव वरप्रसादलभ्यत्वं तदभिप्रेतम्. एतदपि आलोचनीयं : किम् अत्र ब्रह्मात्माद्वैतज्ञानं परोक्षम् अपरोक्षं वा? यदि तत् परोक्षं तदा तस्य मीमांसितागमजन्यत्वं स्वीकार्यम्. अत्रतु '**शास्त्रगुरुप्रसादरहितैः**' इति विशेषणेन न परोक्षं ज्ञानं सूचितम्. ''**वरप्रसादलभ्यत्वश्रुतिस्मृतिवादेभ्यः च**'' इति वचनेन अपरोक्षज्ञानसूचनस्यापि श्रीशंकराचार्याशयगोचरत्वं विद्यतएव. यदि अपरोक्षं ज्ञानम् अत्र विवक्षितं चेत् तदापि तत् ब्रह्मभिन्नं वा ब्रह्माभिन्नं वा? भिन्नत्वेतु द्वैतापत्तिः. अभिन्नत्वेतु प्रसादलभ्यत्वस्य स्वरूपपर्यवसानमेव सञ्जातमिति निष्प्रत्यूहा अस्मन्मतसिद्धिः. एतावता पुरुषोत्तमस्य प्रसादभक्तिलभ्यत्वं सिद्धम्.

श्रीकनकदासादिभक्त्यैव परितुष्टा कृष्णमूर्तिः, परिवर्तिता भित्तिरपि भग्ना एतत् कृपालभ्यत्वमेव, नान्यत् किमपीति; एवं माध्वमतस्यापि आनुकूल्यम्. सर्वेषामपि मतानाम् अत्र आनुकूल्यं, प्रातिकूल्यन्तु न कस्यापि.

भगवद्गीतातु डिण्डिमघोषपूर्वम् इदमेव उपदिशति चरमरहस्यभागे

''**मन्मना भव...**'' (भग.गीता.१८।६५) इति भक्तिदानमपि तदैव, सर्वगुह्यतमश्रवणमपि तदैव यदा भगवति अभीष्टत्वापरपर्यायप्रियत्वभावोपलब्धिः भवेत्. तद्भावोपलब्धिरेव वरणं कृपा वा.

अतः ''**सर्वथा चेद् हरिकृपा न भविष्यति यस्यहि तस्य सर्वम् अशक्यं स्यात् मार्गे अस्मिन् सुतरामपि**'' (त.दी.नि.२।२२६), ''**प्रेमसेवातएव स्याद् विशिष्टव्यक्तिः उत्तमा**'' (त.दी.नि.२।९२), ''**प्रेम्णो अन्यत् साधनं लोके नास्ति मुख्यं परं महत्**'' (त.दी.नि.२।३२६) इत्यादिश्रीमद्वल्लभाचार्योक्तेरेव प्रामाण्यस्य उत्कर्षातिरेकः!

''**अहं भक्तपराधीनः**'' (भाग.पुरा.९।४।६३) इति सिद्धान्तस्यापि स्थैर्यम्. एवं प्रसादभक्तिलभ्यत्वं पुरुषोत्तमस्य इति सिद्धम्.

<u>कर्मयोगस्यापि अपवर्गसाधकता</u> :

श्रीमद्भागवतस्यैकादशस्कन्धान्तर्गते उद्धवोपदेशप्रसंगे पद्यम् एकं समुपलभ्यते ''**योगाः त्रयो मया प्रोक्ताः नृणां श्रेयोविधित्सया ज्ञानं कर्म च भक्तिः च न उपायो अन्यो अस्ति कर्हिचिद्**'' (भाग.पुरा.११।२०।६) इति. उपस्थापितभगवद्वचनेन कर्मज्ञानभक्तिरूपमार्गत्रयस्यापि अपवर्गाख्यश्रेयः-साधकता प्रसाध्यते. तत्र तावत् ज्ञानभक्त्योस्तु अपवर्गसाधकता विवादपरिधिम् अप्रविष्टा सर्वजनविदिता चेति प्रायः सर्वेषाम् ऐकमत्यम्. कर्मणस्तु मोक्षप्रापकत्वं विवादग्रस्तमेव. कर्मणः केवलचित्तशुद्धिसाधकत्वम् अंगीकृत्य विविदिषायामेव तस्य साधनत्वे साक्षादुपयोगः प्रस्थापितो नतु मुक्तौ. ज्ञानभक्त्यात्मकसाधनद्वयन्तु साक्षाद् अपवर्गसाधकम् इति बहुभिः अभ्युपेयते. पूर्वोदाहृतेन भागवतस्थेन भगवद्वचनेन तथैव भगवद्गीतान्तर्गतेनापि ''**सांख्ययोगौ पृथग्बालाः प्रवदन्ति न पण्डिताः. एकमपि आस्थितः सम्यग् उभयोः विन्दते फलम्. यत् सांख्यैः प्राप्यते स्थानं तद् योगैरपि गम्यते. एकं सांख्यं च योगं च यः पश्यति स पश्यति**'' (भग.गीता.५।४-५) एतत्पद्ययुग्मेन कर्मणो मोक्षप्रापकत्वं दृढतया सिद्धम् इति व्यक्तम्. एतदपलापस्य अशक्यवचनत्वम्.

परम्परया मुक्तिसाधकं यदि कर्म भवेत्, भवेत् तदा उपरिष्टाद् निर्दिष्टभगवद्गीताश्लोकद्वयस्य स्वरूपानिर्वाहः. भागवतीयस्य "**योगाः त्रयो मया...**" इति पद्यस्य आग्रहेण कथञ्चिद् अन्यथार्थकरणेऽपि तथाविधस्य अन्यथार्थकल्पनस्य भगवद्गीतोक्ताभ्यां "**सांख्ययोगौ...**" इति श्लोकाभ्याम् असमन्वयः स्थूलदृशापि अवगम्यते.

वस्तुतस्तु "**सांख्ययोगौ...**" इति वचनद्वयासमन्विततया '**योगाः त्रयो...**" इति वचनाभिप्रायचिन्तनमपि शास्त्रतात्पर्यमीमांसौचित्यसीमानम् अतिक्रामति. गीतास्थभगवद्वचनानां भागवतीयभगवद्वचनानां च परस्परं समन्वयस्तु परमावश्यकएव. अन्यथातु उद्धवोपदेशार्जुनोपदेशयोरेव परस्परविरोधितायां भगवतो असम्बद्धवादित्वेन अनाप्ततया भगवद्वचनानामपि प्रामाण्यं हीयेतेति अनर्थसहस्रपरम्परा बलाद् आपतति. अतो अस्मदुक्तैव समन्वयसरणिः परिग्राह्या.

यद् अत्र सांख्ययोगयोः ऐक्यम् उक्तं तत्फलैक्यदृष्ट्यैव, स्वरूपैक्य-साधनैक्येतिकर्तव्यतैक्यादीनां अविवक्षितत्वात्. यदि फलैक्यदृष्ट्या निश्चितम् ऐक्यं तर्हि एकस्य साक्षाद् मोक्षसाधकत्वम्, अन्यस्य परम्परया मोक्षसाधकत्वं इत्यस्य भेदस्यापि ऐक्यबाधकत्वं सुव्यक्तमेव. स्वरूपैक्यादीनान्तु प्रत्यक्षशब्दोभयविरुद्धत्वं स्पष्टमेव. "**संन्यासः कर्मयोगः च निःश्रेयसकरौ उभौ तयोस्तु कर्मसंन्यासात् कर्मयोगो विशिष्यते**" (भग.गीता.५।२) इति गीतावाक्यस्यापि निर्दिष्टसिद्धान्तसमर्थकतैव अवलोक्यते. अत्र '**विशिष्यते**' इति पदमपि न फलैक्यबाधकं प्रत्युत साधकमेव, पूर्वार्धे "**निःश्रेयसकरौ उभौ**" इति पदद्वयं फलैक्यस्य अक्षुण्णताम् अबाधित्वैव कयाचित् विशेषदृष्ट्या वैशिष्ट्यं प्रदर्शयति. एतत्तु अन्यत्र प्रदर्शयिष्यामः.

अत्र कर्मणोऽपि साक्षान्मोक्षप्रापकत्वम् इति भगवद्गीतोक्तसिद्धान्ताभ्युपगमएव श्रेयान्. तत्त्वार्थदीपनिबन्धे सर्वनिर्णयप्रकरणे निष्कामकर्मणः आत्मसुखसाधनता, ज्ञानसहकृतकर्मणो मोक्षसाधनता या सिद्धान्तिता सापि

पूर्वस्थापितसिद्धान्ताविरोधिन्येव. अतएव "**ज्ञानिनः तदभिव्यक्तौ कर्तुः मोक्षः क्रमाद् भवेद्**" (त.दी.नि.२।४) इति पद्ये 'ज्ञातुः' इति पदम् अनुपन्यस्य 'कर्तुः' इति पदोपन्यासः. तदत्र ज्ञानस्य अंगत्वेनैव समावेशो न अंगित्वेन इति प्रमाणयति. अंगित्वन्तु कर्मणो अप्रतिहतम्. साधनतातु प्राधान्येन अंगिपर्याप्तैव अंगीकरणीया, गौणतया अंगपर्याप्ता. समुच्चित्य साधनतास्वीकारेऽपि "**निःश्रेयसकरौ उभौ**" इति वाक्यबलेन समप्राधान्येन उभयपर्याप्तैव साधनता अभ्युप्येया. साधनतायाः समप्राधान्येन उभयपर्याप्तत्वसिद्धिरेव कर्मणोऽपि साक्षाद् मोक्षप्रापकत्वं साधयति इति न बाधकलेशमपि पश्यामः.

यदि "**न कर्मणा न प्रजया धनेन त्यागेन एके अमृतत्वम् आनशुः**" (महा.उप.१०।५) इति श्रुतिवाक्यं पुरस्कृत्य गीताभागवतादिवाक्यानां स्मृतिवाक्यत्वेन "**विरोधेतु अनपेक्षं स्याद् असतिहि अनुमानम्**" (जैमि.सू.१।३।३) इति जैमिन्युक्तन्यायेन "**श्रुतिस्मृतिविरोधेतु श्रुतिरेव बलीयसी**" (   ) इति राद्धान्तबलेन भगवद्गीतास्थफलैक्यप्रतिपादकवाक्यानां तथाच मोक्षसाधनत्वप्रतिपादकवाक्यानां यदि गौणार्थत्वांगीकारः तर्हि कर्मणः साक्षाद् मोक्षसाधनतातु बाधिता स्यात्. भगवद्गीतायाः इतरस्मृतिसाम्यन्तु भगवद्गीतास्वरूपापरिज्ञानमूलकमेव. तथाहि "**वेदैः च सर्वैः अहमेव वेद्यो वेदान्तकृद् वेदविदेव च अहम्**" (भग.गीता.१५।१५) इत्येवं यत्र अधिकारपूर्वकं स्वस्वरूपं प्रदर्शितं तद्वाक्यस्य वेदवाक्यस्य च परस्परविरुद्धत्वकल्पनया एकत्र मुख्यार्थस्वीकारो अन्यत्र गौणार्थः इत्येषा व्यवस्थातु उपहासरूपैव. साक्षात्परब्रह्मोक्तस्य वेदार्थस्य अनौचित्यं तदुक्तस्य वेदविरोधित्वं च. अथ अस्मदाद्यभिमतस्य श्रुत्यर्थस्य वेदतात्पर्याविरोधित्वेन औचित्यम् इति उक्तिस्तु खद्योतस्य दिनकरत्वेन स्वप्रदर्शनसाहसतुल्यैव, "**सर्वोपनिषदो गावो दोग्धा गोपालनन्दनः पार्थो वत्सः सुधीः भोक्ता दुग्धं गीतामृतं महत्**" (गीतामहा.६) इति वाक्योक्तरीत्या अलौकिकदुग्धरूपायाः गीतायाः स्वावलम्बनोपनिषद्रूपगोविरोधित्वकल्पनापि आस्तिकहृदये नैव भवितुम् अर्हति.

किञ्च भगवद्गीतायाः स्वयम् उपनिषद्रूपत्वात् प्रत्येकाध्यायपरिसमाप्तौ

''भगवद्गीतासु उपनिषत्सु ब्रह्मविद्यायां योगशास्त्रे'' इति मिलति. तस्मादपि अत्र **''विरोधेतु अनपेक्षं स्याद्''** इति न्यायस्य प्रसरएव नास्ति. **''न कर्मणा न प्रजया''** इति वाक्येन कर्मणो मोक्षसाधनत्वनिषेधस्तु सकामकर्मपर्यवसन्नएव, **''न प्रजया न धनेन''** इति पदद्वयसमभिव्याहारेण अस्मदुक्तस्यैव दृढीकरणात्. **''न अन्यः पन्था''** (श्वेता.उप.३।६।१५) इत्यादिश्रुतौतु ज्ञानमार्गीयाधिकारिपरत्वेन संकोचः परमावश्यकः. अन्यथा **''यमेव एष वृणुते''** (कठोप.१।२।२३) इत्यादिवाक्यानां विरोधो दुष्परिहरएव भवेत्. एतत्तु **''गतेः अर्थवत्त्वम् उभयथा अन्यथाहि विरोधात्''** (ब्र.सू.३।३।२९) इति सूत्रस्य भाष्ये प्रकाशादिषु च सुव्यक्तम्.

एतदपि अभियुक्तानुसरणमात्रमेव. ममतु किञ्चित् अन्यदपि अत्र प्रतिभाति. तथाहि **''न अन्यः पन्था''** एतादृशोत्तरार्धघटितवाक्यं श्रुतौ श्वेताश्वतरे पुरुषसूक्ते च उपलभ्यते.

''तमेव विदित्वा अतिमृत्युम् एति न अन्यः पन्था विद्यते अयनाय'' (श्वेता.उप.३।८) ईदृशपूर्वार्धघटितवाक्यं श्वेताश्वतरे अस्ति. **''तम् एवं विद्वान् अमृत इह भवति न अन्य पन्था अयनाय विद्यते''** (पुरु.सू.८) इति ईदृशपूर्वार्धघटितवाक्यं पुरुषसूक्ते अस्ति.

अत्र एतावदेव विचारणीयं यद् **''न अन्यः पन्था''** इति निषेधस्य ज्ञानातिरिक्तकर्मभक्त्यादिमार्गपरत्वं, विषयप्रकारादिपरत्वं वा ?

वस्तुतस्तु **''तमेव विदित्वा''** इति श्वेताश्वतरोपनिषद्वाक्यगतस्य 'एव'कारस्य **''न अन्यः''** इति निषेधस्य ब्रह्मातिरिक्तविषयकज्ञाननिषेधपरत्वमेव. अर्थाद् विषयपरत्वमेव. **''तम् एवं विदित्वा...''** इति पुरुषसूक्तवाक्यगतस्य **''न अन्यः''** इति निषेधस्य च पूर्वप्रतिपादितप्रकारातिरिक्तप्रकारवैशिष्ट्यनिषेधपरतया इतरप्रकारविशिष्टब्रह्मज्ञाननिषेधकत्वमेव फलतीति प्रकारविशेषपरत्वमेव, नतु कर्मभक्त्यादिमार्गपरत्वम्. अन्यथा उभयश्रुतिवचनगतयोः 'एव'-'एवं'इति

पदयोः विभेदो विलुप्येत. अतः एवंवचनरचनाविभेदः अस्मदुक्तार्थपोषकः.

तस्मात् **''तमेव विदित्वा''**-**''तम् एवं विद्वान्''** इति वाक्यद्वयस्य **''सांख्ययोगौ...''** इति गीतास्थवाक्यद्वयस्य च मिथः कोऽपि विरोधावकाशएव नास्तीति **''विरोधेतु अनपेक्षं स्यात्''** इत्यस्य न्यायस्य न अत्र प्रसरः. निगमसौधदीपश्रीरूपभगवद्गीतायास्तु वेदार्थसन्देहवारकत्वेन व्यक्तभगवद्वाक्यरूपत्वेन च सर्वथा वेदार्थपोषकत्वमेव अनुभूयतइति ईषदपि वेदविरोधित्वकल्पनापि अत्र अनवसरपराहतैव.

एवं कर्मणोऽपि मोक्षप्रापकत्वं सिद्धम्. ज्ञानभक्त्योस्तु मोक्षप्रापकत्वं सर्वजनविदितमिति कृत्वा तयोः मोक्षसाधकत्वविवरणं न अत्र अस्माभिः कृतम्. योगस्यतु स्वतन्त्रतया मार्गत्वमेव नास्ति इति अंगत्वेनैव तस्य उपयोगः कर्मज्ञानभक्त्यात्मकमार्गत्रयेऽपि विद्यते. अतएव भगवद्गीतायां 'कर्मयोगः' - 'ज्ञानयोगः' - 'भक्तियोगः' इति पदानि उपलभ्यन्ते. मार्गास्तु त्रयएव. तेनैव भगवद्गीतायां कर्मषट्क-ज्ञानषट्क-भक्तिषट्क-इति षट्कत्रयात्मकएव अष्टादशाध्यायानां विभागः. यदि योगस्यापि स्वतन्त्रतया मार्गत्वं स्यात् तर्हि विभागचतुष्टयोपलब्धिः भगवद्गीतायां भवेत्. तस्मात् **''मार्गाः त्रयो... ''** इति सिद्धान्तं सुव्यक्ततया समर्थयतीति अस्मन्मतस्यैव निर्दुष्टता.

इति श्रीमद्गोकुलनाथाचार्यात्मजेन अनुकम्पास्वरूपश्रीकुसुमप्रभागर्भसम्भवेन भगवदीयदासदासेन गोस्वामिदीक्षितेन विरचितो

ब्रह्मवादोपोद्घातः

समाप्तः

विषयानुक्रमणिका

ग्रन्थक्रमो विषयक्रमः — पुटक्रमः

१. ब्रह्मवादः (केषाञ्चिद् दीपिकया समेतः) — १-५

२. ब्रह्मवादः — ६-३७

३. वादकथा — ३८-४९

मंगलाचरणेन विषयोपक्रमः... ३८

ब्रह्मणः प्राकृतधर्मानाश्रयत्वे सति अप्राकृतधर्मरूपत्वम् इति वादप्रतिज्ञाप्रस्तावः... ३८

ब्रह्मणि प्राकृतधर्माणां कल्पना आविद्यकीति अविद्यास्वरूपविमर्शः... ३९

सिद्धान्ते सदसद्विलक्षणायाः अविद्यायाः निरासो ननु भगवच्छक्तिरूपायाः तस्याः... ४०

ब्रह्मणो अप्राकृतधर्मरूपत्वेन न भजनाशक्यता... ४१

ब्रह्मणो अप्राकृतधर्मरूपत्वं न सम्भवति इति पूर्वपक्षः... ४१

ब्रह्मणो अप्राकृतधर्मरूपत्वं सम्भवत्येव इति सिद्धान्तोपपादनम्... ४२

एतादृशस्यैव ब्रह्मणो निगमप्रतिपाद्यत्वेन तथाविधसिद्धान्तोपपादनम्... ४४

तदेतद् निगमप्रतिपाद्यं ब्रह्म शुद्धं सर्वोपाधि-विनिर्मुक्तम् इति सिद्धान्तोपपादनम्... ४५

तदेतद् निगमप्रतिपाद्यं शुद्धमेव ब्रह्म साकारं सर्वाकारं वा भक्तभाविताकारं वा इति सिद्धान्तोपपादनम्... ४६

४. विग्रहवादः — ५०-५७

मंगलाचरणेन विषयोपक्रमः... ५०

देवानां मन्त्रमयत्वेन विग्रहराहित्यम् इति पूर्वपक्षः... ५०

देवानां केवलं मन्त्रमयत्वम् इति पक्षस्य निरसनाय अनुपपत्तयः विग्रहवत्त्वोपपत्तयः च... ५०

ब्रह्मांशकल्पनम् अनावश्यकम् इति प्रतिबिम्बवाद-समाश्रयेण शंका... ५१

प्रतिबिम्बवादप्रतिवादः... ५२

आभासवादेन आशंकासमाधाने... ५२

पारमार्थिकांशत्वे जीवत्वघटकानन्दांशतिरोभावे शंकासमाधाने... ५२

सच्चिदानन्दब्रह्मणः सच्चिदानन्दांशसम्भवेन देवानां विग्रहवत्त्वोपपत्तिः... ५३

तत्कार्यजनकतत्तज्जनकसत्त्वेऽपि सर्वकार्यनिरूपितसकल-जननप्रयोजननिर्धारको भगवानेव इति स्थापनम्... ५५

तस्माद् भगवतएव देवादिविग्रहधारणेन सर्वभोक्तृत्वम्... ५५

भगवतः सर्वहविर्भोक्तृत्वेऽपि न तत्तद्हविःसम्प्र-दानीभूतदेवानाम् अतृप्तिः इति उपपादनम्... ५६

सर्वनामरूपकर्मधारकस्य भगवतएव आधिभौतिकादि-रूपत्रयम् इति निष्कर्षः... ५६

५. प्रपञ्चवादः — ५८-६९

मंगलाचरणेन विषयोपक्रमः... ५८

तत्र प्रपञ्चमिथ्यात्वोपपादकः पूर्वपक्षः... ५८

तत्र समाधाने विकल्पासहत्वहेतुना असत्त्वखण्डनम्... ५९

अद्वैतवादिमते अविद्या मायापि वा विकल्पासहतया न सिध्यति इति तन्निरसनम्... ५९

जगतो अनिर्वचनीयत्वखण्डनं तदनित्यत्वखण्डनं च... ६२

प्रत्यक्षस्य शब्दोपजीवकत्वम् अनुमानस्य च प्रत्यक्षोप-जीवकत्वम्. श्रुतेश्च शब्दात्मकत्वात् सर्वोपजीव्यत्वेन बलवत्त्वम्. तत्प्रमाणेनापि जगतो न अनित्यत्वम्... ६३

६. **ब्रह्मवादः** ७०-७९
मंगलाचरणेन विषयोपक्रमः... ७०
ब्रह्मणः प्राकृतविशेषरहितत्वे सति अप्राकृतविशेषवत्त्वे शंकोपक्षेपः... ७०
श्रुतिसूत्रपुराणादिवचनानां स्वारसिकव्याख्यानेन तन्निरासः... ७०
ब्रह्मणो गुणधर्माणां मायिकत्वेनापि शास्त्रवचन-व्याख्यानस्य शक्यत्वेन उक्तार्थानुपपत्तिपरिहारौ... ७२
ब्रह्मणो हि उपासनार्थं गुणधर्मकल्पना इति आंशकायाः निरसनम्... ७२
उपासनास्वरूपविचारः... ७३
ब्रह्मणो हि उपासनार्थं मायिकगुणधर्मत्वसम्भावनाप्रसक्तौ मायिकत्वस्वरूपविचारः... ७४
ब्रह्मगुणधर्माणां मायिकत्वोक्त्या मायास्वरूपविचारः... ७४
मायायाः अनादिसान्ततानिरसनानुषंगिकं प्रागभावनिरसनम्... ७४
प्रसक्तानुप्रसक्ततया अभाववादनिरसनेन आविर्भावतिरोभाववाद-स्थापनम्... ७५
प्रकृतविषयस्य प्राकृतविशेषरहित्वे सति अप्राकृतविशेषवत्त्वस्य अनुसन्धानम्... ७६
तत्र मायाब्रह्मणोः प्रसक्तानुप्रसक्तः सम्बन्धविचारः... ७८
मंगलाचरणोक्तस्य 'परम्' इति विशेषणस्य उपपादनोपसंहारौ... ७८
७. **प्रपञ्चसंसारभेदवादः** ८०-८२
तत्र प्रपञ्चसंसारभेदनिरासाय पूर्वपक्षः... ८०
तत्र उत्तरपक्षे प्रपञ्चसंसारभेदोपपादनम्... ८०
तत्र जीवेष्वपि देहस्तु प्रापञ्चिकः अहम्ममाभिमानावेव अविद्याजन्यौ सांसारिकौ... ८०
तत्र भगवति भगवद्विषयकौ च अहम्ममाभिमानौ न आविद्यकौ... ८१
भक्तिज्ञानौपयिकयोः अहम्ममाभिमानयोः अनाविद्यकत्वे सर्वेषां च भजनाधिकारे सति मनुष्येतरेषु कः सिद्धान्तः ?... ८२
प्रपञ्चसंसारौ भिन्नावेव इति सिद्धान्तनिष्कर्षः... ८२
८. **ब्रह्म-जीव-तदैक्य-स्वरूपनिरूपणम्** ८३-८७
ब्रह्मस्वरूपनिरूपणम्... ८३
जीवस्वरूपनिरूपणम्... ८५
जीवब्रह्मणोः ऐक्यनिरूपणम्... ८६
९. **विरुद्धधर्माश्रयत्वविवेचनम्** ८८-९५
मंगलाचरणम्... ८८
वादविषयोपक्रमः... ८८
ब्रह्मणो विरुद्धधर्माश्रयत्वे प्रमाणभूतश्रुत्युपन्यासः... ८८
ब्रह्मणि लौकिकधर्माभावाद् न विरुद्धधर्माश्रयता इति पूर्वपक्षः... ८९
तत्र सिद्धान्तिकृतं समाधानम्... ८९
वस्तुतस्तु विरुद्धधर्माणां ब्रह्मणि अविरुद्धत्वेऽपि ततो अन्यत्र तेषां विरोधाद् विरुद्धत्वेन निरूपणम्... ९०
ब्रह्मणो विरुद्धधर्माश्रयताप्रतिपादनस्य : विद्वन्मण्डनोदितप्रकारः... ९१
ब्रह्मणो विरुद्धधर्माश्रयत्वस्य ब्रह्मसूत्राणुभाष्योदित-प्रकारः... ९१
अनेकरूपधारणपूर्विकायां भगवल्लीलायां विरुद्धधर्माश्रयतायाः स्वरूपनिरूपणम्... ९२
भगवल्लीलायां हि अनेकविधरूपप्रतीतिजननेन अन्यथोपपत्त्या रूपान्तरधारणम् अनावश्यकम् इति शंकानिरासः... ९२
न केवलं भगवतः किन्तु भक्तानामपि अनेकैः रूपैः प्राकट्यं भगवल्लीलायाम्... ९३

अनेकविधरूपप्राकट्येऽपि कश्चन प्रकारविशेषो विद्यतएव
इति प्रतिपादनम्... ९४
सर्वत्र भगवतः सर्वरूपत्वे मूलांशावेशावतारविभूत्यादि-
रूपभेदांगीकारो अनर्थकः इति शंकानिरासः... ९४
ग्रन्थोपसंहारः... ९५
१०. आत्मवादः ९६-११०
मंगलाचरणेन विषयोपक्रमः... ९६
ईश्वरस्य अनुमानगम्यतासाधनाय पूर्वपक्षः... ९६
तत्र ईश्वरास्तित्वसाधकानुमानानि... ९६
जगत्कर्तृतया ईश्वरस्य अनुमानगम्यत्वे शरीरवत्त्वस्यापि
अंगीकर्तव्यतया श्रुत्येकगम्यत्वमेव इति उत्तरपक्षः... ९७
शरीरादिमदीश्वरसाधकानुमाने तर्कानुकूल्यप्रदर्शनम्... ९८
ईश्वरशरीरस्य ईश्वरेण सह भेदाभेदविमर्शः... ९८
अंकुरादौ शरीरादिमत्कर्तृकत्वादर्शनेन यत्र
कार्यत्वं तत्र शरीरिजन्यत्वम् इति व्याप्तौ
मीमांसकाक्षिप्तदोषनिरासः... ९९
ईश्वरास्तित्वसाधकानुमानस्य जगद्व्यापकप्राणादिमत्कर्तृका-
स्तित्वसाधनपरत्वेन अन्यथोपपत्तिः... ९९
इह सांख्यमतेन ईश्वरसत्तासाधकानुमानस्य
प्रकृतिरूपार्थान्तरसाधकतया अन्यथोपपत्तिः... १०१
ईश्वरसत्तायाः अनुमानमूलकत्वे श्रीरामानुजाचार्योक्त-
दूषणानि... १०२
''कार्यायोजनधृत्यादेः...'' कारिकायाः
भवदेवमिश्रोक्तव्याख्या... १०४
अत्र नवीनमतम्... १०५
ईश्वरसत्ताविषये अभिनवमतम्... १०५
ईश्वरसत्ताविषये तत्त्ववादिमतम् ... १०६
ईश्वरसत्तानुमानेषु दूषणोपपादनम्... १०६

तस्माद् ब्रह्मणः श्रुत्येकवेद्यत्वोपपादनम्... १०८
ग्रन्थोपसंहारः... १०९

---o---

परिशिष्टम् १
प्रश्नोत्तरसाहस्रीपर्यालोचनम् १११-१४५
परिशिष्टम् २
प्रश्नोत्तरसाहस्रीचर्चितप्रकृत्यधिकरणसमालोचनम् १४६-१७४
परिशिष्टम् ३
केवलाद्वैतवादाभिमताविद्यास्वरूपविमर्शः १७५-१९६
परिशिष्टम् ४
अक्षरपुरुषोत्तमद्वैतनिरासवादः १९७-२१३

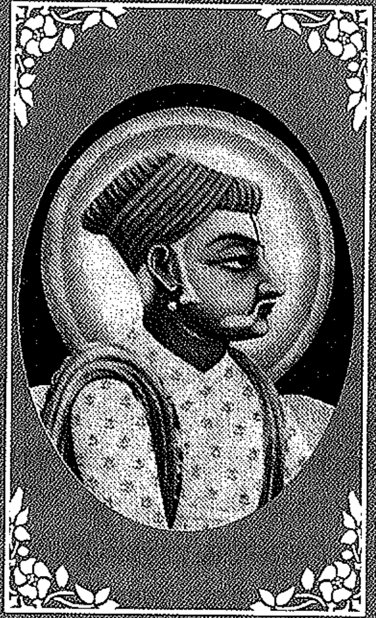

गोस्वामी श्रीहरिरायजी

गोस्वामी श्रीगोपेश्वरजी

गोस्वामी श्रीविट्ठलेशरायजी

गोस्वामी श्रीवल्लभजी

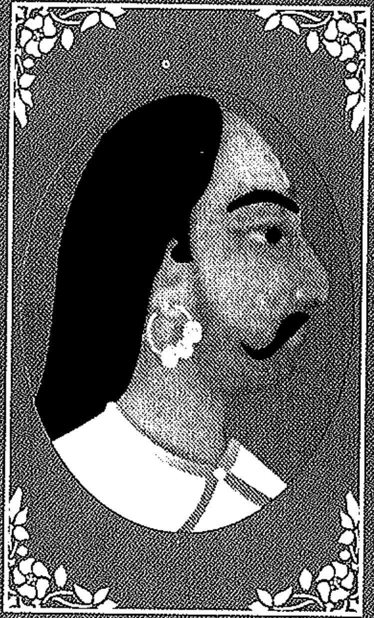

गोस्वामी श्रीगिरिधरजी

गोस्वामी श्रीयोगी गोपेश्वरजी

वादावल्यां

ब्रह्मवादः

(केषाञ्चिद् दीपिकया समेतः)

ब्रह्माभिन्नः प्रपञ्चश् चेद् अस्मद्दृग्विषयः कथम्?॥
ब्रह्मभिन्नः प्रपञ्चश् चेद् ब्रह्मविद्विषयः कथम्?॥१॥
अतो भेदस् तथाऽभेदः शक्यते वदितुं कथम्?॥

"या निशा सर्वभूतानां तस्यां जागर्ति संयमी, यस्यां जाग्रति भूतानि सा निशा पश्यतो मुनेः" (भग.गीता.२।६९) इति वाक्याद् ब्रह्मस्वरूपं ब्रह्मविदां विषयो अस्मदादीनान्तु अविषयः. ब्रह्मभिन्नञ्च अस्मदादीनां विषयो ब्रह्मविदाम् अविषयः. जगतस्तु ब्रह्मविदाम् अस्मदादीनां च ज्ञानविषयत्वाद् अभेदो भेदः च न वक्तुं शक्यः.

इति चेद् न, यथा ब्रह्म रूप्यते (तथा) तत्प्रपञ्चयोः॥२॥
सर्वोपनिषदाऽभेदः स्पष्टमेव निरूपितः॥
अतोऽस्मत्प्रत्ययो भ्रान्तो मायावृतविलोकनात्॥३॥

तत्र उच्यते : नहि ब्रह्मस्वरूपं वेदाद् अतिरिक्तेन प्रमाणेन ज्ञातुं शक्यते. वेदस्तु ब्रह्मस्वरूपं निरूपयन् अभेदएव निरूपयति. अतो धर्मिग्राहकप्रमाणसिद्धत्वाद् अभेदस्य, अस्मज्ज्ञानं भ्रान्तं, यतो अस्मदादयो मायावृताः मायावृतं च विलोकयन्ति. तथाहि भगवान् सर्वगुणसम्पूर्णो

अनन्तशक्तिः स्वस्य विचित्ररमणेच्छया विचित्रजडजीवान्तर्याम्यात्मकं जगत् स्वस्वरूपादेव सृष्टवान्. तत्र जीवानामेव मायया मोहो न अन्ययोः, जडे ज्ञानतिरोधानाद् अन्तर्यामिणो जीवनियामकत्वात्. माया हि भगवच्छक्तिः. सा द्विधा : एका आवरणरूपा द्वितीया विक्षेपरूपा. तत्र आवरणरूपातु सर्वं जगद् आवृत्य जीवस्य स्वस्वरूपविस्मारिका जाता. द्वितीयातु जीवम् आवृत्य अन्यथाज्ञापिका अभूत्. अतो अस्मदादयो ब्रह्मस्वरूपमपि जगद् ब्रह्मभिन्नत्वेन जगत्त्वेन च पश्यन्ति. ब्रह्मविदस्तु जगद् ब्रह्मत्वेनैव पश्यन्ति न भिन्नत्वेन. अस्मदादीनां मायामोहाद् ब्रह्मविदां च मायामोहस्य निवृत्तत्वात्. * ननु जगतो ब्रह्मत्वं श्रुतिः वदति सर्वे जनास्तु जगद् ब्रह्मभिन्नत्वेन जगत्त्वेनैव पश्यन्ति. अतः सार्वजनीनप्रतीतिविषयत्वात् कथं जगज्ज्ञानं भ्रान्तं भवेत्? प्रत्यक्षापेक्षया शब्दस्य जघन्यत्वात् * तत्र उच्यते —

उत्पन्ने ब्रह्मविज्ञाने सद्यस् तद्बाधदर्शनात्।।
अवास्तवं रूपम् एतद् वाचारब्धं विकारि यत्।।४।।

नहि मायादोषदुष्टेन्द्रियजीवप्रत्यक्षविरोधमात्रेण सर्वप्रमाणमूर्धन्यरूपा अप्रामाण्यशंकाकलंकरहिता श्रुतिः अन्यथयितुं शक्या. यतः श्रुत्युक्तसाधनैः मायानिवृत्तौ ब्रह्मबोधने सति तस्यैव तद्भानबाधदर्शनात्. यथा "शंखः पाण्डुरः" इति वाक्यं पित्तादिदोषदुष्टचक्षुषा शंखं पीतत्वेन पश्यतोऽपि प्रत्यक्षेण अन्यथयितुं शक्यते, तस्यैव च दोषनिवृत्तौ सति शंखे पाण्डुरत्वादर्शनात्. तद्वदेव मायादोषदुष्टेन्द्रियैः विषयीकृतमेव जगद्रूपम् अवास्तवम् इति उच्यते, न तद् वस्तुतया पश्येत्, दृश्यमानं विनश्यतीति इदमेव वाचारब्धत्वं "**वाचारम्भणं 'विकारो', नामधेयं 'मृत्तिका' इत्येव सत्यम्**" (छान्दो.उप.६।१।४) इति विकारित्वमपि इदमेव. "**त्वयि, उद्धव!, आश्रयति यत् त्रिविधो विकारो मायान्तरा...**" (भाग.पुरा.११।१९।७) इति.

ब्रह्मबोधेऽनृतस्यापि ब्रह्मत्वात् प्रत्ययस् तथा।।
यावद्बोधेतु सत्यस्यासत्यस्य कथनं पुनः।।५।।

नच * मायादोषदुष्टेन्द्रियैः विषयीकृतस्य जगद्रूपस्य अनृतत्वेन तद्दोषरहितेन्द्रियैः विषयीकृतस्य ब्रह्मरूपस्य च सत्यत्वेन पदार्थद्वयसद्भावात् न अभेदसिद्धिः * इति वाच्यं, "**सर्वं खलु इदं ब्रह्म**" (छान्दो.उप.३।१४।१) इति श्रुतौ 'सर्वं'पदस्य असंकुचितवृत्तित्वेन अनृतस्यापि ब्रह्मत्वनिश्चयात्. अतएव ब्रह्मविज्ञाने सति सर्वत्र ब्रह्म इति स्फूर्तिः ज्ञानिनाम्. किञ्च ब्रह्मविज्ञानं यावद् नास्ति तावदेव जगद् अनृतं; विनाशोत्पत्त्योः दर्शनात्. ब्रह्मतु सत्यं, विनाशोत्पत्त्योः अश्रवणात्.

पश्चात् सर्वस्य सर्वत्वं नानृतं किञ्चिद् अस्ति हि।।
देहादयोऽनृतं तावत् यावत् कार्यतया मतिः।।६।।
तन्निवृत्तौ पुनः सर्वं ब्रह्मरूपं न संशयः।।

ब्रह्मबोधे सति नाशोत्पत्तिप्रतीत्योः सवर्त्र अखण्डब्रह्मस्फुरणेन च न किञ्चिदपि अनृतम् अस्ति, सर्वस्यैव ब्रह्मत्वेन सत्यत्वात्. यच्च "**देहादि अपार्थम् असद् अन्त्यम् अभिज्ञमात्रम्**" (भाग.पुरा.१२।८।४४) इत्यादि श्रीभागवतादिषु देहादीनाम् अनृतत्वनिरूपणं तदपि यावद् देहादिषु कार्यत्वेन ज्ञानं तावदेव. यदातु कार्यताज्ञाननिवृत्तिः तदा सर्वं ब्रह्मरूपमेव न अनृतम्. अन्यथा "**सत्यं च अनृतं च सत्यम् अभवद्. यद् इदं किञ्च तत् 'सत्यम्' इति आचक्षते**" (तैत्ति.उप.२।६) इति श्रुतिः न संगच्छेत.

देहादिष्वपि भक्तानां वियुक्तानां हरेः मतिः।।७।।
कार्यं च तादृशं लीलानुकृतौ तेषु दृश्यते।।

* ननु मास्तु मायामोहितजीवप्रत्यक्षबलेन जगतो ब्रह्मभेदः, साक्षात् पुरुषोत्तमसम्बन्धिनां लीलोपयोगिनान्तु प्रतीतिबलाद् भेदेन भवितव्यम्, तेषां मायया मोहाभावेन तद्भानस्य अभ्रान्तत्वाद् * इति चेत् तत्र उच्यते : "**रसो वै सः**" (तैत्ति.उप.२।७) इति श्रुत्या भगवतो रसरूपत्वं तावद् निश्चितम्.

रसस्तु शृंगारएव[१] अन्येषां रसानां शृंगारमिश्राणामेव रसत्वकथनात्. सच शृंगाररसो द्विविधः संयोगविप्रयोगभेदात्. तत्र संयोगे स्वरूपात्मकानां भक्तानां स्वरूपात्मकेषु रसोपयोगिपदार्थेषु तथा-तथा ज्ञानं भगवतैव कार्यते, तदैव रससिद्धिः यतः. एवं सति तद्भानस्य भगवदैच्छिकत्वाद्. भेदबाधो विप्रयोगेतु देहेन्द्रियप्राणान्तःकरणजीवेषु भगवत्प्रवेशेन सर्वं देहादिकमपि विप्रयुक्तानां भक्तानां भगवद्रूपमेव भासते. अतएव "**कस्याश्चित् पूतनायन्त्याः**" (भाग.पुरा.१०।२७-।१५) इत्यादिना निरूपितं भगवल्लीलानुकरणं तेषु सम्भवति. अतो वियुक्तभक्तप्रतीतिसिद्धत्वादपि अभेदएव सिद्धइति न कोऽपि शंकालेशोऽपि.

एवं शुद्धो ब्रह्मवादो यद्यायाद् हृदये सताम्।।८।।
तदा मतान्तरासक्तिरपि यायाद् न चान्यथा।।
मतान्तरेऽन्यथाबुद्धेः फलमप्यन्यथा भवेत्।।९।।
मनो मनागपि नहि क्रियतां संशयास्पदम्।।
हृदा सदा भावयन्तु ब्रह्मवादम् अलौकिकम्।।१०।।
विचार्य वल्लभाचार्यं प्रचार्य मतम् आर्यजाः।।
विदार्य संशयं कार्यम् अनार्यमतदूषणम्।।११।।

एवं ज्ञानमार्गो भक्तिमार्गः च न अभेदे शंकासमर्पकः किन्तु शंकापनोदकएव इतिप्रकारो जगद्ब्रह्मणोः अभेदवादः सात्त्विकानां हृदये यदि समागच्छेत् तदैव मतान्तरेषु मायावादप्रभृतिषु **आसक्तिः** तदुक्तप्रकारेण आचरणं च **न** इच्छेत्. ब्रह्मवादस्य हृदये अनधिरोहे मतान्तरेषु आसक्तिः न गच्छति.

[१] यद्यपि केषाञ्चिदेव रसशास्त्रालोचकानाम् अयम् अभिप्रायो न भरतमुनेः नवा सर्वेषां; तथापि येषाम् एवम् अभिप्रायः तेषां मतम् अनुसृत्य अत्र मूलकृद्भिः एवं निरूप्यते. वस्तुतस्तु निजात्मानन्दरूपएव भगवान् सृष्टिलीलायां सर्वरसात्मको जातइति तस्य परमात्मत्वेन जीवात्मनि जायमानो लौकिकालौकिकरसानन्दोऽपि तदानन्दैकदेशरूपएव "**रसो वै सः. रसं ह्येव अयं लब्ध्वा आनन्दी भवति**", "**सर्वकामः... सर्वरसः... आत्मैव इदं सर्वम् इति... एवं विजानन् आत्मरतिः... आत्मानन्दः... भवति**" (तैत्ति.उप.२।७-छान्दो.उप.३।१४।२-७।२५।२) इत्यादिश्रुतीनां मिथः एकवाक्यतालब्धो निष्कर्षः. परमार्थतस्तु सर्वेऽपि रसाः ब्रह्मानन्दात्मकाः न पुनः भगवान् शृंगारमात्ररसात्मकः इति ब्रह्मवादीयः पन्थाः (सम्पा.).

नहि तरणिकिरणप्रसरणम् अन्तरेण नैशं तमो गच्छति. न केवलं ब्रह्मवादस्य मतान्तरेषु अनासक्तिमात्रं फलं किन्तु ब्रह्मवादस्य वेदादिसन्देहनिवारकत्वेन तदुक्तानुवादकत्वाद् भगवतो जीवस्य जगतः च यथास्थितस्वरूपज्ञापकत्वात् तदुक्तप्रकारेण भगवद्भजनादिकरणे सत्फलसिद्धिः. मतान्तराणान्तु बुद्धावतारकार्यसिद्ध्यर्थं प्रकटितशिवादिदेवप्रवर्तितत्वेन वेदादिषु सन्देहनिवारणव्याजेन तद्विरुद्धनिरूपकत्वेन सर्वपदार्थानाम् अयथार्थज्ञापकत्वम्. तदुक्तप्रकारेण कृतेऽपि भगवद्भजनादौ न सत्फलसिद्धिः किन्तु भगवत्स्वरूपे जीवस्वरूपे च अन्यथाज्ञानाद् असत्फलसिद्धिरेव "**यो अन्यथा सन्तम् आत्मानम् अन्यथा प्रतिपद्यते किं तेन न कृतं पापं चौरेण आत्मापहारिणा**" (महाभा.१।६८।२६) इति वाक्यात्. अतो ब्रह्मवादे अणुमात्रमपि सन्देहं मा कुर्वन्तु, सन्देहस्य असत्फलसाधकत्वात् "**संशयात्मा विनश्यति**" (भग.गीता.४।४०) इति वाक्यात्. सर्वदा चित्तैकाग्रता हि उचिता. अलौकिकभगवन्निश्वासरूपवेदेन निरूपितम् अलौकिकभगवन्मुखारविन्दरूपैः श्रीवल्लभाचार्यैः प्रकटीकृतम् अलौकिकब्रह्मवादमेव विचारयन्तु. तेनैव सर्वसन्देहनिवृत्तिः. एवम्भूतं वल्लभाचार्याणां मतं सर्वेभ्यो अनुगृहीतेभ्यः कथनीयं सद्भिः विचारणीयं च. तेनैव सर्वसन्देहान् निवार्य अनार्यमतानि दूषणीयानि. नतु तेषु मतेषु आसक्तिः कार्या, नापि ब्रह्मवादे सन्देहः कार्यः.

इति कैश्चित्कृता ब्रह्मवादस्य दीपिका इयं सम्पूर्णा

वादावल्यां

ब्रह्मवादः

दुःखार्णवे निमग्नं मां कृपया करुणार्णवः।
य उद्धार मदन-मोहनं तं भजे सदा॥१॥
रससलिलयुतं श्रीकृष्णमेघस्वरूपं
कलिकलुषनिदाघातप्तभक्ताऽवनाय॥
स्वमतसुजलवृष्ट्या शामकं वादवह्नेर्
असत इह लसन्तं वल्लभं तं नतोऽस्मि॥२॥
नानावादेन रविणा हरिणा तिमिरं महत्॥
मायावादाख्यम् अखिलं नाशितं तं नमाम्यहम्॥३॥
अज्ञानतिमिरान्धं मां स्वप्रतापार्कतेजसा॥
सनेत्रम् अकरोत् श्रीमद्गोपीश्वरम् अहं भजे॥४॥
गुरुचरणविभावसोः प्रकाशाद्
अपगतसंशयमण्डलान्धकारः॥
रसिकहरिकृतेर् अभेदगन्त्र्याः
विवरणम् आतनुते विनोदहेतुम्॥५॥
गोष्ठीशालोपनामश्रीहरिकृष्णात्मजो मुदा॥
गोपालकृष्णः सुकविर् गोपेश्वरपदानुगः॥६॥

अथ श्रीमद्गिरिवरधरचरणपरिचरणमार्गमुकुलमार्तण्डायमानहरिदासवर्य-श्रीमद्गोवर्धनगिरीव तादात्म्यं प्राप्नुवन्तो गोस्वामिनः श्रीमद्-हरिरायचरणाः स्वीयानां परानभिभवपूर्वकं 'शुद्धाद्वैत'पदवाच्यस्वसिद्धान्तार्थावबोधनार्थं सोपपत्तिकम् एतदेव वक्तुं विचारम् आरभन्ते **अथ** इत्यादिना. अथ शब्दो

अथ इदं विचार्यते : ननु भक्तिमार्गे माहात्म्यज्ञानजननहेतुतया

मंगलार्थः. **इदं** बुद्धिस्थम् अग्रे वक्ष्यमाणं च बहुवाक्यसन्दर्भरूपं शास्त्रं **विचार्यते** विचारविषयीक्रियते इति अर्थः. तथाच शिष्यशिक्षायै ग्रन्थारम्भे **अथ**शब्देन मंगलाचरणपूर्वकं निरुक्तम् इदन्त्वावच्छिन्नं विचारविषयीक्रियते इति वाक्यार्थः. "**'ॐ'कारश्च 'अथ'शब्दश्च द्वौ एतौ ब्रह्मणः पुरा कण्ठं भित्त्वा विनिर्यातौ तेन मांगलिकौ उभौ**" इति उक्तेः विप्रतिपत्तिमुखेन स्वमतम् उद्भावयन् पूर्वं तामेव आहुः **ननु** इत्यादि, **ननु** इति विप्रतिपत्तिबोधकः. "मृग्यते पुरुषोत्तमो अनेन श्रवणादिनवकेन इति श्रवणादिसाधनानुष्ठानात्मको मार्गः, नहि 'साधन'पदेन पुष्टिमार्गानुपपत्तिः, अत्र फलसाधनयोः ऐक्यात्, प्रेम्णः सर्वत्रैव अनुस्यूतत्वात्. तद् अग्रे वक्ष्यते. भक्तिरेव मार्गो **भक्तिमार्गः** तस्मिन् भक्तिरसमार्गे इति अर्थः. विभावानुभावव्यभिचारिसात्त्विकादिभिः अनुनीयमानस्य माहात्म्यज्ञानपूर्वकस्य स्नेहस्य रसत्वाद् भक्तेः रसत्वम्. अन्यस्नेहव्यवच्छेदार्थं '**माहात्म्यज्ञान**'पदम्. "**माहात्म्यज्ञानपूर्वस्तु सुदृढः सर्वतो अधिकः स्नेहो 'भक्तिर्' इति प्रोक्तः तया मुक्तिः नच अन्यथा**" इति नारदपञ्चरात्रोक्तेः, "**सा परा अनुरक्तिः ईश्वरे**" (शाण्डि.सू.१।१।२) इति शाण्डिल्यसूत्रात् च. फलाभिसन्धिरहिता परा. अस्य विभावादयस्तु ग्रन्थान्तरे द्रष्टव्याः ग्रन्थविस्तरभिया न लिख्यन्ते. अत्र भक्तिरसो अन्यरसानाम् उपलक्षकः, तत्रापि शृंगाररसस्य अभ्यर्हितत्वेन तस्यैव स्वाभीष्टत्वं ध्वनयति. तेन अन्येतु तदन्तर्गताएव रसाः, तेषां तदन्तर्गत्वेनैव रसत्वाद् अन्यथा "**रसं ह्येव अयं लब्ध्वा आनन्दी भवति**" (तैत्ति.उप.२।७) इत्यादिश्रुतौ रसप्राप्तेः आनन्दफलकत्वोक्त्या भयानकादौ तदभावाद् रसत्वमेव न स्यात्. तथा सति "**रसो वै सः**" इति श्रुत्या "**सर्वरसः...** " इति श्रुत्या च शृंगाररसरूपपुरुषोत्तमविषयकज्ञानपूर्वकस्नेहविषयको अयं मार्गः इति भावः. तत्रापि मार्गो न सरणिः. राजमार्गे यथा गमनसौकर्यं चौरादिभयाभावः तद्वद् अत्यन्तायाससाध्यानां शमदमादिसाधनानाम् अत्र अप्रयोगकत्वेन अनायासेन तत् सूचितम्. पतनभयाभावोऽपि सूचितः. "**तथा न ते, माधव!, तावकाः क्वचिद् भ्रश्यन्ति मार्गात् त्वयि बद्धसौहृदाः त्वया अभिगुप्ताः विचरन्ति निर्भयाः विनायकानीकपमूर्धसु प्रभोः**" (भाग.पुरा.१०।२।३३)

इति दशमस्कन्धे गर्भस्तुतौ, ''**यान् आस्थाय नरो राजन् न प्रमाद्येत कर्हिचित् धावन् निमील्य वा नेत्रे न स्खलेद् न पतेद् इह**'' (भाग.पुरा.११।२।३५) इति एकादशस्कन्धद्वितीयाध्याये च उक्तेः. अतएव आचार्यचरणाः ''**अत्रापि वेदनिन्दायाम् अधर्मकरणात् तथा नरके न भवेत् पातः किन्तु हीनेषु जायते**'' (त.दी.नि.२।२१६) इति आहुः. दुःखासम्भिन्नसुखरूपत्वं प्रथमतो अवधिपर्यन्तम् इति राद्धान्तः. 'भक्ति'शब्दस्य यौगिकार्थस्तु '''**भज**'=**सेवायाम्**'' (धा.पा.भ्वा.१०८३) इति धातोः भावे 'क्तिन्'प्रत्यये कृते 'भक्तिः' इति भवति. भावः च क्रियासामान्यं ''**प्रकृतिप्रत्ययौ सहार्थं ब्रूतः तयोस्तु प्रत्ययः प्राधान्येन**'' (पात.म.भा.१।२।६४) इति वैयाकरणनियमाद् धात्वर्थव्यङ्ग्या या प्रधानभूता क्रिया तत्र पर्यवस्यति. प्रधानभूताच क्रिया मानस्यैव ''**अन्यत्रमना अभूवं न अशृणवम् अन्यत्रमना अभूवं न अपश्यम्**'' (बृह.उप.१।५।३) इति वाजसनेयश्रुतौ मनसः प्राधान्यश्रवणेन तत्क्रियायाएव प्राधान्यस्य औचित्यात्. तथाच सेवापि व्यङ्ग्या प्रेमरूपमानसी सेवा भक्तिरिति तत्र योगरूढः सिध्यति. तथा श्रवणादिनवकेऽपि पारिभाषिकः ''**श्रवणं कीर्तनं विष्णोः स्मरणं पादसेवनम् अर्चनं वन्दनं दास्यं सख्यम् आत्मनिवेदनम्, इति पुंसा अर्पिता भक्तिः चेद् नवलक्षणा**'' (भाग.पुरा.७।५।२३) इति सप्तमस्कन्धे प्रह्लादवाक्यात्. अन्येतु उपासनायामपि 'भक्ति'शब्दं प्रयुञ्जते. नैयायिकास्तु ''**आराध्यत्वेन ज्ञानं भक्तिः**'' (किरणावलीमंगलाचरणम्) इति आहुः. श्रीमत्कपिलदेवैस्तु श्रवणादिनवकस्य सात्त्विकादिभेदेन त्रैविध्यम् उक्तम्. पुनश्च मिश्रितभेदेन एकैकस्य त्रिविधस्य त्रैविध्यं नव भवन्ति. तथाच नवकस्यैव नव-नव भेदैः एकाशीतिप्रकारा सगुणा भक्तिः उक्ता.

राद्धान्तितातु ''**अनिमित्ता भागवती भक्तिः सिद्धेः गरीयसी जरयति आशु या कोशं निगीर्णम् अनलो यथा**'' (भाग.पुरा.३।२५।३३) इति अनिमित्तत्वकोशजारणत्वाभ्यां स्वरूपकार्यलक्षणाभ्यां गरीयसी निर्गुणा उक्ता साच मानसी सेवारूपा नारदपञ्चरात्रोक्ता शाण्डिल्यसूत्रोक्ता योगरूढेन 'भक्ति'शब्देन प्राप्ता अत्र विवक्षिता इति निष्कर्षः.

अतएव ''**चेतस्तत्प्रवणं सेवा... मानसी सा परा मता**'' (सि.मु.२) इति श्रीमदाचार्यचरणाः. ''**भक्तिः अस्य भजनं तद् इहामुत्रफलभोगनैराश्येन तस्मिन् मनःकल्पनम्**''(गोपा.ताप.उप.१।३), ''**परो हि योगो मनसः समाधिः**'' (भाग.पुरा.११।२३।४६) इति श्रुतिपुराणोक्तैः. तथाच तादृशैः अस्मिन् मार्गे माहात्म्यज्ञानजननहेतुतया आनुकूल्येन उक्तः. ''महान् आत्मा शरीरम् अस्य'' इति महात्मा=ब्रह्म. ''**बृहत्त्वाद् ब्रह्म उच्यते**'' (द्र. : विष्णुपुरा.१।१२।५५) इति वाक्याद्. महात्मनो भावो 'माहात्म्यं', माहात्म्यस्य ज्ञानं 'माहात्म्यज्ञानं', महात्मनो ब्रह्मणो महिमज्ञानम् इति यावत्. तस्य जननं=समुद्भवः तस्मिन् हेतुः, तस्य भावो हेतुता, तया कारणीभूतः इति अर्थः. माहात्म्यज्ञानरूपस्यैव= ब्रह्मज्ञानस्यैव भक्तेः पूर्ववर्तित्वात्=नियतपूर्ववर्तित्वाद् हेतोः. ''कारणाभावेन कार्याभावः'' इति न्यायेन भक्तिविषयात्मकस्य भगवत्स्वरूपस्यैव ज्ञानाभावेन भक्तेरेव अनुपपत्तेः. **आनुकूल्येन** , अनुकूलस्य भावः आनुकूल्यं जनकत्वं, तेन भक्तिजनकत्वेन इति अर्थः. यतो हेतुत्वम् अतएव अनुकूलत्वम्. यद्वा अनुकूलत्वं सहकारिभावः. तथाच हेतुतया आनुकूल्येन च उक्तः इति अर्थः. अनुक्तोऽपि **चः** समुच्चयं वक्ति, ''**विनापि चं समुच्चयो भवति**'' (पात.म.भा. । ।) इति महाभाष्यप्रामाण्यात्. एवञ्च भक्तौ भगवतो ज्ञानस्य आवश्यकता माहात्म्यज्ञानाय, माहात्म्यज्ञानस्यच प्रेमदार्ढ्याय. ज्ञानञ्च ''**जन्माद्यस्य यतः**'' (ब्र.सू.१।१।२) ''**यतो वा इमानि...**'', ''**सत्यं ज्ञानम् अनन्तं ब्रह्म**'' (तैत्ति.उप.३।१,२।१) इति कार्यस्वरूपलक्षणाभ्याम् उक्तं भवति.

तत्र माहात्म्यं—मनसापि आकलयितुम् अशक्यरचनस्य जगतो अनायासेन उत्पत्तिस्थितिभंगकरणं लिप्तत्वालिप्तत्वं भोक्तृत्वाभोक्तृत्वं कर्तृत्वाकर्तृत्वम् ''**अपाणिपादो जवनो गृहीता**'' (श्वेता.उप.३।१९) इत्यादिविरुद्धधर्माश्रयत्वं वा, तेन भक्तेः ज्ञानस्य उपजीव्योपजीवकभावः, कार्यकारणरूपो वा सम्बन्धः सिध्यति. अतः तद्धेतुत्वं तत्सहकारित्वम् इति भावः. एतादृशो अयं भक्तिमार्गे ब्रह्मवादः सिध्यति. सच **को**

उच्यते : "एकमेव अद्वितीयं ब्रह्म", "पुरुषएव इदं सर्वम्",

असौ ब्रह्मवादः तादृशो अश्रुतपूर्वो अयं कः ? इति अर्थः.

किञ्च तत्र का वा युक्तिः, किं प्रमाणं, कीदृशं च तत्स्वरूपम्? इत्यतः आहुः **उच्यते** इति, एतत् सर्वं संकलीकृत्यैव अस्माभिः कथ्यते इति अर्थः. तदेव दर्शयन्ति **एकमेव** इत्यारभ्य **तात्पर्यरूपः** इत्यन्तेन. **एकमेव अद्वितीयम्** इति, सजातीयविजातीयस्वगतभेदवर्जितम् इति अर्थः. तेन 'एकमेव'-'अद्वितीयम्' इति न पौनरुक्त्यम्. सजातीयाः जीवाः, विजातीयाः जडाः, स्वगताः अन्तर्यामिणः 'एक'पदेन सजातीयभेदनिरासः, 'एव'पदेन विजातीयस्य, 'अद्वय'पदेन स्वगतानां जीवानाम्. सजातीयत्वन्तु "एकत्वे सति अनेकानुगतत्वं जातिः" इति जातिलक्षणाद् अनेकजीवाः तदनुगताः चित्त्वरूपा जातिः तद्रूपतया साजात्यं ब्रह्मणः. तेन चित्साजात्येन ब्रह्मणो जीवैः साजात्यं "**यथा सुदीप्तात् पावकाद् विस्फुलिंगाः सहस्रशः प्रभवन्ति सरूपाः**" (मुण्ड.उप.२।१।१) इति मुण्डकश्रुतौ 'सरूप'पदात् चेतनत्वनित्यत्वा-दिना सारूप्यात् तादृशसजातीयभेदवर्जितम् एकम् इति अर्थः. जडानां विजातीयत्वं जडत्वानित्यत्वादिना. अन्तर्यामिणः स्वगतत्वं च प्रकटसच्चिदानन्दरूपत्वेऽपि परिच्छिन्नत्वप्रतिनियतकार्यकर्तृत्वादिना ज्ञेयम्. सजातीयद्वैतञ्च खण्डमुण्डगोव्य-क्त्योरिव विजातीयद्वैतं च घटपटयोरिव ज्ञेयम्. कुसुमेषु तरोः अनुसीवनेऽपि कुसुमरूपत्वाभावात् सच्चिदानन्दरूपे भगवति त्रितयनिरूपितद्वैतराहित्येन चिद्रूपेण जीवे, सद्रूपेण जडे, प्रकटानन्दरूपेण अन्तर्यामिणि इत्येवं त्रिष्वपि अनुस्यूतत्वात्. अतएव "**सजातीयविजातीयस्वगतद्वैतवर्जितम्**" (त.दी.नि.१।६६) इति श्रीमदाचार्यचरणाः. एवं कारणदशायां स्थितस्य ब्रह्मणो अभेदप्रतिपादिकां श्रुतिम् उक्त्वा कार्यदशायां स्थितस्य तत्प्रतिपादिकाम् आहुः "**पुरुषएव इदं सर्वम्**" (पुरु.सू.२)इति. एषा तैत्तिरीयोपनिषदि सहस्रशीर्षानुवाके. अग्रे "**यद् भूतं यत् च भाव्यम्**" (तत्रैव) इति तयोः अयम् अर्थः : पुरुषः=पुरुषोत्तमः "**उत्तमः पुरुषस्तु अन्यः**" (भग.गीता.१५।१७) इति वाक्यात्. "**इदं सर्वं यद् भूतं यत् च भाव्यं**" भूतत्वेन भावित्वेन च व्यवह्रियमाणम् 'इदं'=घटपटात्मकं नामरूपेण भिन्नतया परिदृश्यमानमपि 'सर्वं'=जगत् 'पुरुषएव'. एतस्मिन्

उपादानकरणत्वेनैव पुरुषोत्तमस्यैव अनुस्यूतत्वात् पुरुषोत्तमएव न अन्यः इति अर्थः. 'एव'कारस्य अत्र अन्यव्यवच्छेदकार्थत्वात्. यतो "**जन्माद्यस्य यतो**" (ब्र.सू.१।१।२), "**यतो वा इमानि**" (तैत्ति.उप.३।१), "**तत्तु समन्वयाद्**" (ब्र.सू.१।१।३) इत्यादिश्रुतिसूत्रेषु पञ्चमी समवायिकारणमेव वक्ति, "**जनिकर्तुः प्रकृतिः**" (पाणि.सू.१।४।३०) इति पाणिनीयसूत्रात्. तदेतत् "**तत्तु समन्वयाद्**" (ब्र.सू.१।१।३) इत्यादिसूत्रभाष्ये स्फुटं निरूपितं श्रीमदाचार्यचर-णैरिति न अत्र वितन्यते. द्वितीयामपि ताम् आह "**ऐतदात्म्यम् इदं सर्वम्**" (छान्दो.उप.६।८।७) इति, इयं श्वेतकेतूपाख्याने वर्तते. तत्र उपक्रमे "**अपिवा तम् आदेशम् अप्राक्षो येन अश्रुतं श्रुतं भवति**" (छान्दो.उप.६।१।२-३) इत्यादिना एकविज्ञानेन सर्वविज्ञानं प्रतिज्ञातम्. तद् एकमेव सर्वं भवेत् तदा(एव!) उपपद्यते. यथा सुवर्णखण्डाः सुवर्णकार्यं च सर्वं सुवर्णमिति सुवर्णज्ञाने तज्ज्ञानं भवति. तदर्थं "**सदेव, सौम्य!...**" (छान्दो.उप.६।२।१) इत्यारभ्य निरूपितम्. तदनन्तरं जडस्य सर्वस्यापि तदात्मकत्वकथनाय "**ऐतदात्म्यम् इदं सर्वम्**" (तत्रैव) इति उक्तम्. एतस्य अयम् अर्थः : एतस्य आत्मा एतदात्मा ब्रह्म, तस्य भावः ऐतदात्म्यम्. 'एतदात्मनः' इत्यत्रापि पञ्चमी समवायिकारणं वक्ति. तथाच एतदात्मनः सकाशाद् मृदो घटादिवत् तत् सर्वं सद्रूपेण इदं सर्वं जातम् इति अर्थः. "**सदेव, सौम्य!...**" इति दृष्टान्तवाक्ये जडस्य तदात्मकत्वोक्तेऽपि पुनः दार्ढ्यार्थं दार्ष्टान्तिकवाक्येऽपि उक्तम्. अग्रे विनाशित्वादिजडगतदोषपरिहरणाय. "**तत् सत्यम्...**" (तत्रैव) इति 'तत्'=पूर्वोक्तं 'सत्यं'=सर्वकालं सद् इति अर्थः. तेन वैनाशिकार्धवैनाशिकप्रतिपन्ने असत्त्वविनाशित्वे मायावादिप्रतिपन्नं मायिकत्वं च निरस्तम्. तदग्रे च पूर्वोत्तरयोः जडजीवयोः सदात्मकत्वे मध्ये हेतुम् आह "**स आत्मा...**" (तत्रैव) इति, स परमेश्वरः आत्मा सर्वस्य स्वरूपभूतो अनागन्तुकानारोपितरूपः सः इति अर्थः. यथा सुवर्णं कटककुण्डलादीनाम्. तथाच सर्वस्य तदात्मकत्वात् सर्वं सत्यम् इति ज्ञापनाय इदं मध्ये उक्तम्. पुनश्च जडस्य सर्वस्य तदात्मकत्वम् उक्त्वा जीवस्यापि आह "**तत्त्वम् असि**" (तत्रैव) इति. तथाच यथा ऐतदात्म्यम् एतदात्मनो भावः तथा त्वम् असि. तद् एतदात्मनो भावः त्वं भवसि इति अर्थः.

''ऐतदात्म्यम् इदं सर्वम्'' (छान्दो.उप.६।८।७) ''सवै सर्वम् इदं जगत्'' (महाना.उप.२३।९) इत्यादिश्रुतिभिः प्रपञ्चरूपेणापि पूर्वं सन्नेव स्वस्य अद्वयत्वेन तदतिरिक्तस्य अभावात् स्वक्रीडार्थम् आधारत्वेन प्रपञ्चरूपं सम्पादयितुं तद्रूपेण आविर्भूतो भगवानेव इति श्रुतितात्पर्यरूपः.

सच्चिद्रूपेण समवायिकारणं भगवान् जडे सद्रूपेणैव इति भेदः. 'असि'इति मध्यमपुरुषेणैव 'त्वं'पदलाभात्. तस्य भावः='तत्त्वम्' इति एकपदेनापि तथा अर्थो भवति इति लिखितम् आवरणभंगे(त.दी.नि.प्र.१।६१) श्रीमत्पुरुषोत्तमचरणैः. तथाच सर्वं तादृशार्थम् अभिसन्धायैव श्रीमद्हरिरायचरणैः महावाक्यरूपस्य सम्पूर्ण- प्रपाठकस्य उपलक्षिका इयं श्रुतिः उक्ता. यतः एतत् सर्वं निरूपितम् अस्ति निबन्धविद्वन्मण्डनादिषु इति दिक्.

सवै सर्वम् इदं जगद् इति, पूर्वोक्तरीत्या स्पष्टम्. **आदि** पदात् ''**सन्मूलाः, सौम्य!, इमाः प्रजाः सदायतनाः सत्प्रतिष्ठाः**'' (छान्दो.उप.६।८।६), ''**आत्मा वा इदम् अग्रे आसीद्**'' (बृह.उप.१।४।१), ''**सदेव, सौम्य!, इदम् अग्रे आसीद्**'' (छान्दो.उप.६।२।१), ''**स आत्मानं स्वयम् अकुरुत**'' (तैत्ति.उप.२।७) इत्यादिश्रुतयो अत्र अनुसन्धेयाः. **प्रपञ्चरूपेणापि पूर्वं सन्नेव** इत्यन्तं ''**सदेव, सौम्य!, इदम् अग्रे आसीद्**'' (तत्रैव) इति श्रुतितात्पर्यम्. तत्र हेतुः **तदतिरिक्तस्य अभावाद्** इति सद्रूपस्य ब्रह्मणो अतिरिक्तस्य अभावाद् इति अर्थः. तत्र उपष्टम्भिकां युक्तिम् आहुः **स्व**...इत्यादि **आविर्भूद्** इत्यन्तं, **स्वस्य** आत्मनः आनन्दमात्रकरपादमुखोदरादिविशिष्टस्य पुरुषोत्तमस्वरूपस्य **क्रीडा** रसाद्यनुरूपं रमणम् इति अर्थः. साच तदनुकूलपदार्थैः भिन्नैः सम्भवति इति षष्ठीतात्पर्यम्. ''**तद् ऐक्षत बहु स्यां प्रजायेय**'' (छान्दो.उप.६।२।३) इत्यादिश्रुतेः. भेदो अत्र हेम्नः तत्कटककुण्डलादिवद् ज्ञेयः. यद्वा **स्वैः** आनन्दात्मकैः भक्तैः तदनुकूलतादृशपदार्थैः आत्मीयैः करणभूतैः क्रीडति इति विग्रहः. **तस्यै** इति तदर्थं तां कर्तुम् इति अर्थः. एतेषां तादृशरूपत्वाभावे समानशीलव्यसनाभावे सति रमणाननुभवप्रसंगात्. तस्माद् उक्तम् आनन्दरूपस्य क्रीडोपयोगिनाम् आनन्दरूपत्वम्. साच आधारेण विना न भवति यतः तत्र आधारापेक्षा तद् आहुः **आधारत्वेन** इति, स्वाधारत्वेन

ननु भगवतः एवं विलक्षणाभ्यां स्वरूपाभ्यां द्वैतापत्तिः इति चेद् न, ''न इह नाना अस्ति किञ्चन'' इत्याद्यग्रिमश्रुत्या तद्वैलक्षण्यनिषेधात्.**

इति अर्थः. आधारश्च जडजीवात्मकः सच्चिद्रूपो भवतीत्यतः सच्चिदंशेन सद्रूपस्य प्रपञ्चस्य सम्पादनं, तदर्थमेव प्रपञ्चरूपेण आविर्भूतः सकलजनपरिदृश्यमानो जातः. तद्रूपत्वादेव आविर्भावो, नतु जननं, नित्यापरिच्छिन्नरूपत्वाद्, ''**नित्यापरिच्छिन्नतनौ प्राकट्यम्**'' (सुबो.२।६।१) इति उक्तेः. *ननु सकलजनपरिदृश्यमानो अन्यएव भविष्यति* इति आशंक्य आहुः **भगवानेव** इति, भगवान् पुरुषोत्तमएव आविर्भूतो न अन्यः इति अर्थः. ''**पुरुषएव इदं सर्वम्**'' (पुरु.सू.२) इत्यादिनिरुक्तश्रुतिप्रामाण्यात् सदंशे जडे अत्र चिदानन्दांशौ तिरोहितौ, सच्चिदंशे जीवे अत्र आनन्दांशः तिरोहितः इच्छातः. एतयोः क्रीडार्थम् आविर्भावितत्वात्. तथाच काष्ठवह्निन्यायेन आविर्भूतानाविर्भूते स्वरूपएव च ''**सत्यं ज्ञानम् अनन्तं ब्रह्म**'' (तैत्ति.उप.२।१) इत्यादिलक्षणलक्षितं सच्चिदानन्दस्वरूपत्वं भगवत्त्वं जगतः सिध्यति. हेम्नः कटककुण्डलादिवत् कार्यकारणयोः ऐक्याद् अखण्डाद्वैतं ब्रह्म इति श्रुतीनां तात्पर्यम्. तथाच एतादृशतात्पर्यरूपो अखण्डाद्वैतरूपो असौ ब्रह्मवादः इति पूर्वेण सम्बन्धः. अतएव ''**अखण्डं कृष्णवत् सर्वम् इति निर्गलितं वचः**'' (. । ।) इति श्रीमदाचार्यचरणोक्तिः, ''**सर्वं खलु इदं ब्रह्म**'' (छान्दो.उप.३।१४।१) इत्यादिश्रुतेः च.

ननु इति आशंकन्ते, कार्यकारणस्वरूपयोः वैलक्षण्याद् एकस्यैव द्विरूपत्वाद् द्वैतापत्तिः इति अर्थः. **न** इति निषिध्य अग्रे समादधते **न** इति. ''**नेह नाना अस्ति**'' (कठोप.२।१।११) इति इयं श्रुतिः काठकोपनिषदि द्वितीयाध्याये प्रथमवल्ल्याम् अस्ति. तत्र प्रथमाध्याये प्रथमवल्ल्यां पूर्वं यमेन सर्वं नश्वरं निरूपितं श्रुत्वा सर्वस्य अपारमार्थिकत्वं ज्ञात्वा पारमार्थिकं वरं याचितवान् शिष्यः. ततश्च द्वितीयवल्ल्यां विरक्तत्वेन परीक्षितं शिष्यं निःश्रेयसहेतुकेवलविद्यार्थित्वेन स्तोतुम् अभ्युदयनिःश्रेयसहेत्वोः विद्ययाविद्ययोः विभागम् आह यमः. ततः पूर्वोक्तविद्याविद्यादीनां फलादिकं वक्तुं

तृतीयवल्ल्यारम्भः. एवं प्रथमाध्यायसंक्षेपः. तदनन्तरं द्वितीयाध्याये पूर्वोक्तविद्या-दिप्रपञ्चाभिधानाय प्रथमवल्ल्यारम्भः, ''**पराञ्चि खानि**'' इत्यारभ्य ''**तं देवाः सर्वे अर्पिताः तदु न अत्येति कश्चन. एतद्वै तद्, यदेव इह तद् अमुत्र यद् अमुत्र तद् अन्विह**'' (कठोप.२।१-१०) इत्यन्तम्. एतदर्थस्तु : 'देवाः'=अधिदैवम् अग्न्यादयो 'अध्यात्मं'=वागादयः च 'अर्पिताः'=स्थितिकाले प्रवेशिताः. तं हिरण्यगर्भरूपं भगवन्तं 'नात्येति'= तदात्मकताम् अतीत्य तदन्यत्वं न गच्छति. तादृशदेवतारूपम् अधिदैवम् अध्यात्मम् इति एकवचनेन सम्बन्धः. यः एतत् पश्यति सः 'वै' इति निश्चयेन तत् प्राकरणिकं ब्रह्मैव पश्यति इति अर्थः. उपक्रमोपसंहारे जीवेशयोः ऐक्यम् उक्तं तन्मध्ये जडस्यापि तद् उक्तम्, एवञ्च तन्नानात्वदर्शनविरोधाद् अयुक्तम् इति आशंक्य नानात्वदर्शनं भ्रान्तिः इति सूचयितुं वदति ''**यदेव इह तद् अमुत्र यद् अमुत्र तद् अन्विह**'' (कठोप.२।१०), 'इह'=जीवोपाधौ 'अमुत्र' ईशोपाधौ 'अनु'=उपाधिम् अनुप्रविष्टं तदेव इति अर्थः. उपाधिकृतस्य भेदस्य मिथ्यात्वेन तद्दर्शनस्य निन्दां वदति ''**मृत्योः स मृत्युम् आप्नोति यः इह नानेव पश्यति**'' (तत्रैव) इति. 'इव'शब्दो अत्र चिद्रूपैक्याविरोधं सूचयति, तादृशस्य भेदस्य तथात्वात्. व्यतिहारोक्तिः ऐक्यदार्ढ्याय विद्यानिवर्त्यत्वाद् अविद्याकार्यत्वात् च भेदस्य मिथ्यात्वम् इति आह ''**मनसैव इदम् आप्तव्यं न इह नाना अस्ति किञ्चन**'' (कठोप.४।११), 'मनसा'=आचार्यागमसंस्कृतेन ऐकाग्र्येण. 'एवे'न भेदग्राहिचक्षुरादिनिरासः. 'आप्तव्यम्'=वेदितव्यम्. उत्तरार्ध भेददर्शननिन्दोपहासपरम् इति केचित्. एतत् सर्वं कठवल्लीभाष्ये(?) विस्तृतमिति अत्र दिशा अवगन्तव्या. **अग्रिमश्रुत्या** इति, पूर्वोक्तानाम् अभेदबोधिकानां श्रुतीनाम् अग्रिमया वैलक्षण्येऽपि द्वैतनिषेधाद् न द्वैतापत्तिः इति अर्थः. हेम्नः कटककुण्डलादिवैलक्षण्येऽपि वस्तुतो द्वैताभावात्. अतएव श्रुतिः तादृशा अभेदम् आह ''**यः पूर्वं तपसो जातम् अद्भ्यः पूर्वम् अजायत, गुहां प्रविश्य तिष्ठन्तं यो भूतैभिः व्यपश्यत. एतद्वै तद्**'' (कठोप.४।६), ''**कश्चिद् धीरः प्रत्यगात्मनम् ऐक्षद् आवृत्तचक्षुम् अमृतत्वम् इच्छन्**'' (कठोप.२।१) इति च, ''**नहि सत्यस्य नानात्वम्, अविद्वान् यदि मन्यसे, नानात्वं**

तदर्थस्तु : इह **सर्वरूपतया अद्वये ब्रह्मणि प्रपञ्चरूपेऽपि सच्चिदानन्दतया एकरूपे वस्तु न नाना किन्तु अब्रह्मदृशाम् अविद्यया भासतएव अतो वैलक्षण्यम्. अतएव ''वाचारम्भण...''** (छान्दो.उप.६।१।४) **श्रुतिः विकाराणां स्वदोषेण प्रतीतानां मिथ्यात्वं वस्तुत्वेन**

छिद्रयोः यद्वद् ज्योतिषोः वा तयोरिव. यथा हिरण्यं बहुधा समीयते नृभिः क्रियाभिः व्यवहारवर्त्मसु एवं वचोभिः भगवान् अधोक्षजो व्याख्यायते लौकिकवैदिकैः जनैः'' (भाग.पुरा.१२।४।३०-३१) इत्याद्युक्तेः च. **सच्चिदानन्दतया** इति, जडजीवान्तर्यामिरूपतया इति अर्थः. **किन्तु अब्रह्मदृशाम् अविद्यया** इति, न ब्रह्मणि दृष्टिः येषां ते अब्रह्मदृशः तेषाम्. **अविद्यया** इति मायाशक्तिः इति अर्थः, ''**यावत् स्याद् गुणवैषम्यं तावद् नानात्वम् आत्मनः**'' (भाग.पुरा.११।१०।३२) ''**प्रतिबुद्धइव स्वप्नाद् नानात्वाद् विनिवर्तते**'' (भाग.पुरा.११।११।१३), अतएव ''**पराञ्चि खानि व्यतृणत् स्वयम्भूः तस्मात् पराङ् पश्यति न अन्तरात्मन्**'' (कठोप.२।१) श्रुत्या बाह्यज्ञानवताम् इन्द्रियाणां स्वयम्भुवा हिंसनम् उक्तम्. **एव** इति, निश्चितम्. **अतः** इति, अविद्यया भासमानस्यापि भेदस्य मिथ्यात्वाद् न विलक्षणत्वं किन्तु एकरूपत्वम् इति अर्थः. एतदेव उपष्टम्भयन्ति **अतएव** इति, एकरूपत्वादेव इति अर्थः. **वाचारम्भणश्रुतिः** इति, ''**उत तम् आदेशम् अप्राक्षो येन अश्रुतं श्रुतं भवति**'' (छान्दो.उप.६।१।२-३) इत्यादि. ''**यथा, सौम्य!, एकेन**'' (तत्रैव) इत्यादिप्रतिज्ञादृष्टान्तश्रुतिबलेन प्रपञ्चसमवायित्वं ब्रह्मणः प्रतिपादितम्. तत्र दृष्टान्तवाक्यशेषे ''**वाचारम्भणम्**'' इत्यादि श्रूयते. अस्य अयम् अर्थो : यो विकारः तद् वाचारम्भणं यद् आरभ्यते तद् आरम्भणं ''**कृत्यल्युटो बहुलम्**'' (पाणि.सू.३।३।११३) इति कर्मणि 'ल्युट्', वागारब्धकारणस्यैव नामधेयं, कारणमेव हि तत्तदर्थक्रियासिद्ध्यर्थं तेन-तेन नाम्ना व्यवह्रियतइति कारणाद् अभिन्नमेव कार्यं नतु स्वेन रूपेण कारणाद् भिन्नत्वम्. तद् आह '''**मृत्तिका' इत्येव सत्यम्**'' (तत्रैव) इति कारणरूपेणैव सत्यं नतु मिथ्या. नच * वाचारम्भणम् अनूद्य तस्य विकारत्वं विधाय ततः तस्यैव नामधेयत्वनिगमनाद् विकारो वाङ्मात्रेणैव आरभ्यते, नतु वस्तुतः खपुष्पवद् * इति वाच्यं, ब्रह्मकारणत्वानुपपत्त्या

सत्त्वं च आह.

ननु वस्तुतो अतथात्वे कथं तथाप्रतीतिः इति चेद् न, सितामूर्ताविव नानात्वप्रतीतावपि एकत्वेन वस्तुनः तथात्वाभावात्. अतएव

''यतो वा इमानि'' (तैत्ति.उप.३।२) इत्यादिश्रुतिव्याकोपापत्तेः. यदिच विकारः(?स्य!) वाङ्मात्रताम् अभिप्रेयात् तदा *''वाचारम्भणं विकारो मृत्तिकैव सत्या''* इत्येव वदेत्, तावतैव मिथ्यात्वसिद्धिः, वदतितु एवं *'''मृत्तिका'इत्येव सत्यम्''* इति. तेन उक्तार्थएव सिध्यति. अतएव कार्यबोधकश्रुतौ युक्तिविरोधं परिहृत्य कार्यबोधकवाक्यान्तरे श्रुतिविरोधं परिहाय सूत्रम् आहुः व्यासचरणाः ''**तदनन्यत्वम् 'आरम्भण'शब्दादिभ्यः**'' (ब्र.सू.२।१।१४) इति सूत्रे 'आदि'पदेन 'इति'शब्दो, 'नामधेय'पदं, ''**सदेव, सौम्य!...**'' इत्यादीनि वाक्यानि च संगृह्यन्ते. अर्थस्तु निरुक्तप्रकारएव. यत्तु रामानुजाचार्याः भास्कराचार्याः च इदं सूत्रं मुख्यतया अभेदवादनिराकरणार्थं मायावादनिराकृतिस्तु आनुषंगिकी इति आहुः, तद् अणुभाष्ये श्रीमदाचार्यचरणैः, पुरुषोत्तमचरणैः च भाष्यप्रकाशेऽपि विशदतया निराकृतम्. भेदवादस्य ''**तर्काप्रतिष्ठानाद्**'' (ब्र.सू.२।१।११) इति सूत्रे पूर्वमेव निराकृतत्वात्, प्रकृतिवादः च ''**प्रतिज्ञादृष्टान्तानुपरोधाद्**'' (ब्र.सू.१।४।२३) इति सूत्रे पुरा निराकृतएव इति दिक्. विस्तरभिया न अत्र वितन्यते. अत्रतु परमतरीत्यैव श्रुत्यर्थम् आदाय नानात्वं निराकुर्वन् आहुः **विकाराणां स्वदोषेण प्रतीतानां मिथ्यात्वं वस्तुत्वेन सत्त्वं च आह ''वाचारम्भण...'' इति श्रुतिः**, इति भवानपि आह इति अर्थः. तथाच त्वन्मतरीत्यापि विकाराणां मिथ्यात्वे नानात्वाभावएव इति भावः.

ननु घटः शरावादिः पटः शिरोवेष्टनशाटकादयो बहवः सन्ति तेषां कथम् एकत्वम्? इति आशंक्य तस्य दृष्टान्तेन निराकरणपूर्वकं सिद्धान्तदृढीकरणार्थम् आशंकन्ते **ननु** इति. **अतथात्वे** अनानात्वे. **तथाप्रतीतिः** नानात्वप्रतीतिः इति अर्थः. समादधते **न** इति, सितायाः बालानां क्रीडार्थं कंकणाद्याभरणानि मन्दिराणि हस्त्यश्वादिमूर्तिः च कुर्वन्ति, तासां नानात्वप्रतीतिः भवति. तथापि तासां सितात्वेन एकरूपत्वेन सितारूपवस्तुनो नानात्वाभावाद् इति अर्थः. तथाच ब्रह्मणः सर्वरूपत्वेऽपि ब्रह्मत्वेन नानात्वाभावाद् इति

न ब्रह्मविदां तथाप्रतीतिः, स्वरूपमात्रदृष्टित्वात्. ये पुनः बहिर्दृष्टयः तेषामेव तथात्वभानाद् न वस्तुनि तथात्वं तात्पर्यान्तराभावेन तद्दृष्टेः असम्मतत्वात्. अतएव विचारसिद्ध्यर्थकत्वेन शास्त्रसार्थक्यम्. अतएव ''अखण्डं कृष्णवत् सर्वम्'' (त.दी.नि.२।१८२) इति आचार्यवर्याः.

भावः. दृष्टान्तदार्ष्टान्तिके युक्त्यैव उपष्टम्भन्ति **अतएव** इति, एकरूपत्वादेव तेषां न मिथ्यात्वप्रतीतिः इति अर्थः. तत्र हेतुम् आहुः **स्वरूपमात्रदृष्टित्वाद्** इति, ब्रह्मस्वरूपमात्रदृष्टित्वं तेषां तस्माद् इति अर्थः. कार्येऽपि दृष्टिः तेषां तथापि कारणानन्यत्वेन, नतु तत्पृथक्तया इति भावः. यथा बालानां सितावस्तुज्ञानाभावेन तत्क्रीडनकेषु नानात्वबुद्धिः भवति, नतु सिताज्ञानवतां प्रबुद्धानाम्. अतः प्रबुद्धदृष्टिरेव सम्मता, नतु बालदृष्टिः. तदेव उपपादयन्ति **ये पुनः** इति. **बहिर्दृष्टयः** इति, अन्तःस्थितस्य ब्रह्मणो दर्शनं येषां न भवति ते बहिर्दृष्टयः. **तेषामेव** इति, अब्रह्मदृशामेव इति अर्थः. तथात्वभानाद् न वस्तुनि तथात्वम् इति, वस्तुदृष्ट्यभावेन एकस्वरूपत्वाभावाद्, न वस्तुनि एकरूपत्वाभाववत्त्वं नानात्वम् इति अर्थः. तत्र हेतुम् आहुः **तात्पर्यान्त...** इत्यादि, तात्पर्यान्तविचाराभाववतां बालानां दृष्टेः असम्मतत्वाद् इति अर्थः. तात्पर्यञ्च एकेनैव मृदादिसमवायिकारणेन सर्वे घटपटादयो भवन्ति. तत्समवायिकारणञ्च ब्रह्मणः सदंशरूपं, तच्च सर्वस्मिन् अनुस्यूतम् अतः तद्रूपत्वेन सर्वस्य एकरूपत्वाद् न क्वापि नानात्वम्. ''**न इह नाना अस्ति किञ्चन**'' (तत्रैव), ''**वाचारम्भणं 'विकारो' नामधेयं 'मृत्तिका' इत्येव सत्यम्**'' (तत्रैव), ''**तत् केन कं पश्येद्**'' (बृह.उप.४।६।१५) इत्यादिश्रुतीनां तात्पर्यं, तदेव **अन्तः** सिद्धान्तो वादिप्रतिवादिभ्यां निर्णीतो अर्थः. तत्र विचारएव नास्तीति तेषां कुतः तन्निर्णयज्ञानम्? विचारश्च —किं कारणं, किं कार्यं, कीदृशं च तयोः स्वरूपम्? इत्यादिः. अतः तेषां दृष्टेः असम्मतत्वं, तस्माद् इति अर्थः. तदर्थमेव उत्तरमीमांसाशास्त्रम् इति आहुः **अतएव** इति, बहिर्दृष्टिबोधसापेक्षत्वादेव इति अर्थः. **विचारो** जिज्ञासा, तस्याः **सिद्धिः** फलं ज्ञानम् इति यावत्, तदेव **अर्थं** प्रयोजनं यस्य तद् **विचारसिद्ध्यर्थकं** तस्य भावो, बहुव्रीहौ 'कः'. **शास्त्रस्य** उत्तरमीमांसाशास्त्रस्य इति अर्थः. **सार्थक्यं** प्रयोजनवत्त्वं, वेदस्य विचाराभावेन

तस्मात् सर्वरूपम् अद्वयं ब्रह्म इति सिद्धम्.

***ननु एवं प्रपञ्चस्य भगवद्रूपत्वे मुमुक्षुसाधनोपदेशेषु तस्य हेयत्वोपदेशः कथं शास्त्रे युज्यते?* इति चेत् सत्यम्. स्वक्रीडार्थमेव तत्सृष्टेः तत्र विचित्रे रूपे जीवानां स्वीयत्वेन आसक्तिभ्रमनिवारणाय.**

निर्विचिकित्सतया बोधाभावाद् इति अर्थः. "**कर्माकर्मविकर्मेति वेदवादो न लौकिको वेदस्य च ईश्वरात्मत्वात् तत्र मुह्यन्ति सूरयः**" (भाग.पुरा.११।३।४३) इति उक्तेः. नहि बहिर्दृष्टिसापेक्षम् इदं शास्त्रं किन्तु ज्ञानिसापेक्षमेव. तद् उक्तम् आचार्यवर्यैः "**असन्दिग्धेऽपि वेदार्थे स्थूणाखननवद् मतः, मीमांसानिर्णयः प्राज्ञे दुर्बुद्धेस्तु ततो द्वयम्**" (अणुभा.१।१।१) इति. यद्वा ज्ञानिनां निरुक्ततादृशविचारसिद्ध्यर्थकत्वेन **शास्त्रस्य** "शास्ति इति शास्त्रं वेदः, तस्य "**न इह नाना अस्ति किञ्चन**" (कठोप.४।११), "**सर्वं खलु इदं ब्रह्म**" (बृह.उप.४।५।१९) इत्यादिरूपस्य सार्थक्यम्. अन्यथा एतच्छास्त्रस्य वैयर्थ्यं स्याद् इति अर्थः. अत्र अर्थे उपष्टम्भकं प्रमाणम् आहुः **अतएव** इति, तात्पर्यान्तविचारवताम् एतच्छास्त्रे अखण्डाद्वैतब्रह्मणः सिद्धान्तितत्वाद् इति अर्थः. उपसंहरन्ति **तस्माद्** इति, स्वस्य क्रीडार्थम् आधारत्वेन प्रपञ्चरूपं सम्पादयितुं तद्रूपेण भगवतएव प्रादुर्भूतत्वाद् इति अर्थः. **सर्वरूपम् अद्वयं ब्रह्म इति सिद्धम्** इति, निरुक्तश्रुतितात्पर्यप्रमाणबलेन सर्वरूपतया अखण्डाद्वैतं ब्रह्म इति निष्पन्नम् इति अर्थः.

एवं प्रपञ्चस्य भगवद्रूपत्वे सिद्धे तस्य हेयत्वोपदेशो विरुद्ध्यतइति तन्निरासाय पूर्वम् आशंकन्ते **ननु** इति. **मुमुक्षुसाधनोपदेशेषु** इति, "**इमाः रामाः सरथाः सतूर्याः नहि ईदृशाः लम्भनीयाः मनुष्यैः**" (कठोप.१।१।२५), "**स्वाराज्यतुष्ट उपशान्तम् इदं विजह्याद्**" (भाग.पुरा.७।१५।४५) इत्यादिषु इति अर्थः. **तस्य** इति, प्रपञ्चस्य इति अर्थः. **शास्त्रे** इति, वेदादौ. समादधते **सत्यम्** इति, अर्धांगीकारः. अस्ति यद्यपि हेयत्वोपदेशः तस्य तथापि मनीषितं भगवदतिरिक्तत्वं मिथ्यात्वन्तु न समायाति किन्तु अन्यत् प्रयोजनम् अस्ति इति आहुः **क्रीडार्थमेव** इति,

अन्यथा मुक्ताधिकभक्तानाम् अन्येषां वा भजनोपयोगितया तत्परिग्रहो

क्रीडार्थप्रयोजनमेव प्रपञ्चसृष्टेः. तथाच प्रपञ्चसृष्टेः क्रीडाप्रयोजकत्वेन प्रपञ्चस्य न भगवदतिरिक्तत्वं मिथ्यात्वं किन्तु भगवद्रूपत्वमेव इति अर्थः. अन्यथा भगवत्क्रीडायाएव मिथ्यात्वापत्तेः "एको अहं बहु स्याम्" इति इच्छायाः मिथ्यात्वे पर्यवसानात् सत्यसंकल्पत्वानुपपत्तेः च. तस्माद् न मिथ्यात्वाय शास्त्रे हेयत्वोपदेशः किन्तु अन्यप्रयोजनाय इति. तद् आहुः **तत्र** इत्यादिना, **तत्र सृष्टौ विचित्रे रूपे** स्त्रीत्वपुंस्त्वयुवबालवृद्धत्वादिप्रकारके बन्धुसुहृदादिरूपे. **जीवानाम्** अविद्यापरवशानाम्. **स्वीयत्वेन आसक्तिः** प्रीतिः "*अहम् एतेषां—मदीयाः च इमे*" इत्याद्यात्मीयत्वरूपा सम्बन्धरूपा वा. एतस्याश्च मिथ्यात्वाद् भ्रमरूपत्वम्. एतादृशाध्यासस्यैव तथात्वात् "**कस्य के पतिपुत्राद्याः मोहएव हि कारणम्**" (भाग.पुरा.८।१६।१९) इति वाक्यात्. अनर्थहेतुत्वेन दोषरूपत्वं च. तादृशभ्रमस्य "'**अहं-मम' इति स्वीकृत्य करोति कुमतिः मतिम्**" (भाग.पुरा.४।२८।१७) इत्यादौ निन्दाश्रवणात् तादृशासक्तिभ्रमरूपदोष-निवारणाय शास्त्रे प्रपञ्चस्य हेयत्वोपदेशो युज्यते इति पूर्वेण सम्बन्धः. एवं नोचेद् बाधकयुक्तिम् आहुः **अन्यथा** इत्यादि, आसक्तिभ्रमनिवारणार्थत्वा-भावे. **मुक्ताधिकभक्तानाम्** इति, मुक्तैः अधिकाः च ते. "**भगवान् भजतां मुकुन्दो मुक्तिं ददाति कर्हिचित् स्म न भक्तियोगम्**" (भाग.पुरा.५।६।१८) इत्यादिवचनाद् येषां भक्तिं ददाति भगवान् ते मुक्ताधिकाः पूर्णपुरुषोत्तमचरणपरिचरणपरायणान्तःकरणाः, भक्तिस्तु परब्रह्मप्रापिका प्रवचना-दिसाधनासाधनीया, "**न अयम् आत्मा प्रवचनेन लभ्यो न मेधया न बहुना श्रुतेन यमेव एष वृणुते तेन लभ्यः**" (कठोप.२।२३) इति श्रुतेः मुक्तिस्तु तपआदिसाधनसाध्या, "**तपसा ब्रह्म विजिज्ञासस्व**" (तैत्ति.उप.३-।२) इति श्रुतेः. तथाच पूर्वसाधनादिभिः मुक्तिं प्राप्नुवन्तः तदन्तरं तीव्रविरहभावसम्पत्तौ भगवत्कृपया वरणाधिकारं प्राप्नुवन्तो भक्ताः. ज्ञानिभक्तानाम् इयं व्यवस्था पुष्टिभक्तास्तु पूर्वतएव निःसाधनाः पुरुषोत्तमसेवापरायणान्तःकरणाः. वरणाधिकारसम्पत्तिस्तु तेषां पूवमेव जाता यदा भगवता सृष्टाः, कायिकसृष्टित्वात् तेषां, "**पुष्टिं कायेन निश्चयः**" (पु.प्र.म.९) इति श्रीमदाचार्यचरणवाक्पीयूषात्. "**सवै नैव रेमे. तस्माद्**

न स्याद्, ब्रह्मविदां वा ब्रह्मत्वप्रतीतौ अहेयत्वबुद्धिः न स्यात्. अतो भ्रमाद् आसक्तिः, तन्निवारणार्थमेव शास्त्रे तथा उक्तिः इति जानीमः.

एकाकी न रमते. स द्वितीयम् ऐच्छत्'' (बृह.उप.१।४।३), **''भिन्नैव काचित् सा सृष्टिः विधातुः व्यतिरेकिणी''** (?) इति वाराहपुराणात् च. ज्ञानिनान्तु अन्ततएव मुक्ताधिकभक्तत्वम् एतेषान्तु पूर्वतएवेति नितरां तथा. केवलज्ञानिनस्तु मुक्ताएव न भक्ताः, **''न अहं प्रकाशः सर्वस्य योगमायासमावृतः''**(भग.गीता.७।२५), **''ते प्राप्नुवन्ति मामेव सर्वभूतहिते रताः''** (भग.गीता.१२।४) इत्यादिवाक्यैः ज्ञानिभक्तयोः विवेकः उक्तः श्रीमत्प्रभुचरणैः. **''ज्ञानी चेद् भजते कृष्णं तस्माद् न अस्ति अधिकः परः''** (त.दी.नि.१।१४) इति प्रशंसावाक्यमपि. अतएव श्रीमदाचार्यचरणाः निबन्धे तत्त्वदीपे **''तदुपासनया ज्ञानात् परमात्मत्वम् अस्य हि, ज्ञानमार्गेतु एतदेव सेव्यः''** (त.दी.नि.२।१०३), भाष्येऽपि आनन्दमयाधिकरणे प्रपञ्चितम् अस्ति **''गतेः अर्थवत्त्वम् उभयथा हि विरोधः''** (ब्र.सू.३।३।२९) इति तृतीयाध्यायेऽपि. अतः तादृशाः मुक्ताधिकभक्ताः ज्ञानिभक्ताः पुष्टिभक्ताः इति अर्थः. **अन्येषां वा** इति, केवलज्ञानिनाम् अक्षरज्ञानवतां मुक्तानाम् अखण्डाद्वैतज्ञानवताम् इति यावत्. **भजनोपयोगितया** इति, **''इदं हि विश्वं भगवानिव इतरः''** (भाग.पुरा.१।५।२०), **''क्रीडार्थम् आत्मनः इदं त्रिजगत् कृतं ते''** (भाग.पुरा.८।२२।२०), **''क्रीडाभाण्डं विश्वम् इदं''** (भाग.पुरा.४।७।४३), **''पातालम् एतस्य पादमूलम्''** (भाग.पुरा.२।१।२६), **''यावद् न जायेत परावरे अस्मिन् विश्वेश्वरे द्रष्टरि भक्तियोगः तावत् स्थवीयः पुरुषस्य रूपं क्रियावसाने प्रयतः स्मरेत''** (भाग.पुरा.२।२।१४) इत्यादिवाक्येषु प्रपञ्चस्य भगवद्रूपत्वेन भजनोपयोगित्वं व्यासचरणैः शुकचरणैः च उक्तम्. मिथ्यारूपत्वेतु अस्य लीलारूपत्वम् उपास्यरूपत्वं च ते कथं वदेयुः? यतः तेषां तद्रूपतया तस्य प्रपञ्चस्य परिग्रहः परिज्ञानमेव न स्याद् इति अर्थः, तेषां ब्रह्मदृष्टित्वात्. अन्यदपि आहुः **ब्रह्मविदां वा** इति, यस्य ब्रह्मरूपत्वेन तेषाम् अहेयत्वबुद्धिः अतएव **''पातालम् अस्य''** इत्यादि आहुः श्रीमच्छुकादयः. **अतः** इति, प्रपञ्चस्य ब्रह्मरूपत्वाद् इति अर्थः. **तथा उक्तिः इति** इति, हेयत्वोक्तिः इति अर्थः.

***ननु तदा उपास्यत्वेन वेदान्तेषु प्रपञ्चरूपमेव उपदिश्येत, मूलरूपत्वात्. नच अस्तु तथैव इति वक्तुं शक्यं ''सर्वत्र प्रसिद्धोपदेशाद्'' (ब्र.सू.१।२।१) इति अधिकरणविरोधाद्* इति चेद् न, वेदान्तेषु ज्ञानार्थम् उपासनानिरूपणं चित्तशुद्धिहेतुत्वेन नतु सिद्धे ज्ञाने तथाच अज्ञान् प्रत्येव प्रपञ्चरूपे सर्वाधिकत्वज्ञानाभावेन उपासनासिद्धेः तद्भिन्नस्य तथात्वम् उच्यते. सिद्धेतु ज्ञाने सर्वत्र ब्रह्मस्फूर्तिः वरणे वा भ-**

एवं सर्वस्य ब्रह्मरूपत्वे सिद्धेः तत्र हेयत्वोक्तिविरोधे परिहृतेऽपि उपास्यरूपस्य तदभिन्नतया निरूपणश्रवणात् प्रतिवादी प्रत्यवतिष्ठते **ननु** इति, यदा सर्वस्यैव प्रपञ्चस्य ब्रह्मत्वं तदा **''आत्मा वारे द्रष्टव्यः श्रोतव्यो मन्तव्यो निदिध्यासितव्यो''** (बृह.उप.४।५।६) इत्याद्युपासनाविषयेषु वेदान्तवाक्येषु प्रपञ्चरूपमेव उपास्यत्वेन उपदिश्येत, भवन्मते तस्यैव मूलरूपत्वाद् इति अर्थः. ननु ब्रह्मणः सर्वरूपत्वेन सर्वरूपस्यैव उपदेशो अस्तु उपासनावाक्येषु इति आशंकायाम् आहुः **नच** इति. **तथैव** इति, सर्वरूपस्यैव उपदेशो अस्ति इति नच वक्तुं शक्यम्. तत्र हेतुम् आहुः **सर्वत्र** इति. अस्य अर्थस्तु : **सर्वत्र** वेदान्तवाक्येषु प्रसिद्धस्य **''निष्कलं निष्क्रियम्''** (श्वेता.उप.६।१९) इत्यादिवाक्यबोधितस्य ब्रह्मणएव उपस्थितत्वेन उपदेशो नतु प्रपञ्चरूपस्य तथात्वेन उपदेशो अस्ति. **अधिकरणविरोधाद्** इति, प्रथमाध्यायस्य द्वितीयचरणस्य प्रथमाधिकरणविरोधाद् इति अर्थः. **न** इति निराकृत्य समादधते **वेदान्तेषु** इति. **तद्भिन्नस्य तथात्वम्** इति, अज्ञान् प्रत्येव प्रपञ्चभिन्नस्य उपास्यरूपत्वम् उच्यते नतु ज्ञानिनो, वस्तुतः प्रपञ्चरूपस्य तद्भिन्नत्वाभावाद्. तेषां प्रपञ्चरूपत्वे सर्वाधिकत्वज्ञानाभावेन उपासनायाः असिद्धेः. अतो न वस्तुतः प्रपञ्चोपास्यरूपयोः भिन्नत्वं किन्तु बालानुशासनार्थमेव तथा उक्तिः इति भावः. **''परोक्षवादो वेदो अयं बालानाम् अनुशासनम्''** (भाग.पुरा.११।३।४४) इति उक्तेः. तेन **''द्रष्टव्यः श्रोतव्यः''** (बृह.उप.४।५।६) इत्यादिवाक्यानां निर्वाहः. **''पातालम् एतस्य...''** इत्यादौतु प्रपञ्चरूपस्यापि भगवतः उपास्यरूपत्वं निरूपितम्. अतएव **''यावद् न जायेत परावरे अस्मिन्''** (भाग.पुरा.२।२।१४) इति आहुः. **सिद्धेतु** इति, केवलब्रह्मज्ञानिनां सर्वत्र ब्रह्मस्फूर्तिः अग्रेतु यथाधिकारसम्प्राप्तिः, सिद्धाधिकारिणान्तु भक्त्या

क्तिरिति न उपासनावसरः इति भेदेन पूर्वम् उपास्यनिरूपणम् इति अर्थः. अतएव "वासुदेवः सर्वम्" (भग.गीता.७।१९) इत्यादिवाक्यानि.

* **ननु एवं शुद्धब्रह्मवादे जीवानामपि तद्रूपत्वेन भजनानुपपत्तिः** * **इति चेद् न, अंशत्वेनैव तद्रूपता तेषां, न अंशिनो, ब्रह्मवादे सर्वस्यैव ब्रह्मणः सर्वात्मत्वात्. परं तद्रूपेण "इन्द्रो मायाभिः पुरुरूप ईयते" (बृह.उप.२।५।१५) इति श्रुतेः. तथाच सहजांशानां पुनः पूर्वभावसम्पत्त्यर्थम् अविद्यादोषनिवृत्त्यर्थं च भजनोपपत्तिः इति भावः.**

न उपासनावसरः. **इति भेदेन** इति, निरुक्तप्रकारेण भेदेन इति अर्थः. तदुपष्टम्भकं भगवद्वाक्यानां निदर्शनम् आहुः **अतएव** इत्यादि, "**वासुदेवः सर्वम् इति स महात्मा सुदुर्लभः**" (भग.गीता.७।१९), "सर्वं वासुदेवः" इति एतादृशज्ञानवान् यो महात्मा सो अतिदुर्लभः इति अर्थः. '**आदि**' पदात् "**स सर्वविद् भजति मां सर्वभावेन**" (भग.गीता.१५।१९) इत्यादीनां संग्रहः.

एवं जडात्मकस्य प्रपञ्चस्य ब्रह्मणः सद्रूपतया अभेदो निरूपितः. जीवाभेदस्तु "**तत्त्वम् असि**" (छान्दो.उप.६।८।७) इत्यादिवाक्यैः चित् सजातीयो निर्विवादएव इत्यतो न उक्तः. तथापि जीवब्रह्मणोः ऐक्ये भजनानुपपत्तिः इति आशंकां निरसितुं तामेव आहुः **ननु एवम्** इति. **भजनानुपपत्तिः** इति तरतमभावाभावात् तदनुपपत्तिः इति अर्थः, "**स एकाकी न रमते**" (महोप.१।१) इति श्रुतेः. यद्वा भगवद्रूपत्वे सिद्धे भजनस्य अप्रयोजकत्वाद् अनुपपत्तिः इति समादधते **अंशत्वेनैव** इति. **सहजांशानाम्** इति, "**अंशो नानाव्यपदेशात्**"(ब्र.सू.२।३।४३), "**ममैव अंशो जीवलोके जीवभूतः सनातनः**" (भग.गीता.१५।७), "**यथा अग्नेः क्षुद्राः विस्फुलिंगाः व्युच्चरन्ति, एवमेव अस्माद् आत्मनः सर्वे प्राणाः**" (बृह.उप.२।१।२०) इत्याद्युक्तेः. अंशत्वञ्च राश्येकदेशत्वम्. **पूर्वभावसम्पत्त्यर्थम्** इति, साम्प्रतन्तु "**पराभिध्यानात्तु तिरोहितं ततोहि अस्य बन्धविपर्ययौ**" (ब्र.सू.३।२।५) इति सूत्राद् अस्य जीवस्य ऐश्वर्यादि तिरोहितं, तेन भजनादिकं न भवति,

* **ननु तथापि भजनमात्रपर्यवसायिनि पुष्टिमार्गे निवर्त्यदोषाभावात्**

"**न अयम् आत्मा बलहीनेन लभ्यः**" (मुण्ड.उप.३।२।४) इति श्रुतेः. अतः पुनः ऐश्वर्यादिभावसम्पत्त्यर्थम् इति अर्थः. **अविद्यादोषनिवृत्त्यर्थञ्च** इति, राश्यैकदेशस्य अंशस्य विभाजिका अविद्या, तस्याः च भगवद्विच्छेदापादकत्वेन दोषरूपत्वं तन्निवृत्त्यर्थम् इति अर्थः. नच * ऐश्वर्यादिसम्पत्तौ अविद्यादोषनिवृत्तौ च भगवद्रूपत्वएव सिद्धेः भजनानुपपत्तिः तदवस्थैव * इति वाच्यं, तत्र भगवत्कृतस्यैव तरतमभावस्यैव स्थितत्वात्. "**स्वरूपेण अवतारेण लिंगेन च गुणेन च तारतम्यं न स्वरूपे देहे वा तत्क्रियासु वा**" (पु.प्र.म.१३) इति श्रीमदाचार्योक्तौ मुख्यभक्तानां भगवदेहेन गुणेन च साम्यम् अस्ति, भगवदवतारवत् तद्वदेव तेषां प्रादुर्भावात्. भगवता सह नृत्यादिसामर्थ्यस्य विद्यमानत्वात् चिह्नसाम्यम्. गुणाः सौन्दर्यादयः तत्साम्यन्तु स्पष्टमेव "**ब्रह्मैव सन् ब्रह्म अप्येति**" (बृह.उप.४।४।६) इति श्रुतेः. एवं भगवत्साम्येऽपि भगवत्कृतं तत्र तारतम्यम् अस्ति इति मन्तव्यम्, उत्कर्षापकर्षवैचित्र्येण विना सम्यग्रमणासिद्धेः. अतएव अग्रे आहुः श्रीमदाचार्यचरणाः "**तथापि यावता कार्यं तावत् तस्य करोति हि**" (पु.प्र.म.१४) इति. अतएव बाललीलादयो युक्तरूपाः भवन्ति इति दिक्.

एवं सति सुखेन भजनोपपत्तिः, तेन पुष्टि-पुष्टिपुष्टि-मर्यादा च इति अधिकारत्रये यथायोग्याधिकारे सिद्धे अलौकिकसामर्थ्यं पुरुषोत्तमसायुज्यं सेवोपयोगिदेहो वैकुण्ठादिषु इति सेवाफलोक्तं यथायोग्यं फलं भविष्यति इति भावः. **भावः** इति, श्रुतेः भावः इति अर्थः. पुनः आशंकन्ते **ननु** इति. **भजनमात्रपर्यवसायिनी** इति, "**तस्माद् मद्भक्तियुक्तस्य योगिनो वै मदात्मनो न ज्ञानं नच वैराग्यं प्रायः श्रेयो भवेद् इह**" (भाग.पुरा.११।२०।३१) इत्यादिवाक्यैः कर्मज्ञानोपासनादीनाम् अप्रयोजकत्वाद् भजनमात्रपर्यवसायी इति अर्थः, तस्मिन्. **पुष्टिमार्गे** इति, **पुष्टिः** पोषणम् अनुग्रहः इति यावत्, "**पोषणं तदनुग्रहः**" (भाग.पुरा.२।१०।४) इति उक्तेः. 'मार्ग' पदनिरुक्तिस्तु पूर्ववद् ज्ञेया. **निवर्त्यदोषाभावाद्** इति, **निवर्त्यानाम्** अविद्यादिगुणानां

तदनुपपत्तिः* इति चेद् न, तत्रापि पुरुषोत्तमांशानां तेषां लीलार्थं ततो वियुक्तानां पुनः सम्बन्धेन फलानुभावार्थं भजनस्य आवश्यकत्वात्.

कामादीनां **दोषरूपाणां** निवर्त्यत्वेन अभावाद् इति अर्थः. "**अपि चेत् सुदुराचारो भजते माम् अनन्यभाक् साधुरेव स मन्तव्यः सम्यग् व्यवसितो हि सः**" (भग.गीता.९।३०) इति श्रीमद्भगवदुक्तेः; अजामिलादौ (तथा)दर्शनात् च. **तदनुपपत्तिः** इति तथाच आकस्मिके श्रेयसि सिद्धे भजनप्रयोजनाभावाद् भजनानुपपत्तिः इति अर्थः. **न** इति निषिध्य समादधते **तत्रापि** इति, निवर्त्यदोषाभावेऽपि तेषां जीवानां ततः पुरुषोत्तमाद् वियुक्तानां पुनः भगवत्सम्बन्धेन तदनुभावार्थकत्वेन फलानुभवः प्रयोजनं, यतो लीलार्थमेव भगवता वियुक्ताः कृताः, तदर्थं भजनस्य आवश्यकत्वेन सप्रयोजनकत्वानुपपत्तिः इति अर्थः. नच *तर्हि अविद्यानिवृत्त्यर्थं च इति अनुपपन्नम्* इति वाच्यं, तन्निवृत्तावेव फलानुभवात्. नच *रासलीलायां कामादीनाम् अपेक्षितत्वाद् न तन्निवृत्तिः* इति वाच्यं, तस्याः तद्गुणानां च तत्र अलौकिकत्वेन लौकिकायाः तस्याः निवृत्तेः. "**श्रिया पुष्ट्या गिरा कान्त्या कीर्त्या तुष्ट्या इलया ऊर्जया विद्यया अविद्यया शक्त्या मायया च निषेवितम्**" (भाग.पुरा.१०।३९।५५) इति उक्तेः. नच *तस्याः बन्धनैकस्वभावत्वेन तत्र स्थितायाः बन्धः सम्भवति* इति वाच्यं, लौकिकस्वभावं त्यक्त्वा अलौकिकतया तस्याः स्थितेः, "**विलज्जमानया यस्य स्थातुम् ईक्षापथे अमुया**" (भाग.पुरा.२।५।१३) इति उक्तेः तदधिष्ठात्र्याः मायायाः तत्र विलज्जमानत्वं तदा किं वाच्यम् अविद्यायाः! तथाच सभयतया सलज्जतया च स्वस्वभावं त्यक्त्वा यावद्रासलीलाकार्यं तदनुकूलमेव करोति "**भगवानपि ताः रात्रीः शरदोत्फुल्लमल्लिकाः वीक्ष्य रन्तुं मनः चक्रे योगमायाम् उपाश्रितः**" (भाग.पुरा.१०।२६।१) इति न कोऽपि शंकालेशः. तथाच लौकिकस्वभावायाः तस्यास्तु निवृत्तिरेव उचिता, तन्निवृत्त्यभावे फलानुभवासिद्धेः. अतः तन्निवृत्तेः आवश्यकत्वेन तदर्थं भजनस्य आवश्यकत्वात् तदुपपत्तिः युक्तेति तद् अनवद्यम्.

एवं सति भजनस्य अविद्यानिवृत्त्यर्थत्वेन फलानुभवार्थत्वेन च

***ननु एवं भजनस्य साधनत्वे पुष्टिमार्गत्वानुपपत्तिः* इति चेद् न, भजनस्य भावरूपत्वेन फलरूपत्वात् तस्य साधनत्वेऽपि न क्षतिः,**

साधनत्वापत्तौ आशंकन्ते **ननु** इति. तथाच तस्य साधनत्वेन फलस्य तत्साध्यत्वेन पुष्ट्येकसाध्यत्वाभात् पुष्टेः मार्गस्य अनुपपत्तिः. तेन मार्गेण भगवति गमनाभावाद् इति अर्थः. नहि पुष्टिः स्वकृतिसाध्या भवति किन्तु भगवदिच्छैकसाध्या राजसेवकयोरिव. अतो या निःसाधनफला सैव पुष्टिः. अतः कर्मज्ञानोपासनादिमद्भजनस्यापि साधनत्वेन पुष्टिमार्गस्य तदसाध्यत्वात् तदनुपपत्तिः इति भावः. **न** इति निषिध्य समादधते **भजनस्य तत्र भावरूपत्वेन** इति, भजनञ्च 'भक्ति'शब्दवाच्या क्रिया "**प्रकृतिप्रत्ययौ सह अर्थं ब्रूतः तयोस्तु प्रत्ययः प्राधान्येन**" (यथोक्तम्) इति नियमाद् अत्र धातुसामान्यार्थे शक्तोऽपि 'क्तिन्' प्रत्ययो 'भजि'समभिव्याहारात् प्राध्यान्येन भजनक्रियां वक्ति. साच सेवात्मिका 'सेवा' पदञ्च सातत्याभीक्ष्ण्यान्यतर-पूर्वक-कायिकव्यापार-विशेषरूप-परिचर्यारूपे रूढम्. 'स्त्रीसेवा'-'औषधसेवा' इत्यादिप्रयोगदर्शनात्. "**मत्सेवया प्रतीतञ्च...**" (भाग.पुरा.९।४।६७) इत्यादिस्वतन्त्रसेवाबोधकवाक्यैः तदवगमात्. केवलक्रियायाः जलताडनादिवद् निष्फलत्वेन तत्र प्रेमपूर्वकत्वम् अभिव्यनक्ति 'भक्ति'शब्दः. "**मत्सेवया प्रतीतञ्च...**" इत्यादिवाक्येषु सर्वदा पूर्णत्वादिकथनात् प्रेमपूर्वकत्वस्यापि लाभात्. "**वशीकुर्वन्ति मां भक्ताः सत्स्त्रियः सत्पतिं यथा**" (भाग.पुरा.९।४।६६) इत्यादावपि दम्पतिदृष्टान्तेन तल्लाभात्. अन्यथा कायक्लेशजनकत्वेन स्वतः पुरुषार्थत्वोक्तिभंगप्रसंगात्. एवं सति प्रेम्णएव प्रयोजकत्वेन प्रत्ययार्थत्वेन च प्राधान्याद् भजनस्य तद्रूपत्वेन भावरूपत्वं, तस्य मनोधर्मत्वाद् इति व्याकरणशास्त्रसरणिः. "**सा परा अनुरक्तिः ईश्वरे**" (शाण्डि.भ.सू.१।२) इति शाण्डिल्यसूत्राद् अनुरक्तिरूपायाः तस्याः भावरूपत्वेन तद्वाच्यार्थे अभिव्यङ्ग्यतया भजनस्यापि तथा यतो भावरूपत्वम् अतएव साधनरूपत्वं फलरूपत्वम् उभयमपि सम्भवति, भावे सिद्धे अग्रे फलस्य तदतिरिक्तस्य अभावात्, "**अनिमित्ता भागवती भक्तिः सिद्धेः गरीयसी**" (भाग.पुरा.३।२५।३३) इति तत्स्वरूपलक्षणात्. तच्च प्रेम भक्तिरसस्य शृंगाररसस्य स्थायिभावरूपम्. भावलक्षणञ्च रसानुकूलो विकारो भावः, स्थायित्वं च तस्य चरमसमयपर्यन्तस्थायित्वात्. अतएव

"पुष्टिमार्गः सएव यत्र फलत्वेन स्वयमेव साधनम्" इति असकृद् उक्तम् आचार्यैः. अतएव पूर्वं प्रादुर्भूय संयोगानुभवं कारयित्वा

पुष्टापुष्टान्यतरत्वेन तस्यैव फलसाधनान्यतररूपत्वम्. अपुष्टे भावरूपः पुष्टे रसरूपः इति रसशास्त्रमर्यादा, "**स्थायी भावो रसः स्मृतः**" (द्र. : भर.ना.७।८) इति उक्तेः. तथाच पुष्टापुष्टोभयदशायामपि न रसत्वक्षतिरिति यथा पूर्वम् अंकुरितस्य वृक्षस्य प्रौढदशावृत्तावधिः वृक्षस्थितिः इति तद् आहुः **तस्य साधनत्वेऽपि न क्षतिः** इति, तस्य फलरूपस्य साधनत्वेऽपि न फलरूपताक्षतिः इति अर्थः. तथाच रसरूपं फलं तच्च तदेव पूर्वभावरूपं भूत्वा स्वकार्यं साधयति इत्यतः तस्यैव अवस्थाद्वयम् इति बोध्यम्. वस्तुतो प्रेम्णो अवस्थात्रयं भवति : प्रेम आसक्तिः व्यसनं च इति. अतएव श्रीमदाचार्यचरणाः "**ततः प्रेम तथा आसक्तिः व्यसनं च यदा भवेद्**" (भ.व.३) इति आहुः. **पुष्टिमार्गः सएव** इति. **यत्र फलं स्वयमेव साधनम् इति** इति. अयम् अर्थः : यदाहि भगवान् अनुगृह्णाति नहि तत्र साधनापेक्षा किन्तु महता साधनेनापि अलभ्यमपि निःसाधनतयैव केवलं भगवत्प्रसादेनैव लभ्यं भवति, "**किम् अलभ्यं भगवति प्रसन्ने श्रीनिकेतने**" (भाग.पुरा.१०।३६।२) इति उक्तेः. तथाच अनुगृह्य भगवान् फलमेव ददाति. तच्च दोषबाहुल्यात् पूर्वम् अपरिपूर्णो भूत्वा तन्निवृत्तिरूपं साधनकार्यं कृत्वा पुनः पूर्णतया रसरूपो भवति इति भावः. तच्च भावरूपं रसरूपं च फलं भगवानेव इति राद्धान्तो, "**रसो वै सः**" (तैत्ति.उप.२।७)इति श्रुतेः, "**स्थायी भावो रसः स्मृतः**" (तत्रैव) इति उक्तेः च. भावरूपत्वेन फलरूपत्वेन च साधनफलोभयरूपत्वमपि भगवति सिद्धम्. अतएवहि "**भगवानेव हि फलम्**" (पु.प्र.म.१७) इति श्रीमदाचार्यचरणाः. अतः सुष्ठु उक्तं श्रीमद्हरिरायचरणैरपि **फलं स्वयमेव** इति, स्वयं भगवानेव इति अर्थः. "**स्वस्वरूपबलेन स्वप्रपाणं पुष्टिः इति उच्यते**" (अणुभा.३।३।२९) इति "**गतेः अर्थवत्त्वम्**" (ब्र.सू.३।३।२९) इति सूत्रभाष्येऽपि. तथाच "साधनानपेक्षत्वेऽपि साधनानन्यफला पुष्टिः" इति लक्षणं बोध्यम्. शमदमादिसाधनव्यावृत्त्यर्थं 'सत्य'न्तं पदम्. नच * अत्र श्रवणादीनां साधनत्वम् * इति वाच्यं, तेषामपि अत्र प्रेम्णा अविनाभावित्वेन फलरूपत्वात् पौवापर्येणापि

विरहेण आन्तरभजनं सम्पादयितुं भगवतएव मथुरागमनरूपत्यागः उच्यते.

*** ननु अंशत्वेऽपि जीवानां तदात्मकत्वेन अन्यूनत्वाद् भजनानुपपत्तिः तदवस्थैव * इति चेद् न, "बहु स्यां..." (छान्दो.उप.६।२।३) इति श्रुतेः क्रीडार्थं तथा आविर्भावाद् न अनुपपत्तिः काचित्. ननु एवं तथापि अनुपपत्तिः इति चेद् न, न्यूनत्वविशिष्टस्यैव तस्य आविर्भावात्.**

*** ननु तदा इच्छायाः करणत्वानुपपत्तिः * इति चेद् न, इच्छायाः हि**

सम्भवात् च. तत्र प्रमाणम् आचार्योक्तिः इति आहुः **असकृद् उक्तम् आचार्यैः** इति, सुबोधिन्यादौ उक्तम् इति अर्थः. एतदेव लीलानिदर्शनेन उपष्टम्भयन्तः आहुः **अतएव** इति. **उच्यते** श्रीभागवतादौ उच्यते इति अर्थः.

पुनः आशंकाम् आहुः **ननु अंशत्वेऽपि** इति, साम्यात् सेव्यसेवकभावाभावेन तदनुपपत्तिः इति अर्थः. **न** इति निषिध्य समादधते **बहु स्याम्** इति, न्यूनसत्त्वे सेव्यसेवकभावसिद्धौ न अनुपपत्तिः तदवस्था इति अर्थः. * ननु सृष्टौ उच्चनीचभावेन प्रादुर्भविच्छा नतु मुक्तिदशायाम् अतो न्यूनत्वस्य अवास्तवत्वाद् मुक्तिदशायां जीवन्मुक्तौ साम्यम् अन्यथा लयइति सेव्यसेव्यकभावानवसरेण भजनानुपपत्तिः तदवस्थैव * इति आशंकन्ते **ननु एवम्** इति. **न** इति निषिध्य समादधते **न्यूनत्वविशिष्टस्यैव** इति. **तस्य** इति, जीवस्य इति अर्थः. प्रथमतो अवधिपर्यन्तं पुष्टिसृष्टित्वेनैव भगवता विचारितत्वाद् इति भावः. "**एष उ ह्येव साधु कर्म कारयति तं यम् एभ्यो लोकेभ्यः उन्निनीषति, एष उ ह्येव असाधु कर्म कारयति तं यम् अधो निनीषति**" (कौषि.उप.३।८) इत्यादिश्रुतेः. अन्यथा भक्तिमार्गोच्छेदप्रसंगेन "**मत्सेवया प्रतीतं च**" (भाग.पुरा.९।४।६७) इत्यादिवचनव्याकोपापातात्.

ननु एवं सति न्यूनत्वस्य वास्तवत्वे तत्र वस्तुस्वभावएव कारणं नतु इच्छा इति आशयेन आशंकाम् आहुः **ननु** इति. **न** इति निषिध्य समाधानम् आहुः **इच्छायाः** इति, वस्तुस्वभावोऽपि इच्छाकृतएव वस्तुनोऽपि

आविर्भावे कारणत्वं न स्वरूपान्यथाकृतौ. तस्माद् मुक्तावपि कौस्तुभरूपेण स्थितिरिति भूषणरूपत्वेन न्यूनतायाम् अन्यस्य तथात्वे किं वाच्यम्! इति कैमुतिकन्यायेन तदात्मकत्वेऽपि तदंशत्वेन न्यूनत्वं वास्तवत्वमेव इति भावः. अतएव अंशानाम् अपरिमितानां सृष्टौ वह्निविस्फुलिंगवत् निर्गमेऽपि न न्यूनता. हस्ताद् हस्तान्तरस्थिताविव सद्रूपप्रपञ्चे स्थितत्वाद् न न्यूनताशंकापि इति अर्थः.

***ननु एवं जीवानां सहजहर्यंशत्वेन दैवासुरविभागः तेषु कथम्?* इति चेत् क्रीडार्थं तदिच्छया इति गृहाण. अतएव फलदशायामपि न्यूनत्वसत्त्वेन भजनस्य फलता. अन्यथा स्वतन्त्रभक्तिमार्गोच्छेदएव स्यात्. अतो जीवेषु सहजन्यूनत्ववद् ब्रह्मणि सर्वाधिकत्वम्.**

***ननु तथापि न्यूनाधिकभावः कथम्? अंशत्वेन सत्त्वाद्* इति चेद् अत्र वदामि : भगवान् अभेदेन क्रीडार्थं प्रपञ्चरूपम् आत्मानम् आविर्भावयति. अत्र अयं प्रकारः : सच्चिदानन्दं ब्रह्म, तस्यच धर्मरूपं तत्त्रितयात्मकम् अक्षरम्. तस्यच चिदंशाः जीवाः क्रीडार्थम् इच्छया कृताः. अन्यथा वैचित्र्याभावे क्रीडा न स्यात्. अतएव जडजीवान्तर्यामिषु एकैकांशतिरोभावः तथेच्छया च. अतः समुदितरूपस्य पृथक्करणं क्रीडार्थम्. तत्र मूलरूपेण क्रीडा बन्धमोक्षाभ्यामेव. ततो लीलानित्यत्व-सिद्धये बन्धमोक्षावपि नित्यौ वाच्याविति दैवासुरविभागः.**

कर्तृपरतन्त्रत्वाद् यादृशं वस्तुस्वरूपं यादृशः च स्वभावः तादृशाविर्भावएव इच्छायाः कारणत्वं, नतु तत्स्वरूपान्यथाकृतौः, प्रयोजनाभावेन तादृशेच्छायाएव असत्त्वाद् इति अर्थः. **तस्माद्** इति, स्वरूपान्यथाकृतौ इच्छायाएव कारणत्वाभावाद् हेतोः. **कौस्तुभरूपेण** इति, ''**चैत्यस्य तत्त्वम् अमलं मणिम् अस्य कण्ठे**'' (भाग.पुरा.३।२८।२८) इति इत्याद्युक्तेः. कैमुतिकन्यायस्तु स्पष्टएव. **भावः** इति, ''**बहु स्यां प्रजायेय**'' (तैत्ति.उप.२।६।१) इति श्रुतेः भावः इति अर्थः. अथ वास्तवत्वं युक्त्यैव उपष्टम्भयन्ति **अतएव** इति, वास्तवत्वादेव इति अर्थः. **अपरिमितानाम्** असंख्यातानाम्. **वह्निविस्फुलिंगवद् निर्गमेऽपि** इति, असकृन्निर्गमेऽपि इति अर्थः. **न न्यूनता** इति, भगवति इति शेषः. तदेव दृष्टान्तेन द्रढयन्ति **हस्ताद् हस्तान्तरस्थिताविव** इति. **न्यूनताशंकापि** इति स्पष्टो अर्थः. पुनः आशंकन्ते **ननु** इति, अंशत्वाविशेषाद् देवासुरविभागः कथम् इति अर्थः. क्रीडार्थम्. **तदिच्छया** इति स्पष्टम्.

तत्रापि पूर्वपक्षम् आहुः **ननु तथापि** इति, नहि केवलं विभागएव किन्तु तत्र न्यूनाधिकभावः. सच समत्वात् कथं सम्भवति इति अर्थः.

तथाच अत्र समाधानं वक्तुम् आहुः **अत्र वदामि** इति, समाधानं कथयामि इति अर्थः. **अभेदेन** इति, कारणरूपः कार्यस्वरूपः च स्वयमेवेति अभेदेन इति अर्थः. **अन्यथा** इति, अपृथक्करणे ...**वैचित्र्याभावेन** इति, पृथक्करणं वैचित्र्यार्थम्. वैचित्र्यञ्च अत्र न्यूनाधिकभावरूपम्. तथाच न्यूनाधिकभावरूपेण वैचित्र्याभावेन इति अर्थः. **अतएव** इति, वैचित्र्यादेव इति अर्थः. **एकैकांशतिरोभावः** इति, एकैकांशाधिक्येन तिरोभावः इति अर्थः. सच्चिदानन्दरूपो अन्तर्यामी, तदपेक्षया जीवे एकस्य आनन्दांशस्य तिरोभावः. जडे चिदानन्दयोः तिरोभावइति एकाधिक्यम् इति भावः. **तथा इच्छा च** इति, एकाधिक्यांशतिरोभावेच्छा इति अर्थः. तादृशतिरोभावस्य स्वतन्त्रतानिराकरणार्थं **चकारः**. **अतः** इति, इच्छातः इति अर्थः. **समुदितरूपस्य** इति, स्वस्य समुदितरूपस्य इति अर्थः. ननु स्वरूपस्य पृथक्कृतिः कथं भवेद्? इति आशंकायाम् आहुः **तत्र** इति, स्वरूपस्य पार्थक्ये सति. ननु तथा सति स्वस्य भोक्तृत्वानुपपत्तिः इति चेत् तत्र आहुः **मूलरूपेण** इति. **क्रीडा बन्धमोक्षाभ्याम्** इति, क्रीडा रमणम् अविद्यया विद्यया च इति अर्थः. नच *तर्हि मूलरूपस्यापि बद्धमुक्तत्वाभ्यां जीवतुल्यतापत्तिः* इति वाच्यं, बद्धमुक्तव्यतिरिक्तस्वरूपेणैव तस्य स्थितत्वाद् अंशित्वेन तद्भेदात् च, ''**बद्धो मुक्तः इति व्याख्या गुणतो मे न वस्तुतो गुणस्य मायामूलत्वाद् न मे मोक्षो न बन्धनम्**'' इति भगवदुक्तेः. **ततः** इति, यतो बन्धमोक्षाभ्यां क्रीडा तस्माद् इति अर्थः. **लीलानित्यत्वसिद्धये** इति, लीलोपकरणस्य प्रपञ्चस्य लीलायाः च नित्यत्वात् तत्सिद्धये इति अर्थः. प्रपञ्चस्य भगवद्रूपत्वनिरूपणेन अस्मिन् ग्रन्थएव पूर्वं निरूपितं ''**तदेतद् अक्षयं नित्यं**

*** ननु तथापि किं दैवत्वम् असुरत्वं च ? * इति चेद् उच्यते : सृष्टौ शक्तेः पृथक्करणेन तत्परिगृहीतत्वम् असुरत्वं, स्वपरिगृहीतत्वं दैवत्वम्**

जगद्, मुनिवर!, अखिलम् आविर्भावतिरोभावजन्मनाशविकल्पवद्'' (विष्णुपुरा.१।२२।६०) इत्यादिवाक्यानि बहूनि सन्ति इति दिक्. भाष्यनिबन्धविद्वन्मण्डनादिषु विस्तरेण निरूपितं श्रीमदाचार्यचरणैः. अतः इतो अधिकप्रेप्सावद्भिः तत्र द्रष्टव्यम्. उपकरणस्य नित्यत्वाद् लीलायाः नित्यत्वं कैमुतिकन्यायसिद्धम्. अन्यथा उपकरणनित्यत्ववैयर्थ्यापाताद् भगवद्भोक्तृत्वस्य अनित्यतापत्तेः च. लीलायाः नित्यत्वन्तु **''जयति जननिवासो देवकीजन्मवादो यदुवरपरिषत्सु दोर्भिः अस्यन् अधर्मं स्थिरचरवृजिनघ्नः सुस्मितः श्रीमुखेन व्रजपुरवनितानां वर्धयन् कामदेवम्''** (भाग.पुरा.१०।८७।४८) इति वाक्ये 'जयति'इति वर्तमानप्रयोगेण 'अस्यन्'-'वर्धयन्' इति च शत्रन्तपदाभ्यां वर्तमानत्वं श्रीशुकैः उक्तम् इत्यादि विवृतं विद्वन्मण्डने श्रीमद्विट्ठलाचार्यचरणैः ग्रन्थविस्तरभिया अत्र न प्रपञ्च्यते इति दिक्. एवं सति लीलायाः नित्यत्वेन तत्सिद्धये बन्धमोक्षावपि नित्यौ वाच्यौ, **''एकस्यैव मम अंशस्य जीवस्यैव, महामते!, बन्धो अस्य विद्यया अनादिः विद्यया च तथा इतरः''** (भाग.पुरा.११।११।४) इति भगवदुक्तेः. तदनन्तरं बद्धमुक्तवैलक्षण्यनिरूपणे **''यो अविद्यया युक् सतु नित्यबद्धः विद्यामयो यः सतु नित्यमुक्तः''** (भाग.पुरा.११।११।७) इति उक्तेः च. **इति** इति, बद्धमुक्तप्रकारेण इति अर्थः. **इति दैवासुरविभागः** इति. यद्यपि अंशत्वेन समत्वं तथापि बन्धमोक्षाभ्यां नीचोच्चत्वस्य सत्त्वाद् इच्छया क्रीडार्थं दैवासुरविभागः इति भावः.

दैवत्वस्य आसुरत्वस्य च लक्षणं वक्तुम् आशंकन्ते **ननु** इति, **उच्यते** इति तल्लक्षणं कथ्यते इति अर्थः. **सृष्टौ** इति. **शक्तेः पृथक्करणेन** इति, कार्यार्थं शक्तेः मायायाः पृथक्करणम्. पार्थक्यञ्च 'अहं'-'मम' इत्यादिकार्ये अनुमीयते. **तत्परिगृहीतत्वम्** इति, शक्तिपरिगृहीतत्वम् इति अर्थः. तथाच न ते कदापि मोक्षमार्गानुयायिनो भवन्ति—तत्प्रतिबन्धकाएवेति असुरत्वम् इति अर्थः. **स्वपरिगृहीतत्वम्** इति, स्वेन भगवता परिगृहीतत्वम् इति अर्थः. **परिग्रहो** विवाहो, **''वशे कुर्वन्ति मां भक्त्या सत्स्त्रियः सत्पतिं**

इति विवेकः. भगवदंशत्वेऽपि मोहार्थं सृष्टौ पृथग्भूततया परिगृहीतत्वाद् आसुराणां सम्पुटनिःसारितस्य चोरहस्तपतितस्य उपायसहस्रैः अप्राप्यस्य द्रव्यस्य सम्पुटप्रवेशाभावइव पुनः भगवति प्रवेशाभावः. दैवानान्तु करकलितस्य रत्नस्य समाकृतस्य पुनः सम्पुटप्रवेशइव भगवति प्रवेशः. अतएव सृष्टिमात्रम् असुराणां भगवतो, अन्यद् माययैव. तत्कृतेन मोहेन ज्ञानभक्तिरूपशक्तिद्वयकार्याभावेन सायुज्यासम्भवाद् भगवता ''माम् अप्राप्यैव...'' (भग.गीता.१६।२०) इति उक्तम्. तयोरेव

यथा'' (भाग.पुरा.९।४।६६), **''यमेव एषः वृणुते''** (कठोप.१।२३) इत्याद्युक्तेः. तथाच भगवता विवाहिताः दैवाः, मायया विवाहिताः आसुराः, इति विवेकः. विवाहश्च द्वयोरपि अपरित्यागे प्रयोजकः. तथाच भगवता परिगृहीताः ते कदापि भगवन्तं न त्यजन्ति, भगवानपि तान् कदापि न त्यजति. अन्यथा एकत्र पातिव्रत्यहानिः अन्यत्र पुरुषत्वहानिरिति न कदापि परित्यागः इति. **दैवत्वं** देवसम्बन्धित्वम् इति अर्थः. ''सत्स्त्रियः सत्पतिं यथा'' इत्यत्र द्वयोरपि 'सत्'पददर्शनात्. असुरमाययोः अपरित्यागस्तु भगवदिच्छाकृतएव **''माम् अप्राप्यैव, कौन्तेय!, ततो यान्ति अधमां गतिम्''** (भग.गीता.१६।२०) इति उक्तेः इति दिक्. एवञ्च आसुराणां न कदापि भगवत्प्राप्तिः **''न मां दुष्कृतिनो मूढाः प्रपद्यन्ते नराधमाः मायया अपहृतज्ञानाः आसुरं भावम् आश्रिताः''** (भग.गीता.७।१५) इति भगवदुक्तेः. दैवानान्तु साहजिकी इति दृष्टान्ताभ्याम् उपपादयन्तः आहुः **भगवदंशत्वेऽपि** इति **भगवति प्रवेशः** इत्यन्तं स्पष्टम्. **अतएव** इति, चोरहस्तपतितत्वादेव इति अर्थः. **अन्यद्** इति, अन्यलयमपि मायया मायायामेव इति अर्थः. **तत्कृतमोहेन** इति, मायाकृतमोहेन इति अर्थः. **ज्ञानभक्तिरूपशक्तिद्वयकार्याभावेन** इति, ज्ञानभक्तिरूपद्वयोः भगवच्छक्त्योः कार्यं सायुज्यादिः तदभावेन इति अर्थः. **सायुज्यासम्भवाद्** इति, भगवत्सायुज्यासम्भवाद् इति अर्थः. **अतः** सायुज्यासम्भवादेव इति, **''माम् अप्राप्यैव, कौन्तेय!, ततो यान्ति अधमां गतिम्''** (भग.गीता.१६।२०) इति, अधमगतिश्च मायायाम् अन्धन्तमःप्रवेशएव, **''असूर्याः नाम ते लोकाः अन्धेन तमसा वृता तान् ते प्रेत्य अभिगच्छन्ति ये के च आत्महनोः जनाः''** (ईशा.उप.३)

तत्प्राप्तिहेतुत्वेन तेषु तदभावात्. तथाच पुरुषांशबीजस्य स्त्रियां प्रवेशे तद्गृहीतस्य पुनः पुरुषाप्रवेशइव तेषां भगवति अप्रवेशः. तथापि पुत्रइव व्यवहारो लोके वेदे च भगवदंशत्वम् आदायैव. एतेन प्रकृतिसम्बन्धाद् अंशत्वमपि व्यावहारिकमिव अभूद् इति निरूपितम्.

ननु तथापि प्रकृतेः तच्छक्तित्वेन तदभिन्नायाः आनन्दरूपत्वेन तत्र प्रविष्टानाम् आनन्दएवेति न कथं तत्प्राप्तिः? इति चेद् न, भगवतएव आसुरेषु स्वानन्दरूपस्य तस्याम् अप्रकटनात्. अतः आनन्दरूपप्राकट्याभावाद् न तेषाम् आनन्दगन्धोऽपि इति बुद्ध्यस्व. अन्यथा भक्तानामिव आनन्दरूपदर्शने दैवेतराणामपि आनन्दानुभवः स्यात्. अतः तद्रूपाप्राकट्यमेव तत्र इति मन्तव्यम्. अतएव ‘‘मम माया... ’’ (भग.गीता.७।१४।) इति ‘‘राक्षसीम् आसुरीं चैव’’ इति

इति ईशोपनिषच्छ्रुतेः. निरुक्तमेव व्याख्यातवन्तः आहुः **तयोरेव** इति, तयोः ज्ञानभक्त्योरेव. **एव** इति निश्चितम्. **तत्प्राप्तिहेतुत्वे** भगवत्प्राप्तिहेतुत्वे. **तेषु** असुरेषु. **तदभावात्** ज्ञानभक्त्योः अभावाद् इति अर्थः. तथाच **निरूपितम्** इत्यन्तं स्पष्टम्.

पुनः आशंकन्ते **ननु तथापि** इति, तथापि प्रकृतिसम्बन्धेऽपि **प्रकृतेः** मायायाः तच्छक्तित्वेन तदभिन्नायाः भगवच्छक्तित्वेन भगवदभिन्नायाः इति अर्थः. **तत्प्राप्तिः** भगवत्प्राप्तिः इति अर्थः. **न** इति निषिध्य समादधते **भगवतएव** इति. **तस्याम्** इति, मायायाम् इति अर्थः. **अप्रकटनाद्** इति, अप्रकटने इच्छैव कारणम्. **अतः** अप्रकटनात् **तेषाम्** आसुराणाम्. तत्र बाधकयुक्तिम् आहुः **अन्यथा** इत्यादि, **अन्यथा** आनन्दरूपप्राकट्ये सति दैवासुरयोः भेदएव न स्याद् इति भावः. **अतः** निरुक्तयुक्तेः. **तद्रूपाप्राकट्यम्** आनन्दरूपस्य अप्राकट्यम् **एव** इति निश्चितम्. **तत्र** मायायाम् इति मन्तव्यम्. अत्र उपष्टम्भकम् आहुः **अतएव** इत्यादि, **अतएव** निरुक्तयुक्तेः सम्मतत्वादेव इति अर्थः. ‘‘**दैवी हि एषा गुणमयी मम माया दुरत्यया**’’ (भग.गीता.७।१४) इति सप्तमाध्याये, ‘‘**राक्षसीम् आसुरीं चैव प्रकृतिं**

वाक्यद्वयबोधितसम्बन्धतदभावाभ्यामेव भगवता दैवासुरमाययोः भेदः उक्तः. मोहोऽपि उभयत्र कार्यभेदेन भिन्नएव, एकत्र मोक्षार्थम् अपरत्र बन्धार्थम् इति बोद्धव्यम्. अतएव असद्रूपत्वं तस्याइति बोधनाय क्रूरत्वार्थं ‘राक्षसी’त्वमपि उक्तम्. तेषां सहजक्रूरत्वाद् इति उपाख्याने तेषु च लक्षणत्वेन दयाभावप्रतिपादनात्. अतएव ‘‘विना पशुघ्नाद्’’ (भाग.पुरा.१०।१।४) इति श्रीभागवतेऽपि लक्षणं तेषां तदेव उक्तम्. कार्यान्तराभावाय ‘मोहिनी’त्वमपि उक्तम्.

ननु प्रकृतेः प्रलये, भगवति लये, तद्द्वारा तेषामपि लयात् परम्परया भगवत्सम्बन्धे कथं न तदानन्दानुभवः? इति चेद् न, प्रलये तत्सम्बन्धेऽपि व्यवधानेन तदानन्दाननुभवात्. अन्यथा प्रलयमुक्त्योः भेदएव न स्यात्. प्रलयस्यैव मुक्तित्वे मुक्त्यर्थसाधनानुष्ठानप्रयत्नवैयर्थ्या-

---

मोहनीं श्रिताः’’ (भग.गीता.९।१२) इति नवमाध्याये. **सम्बन्धतदभावाभ्याम्** इति. **मम माया** इति, षष्ठ्या सम्बन्धः उक्तः. **प्रकृतिं मोहनीं श्रिताः** इति, प्रकृतिसम्बन्धकथनेन स्वसम्बन्धाभावः उक्तो, माययोः भेदः उक्तः. **बोध्यम्** इत्यन्तं स्पष्टम्. **अतएव** इति, मोहस्य भिन्नत्वादेव इति अर्थः. **तस्याः** इति, आसुर्याः इति अर्थः. तेषां क्रूरत्वे स्वभावएव हेतुः इति आहुः **सहजक्रूरत्वाद्** इति. **इति उपाख्याने** इति तृतीयस्कन्धे अस्मिन् स्थले सुबोधिन्याः विवरणेन तथा प्रतिपादनाद् इति अर्थः. **अतएव** क्रूरत्वादेव. दशमस्कन्धे प्रथमाध्याये ‘‘कः **उत्तमश्लोकगुणानुवादात् पुमान् विरज्येत विना पशुघ्नाद्**’’ (भाग.पुरा.१०।१।४) इति भगवद्गुणानुवादे वैराग्यम् आसुरो भावः. तत्र ‘पशुघ्न’पदेन क्रूरत्वञ्च आसुराणां लक्षणम् इति भावः. अन्यदपि उपष्टम्भकम् आहुः **कार्यान्तराभावाय** इति, मोहातिरिक्तकार्यान्तराभावाय इति अर्थः. **मोहिनीत्वम्** इति, प्रकृतिं मोहिनीं श्रिताः इति. एषा आसुरी प्रकृतिः मोहिन्येव न अन्यकार्यकर्त्रीति दैव्या प्रकृत्या अस्याः भेदोऽपि उक्तः.

असुराणां परम्परयापि आनन्दानुभवो न इति वक्तुम् आशंकन्ते **ननु** इति. **न** इति निषिध्य **अननुभवाद्** इत्यन्तं समादधुः. अननुभवे

प्त्तेः. नहि कोऽपि अबालिशः क्लेशेन स्वलयाय यतते. अतो मुक्तिः भिन्नैव स्वरूपानन्दानुभवरूपा. प्रलयस्तु कृमीणामिव उदरवर्तित्वमात्रम्. स्वविषयानुभवः च न तावता आनन्दानुभवः, तस्य भक्तिसाध्यत्वात्. साच भक्तिः स्नेहरूपेति तदानीं भगवद्हृदयस्थितिरेव. अतएव

बाधकयुक्तिम् आहुः **अन्यथा** इत्यादि. प्रलये आनन्दानुभवे प्रलयएव मुक्तिः इति वदेयुः प्राञ्चो नतु प्रलयमुक्त्योः भेदम् इति भावः. अन्यदपि बाधकम् आहुः **प्रलयस्यैव** इति. **अबालिशस्तु** मुक्त्यर्थं यतते नतु प्रलयाय इति अर्थः. प्रलयस्य स्वतएव भावित्वात् प्रयत्नवैयर्थ्यापत्तिः इति अर्थः. तत्साधनविषयकशास्त्रवैयर्थ्यापत्तिः इत्यपि अनुसन्धेयम्. **नहि** इति. **अबालिशः** इति, बालिशस्तु कोऽपि स्वारूढशाखोच्छेदनवद् यततइति सम्भावना तेन पूर्वपक्षगर्हां सूचयति अयम् '**अपि**'शब्दः. अतो यत्नयोग्यायोग्यभेदाद् मुक्तिः सालोक्यादिरूपा भिन्नैव. स्वरूपानन्दानुभवरूपा पुष्टिमुक्तिः. सैव अस्माकम् अभिप्रेता इति आशयेन आहुः **स्वरूपानन्दानुभवरूपा** इति. ननु प्रलयस्वरूपं किम् इति आकांक्षायाम् आहुः **प्रलयस्तु** इति. **तस्य** इति, आनन्दानुभवस्य इति अर्थः. **स्नेहरूपा** इति, स्नेहो भक्तिः, "**सा परा अनुरक्तिः...**" (शाण्डि.भ.सू.१।१।२) इत्यादिनिरुक्तप्रामाण्यात्. **तदानीम्** इति, स्नेहरूपभक्तिलभ्यस्वरूपानन्दानुभवयोग्यायां मोक्षदशायाम् इति अर्थः. भगवद्हृदयस्थितिरिव अत्रत्य उपष्टम्भकम् आहुः **अतएव** इत्यादि, "**वक्षो निवासम् अकरोत् परमं विभूतेः**" (भाग.पुरा.८।८।२५) इति उक्तेः. **अतएव** इत्यादि, "**साधवो हृदयं मह्यं साधूनां हृदयन्तु अहम्. मदन्यत् ते न जानन्ति न अहं तेभ्यो मनागपि**" (भाग.पुरा.९।४।६८), "**यथा अधनो लब्धधने विनष्टे तच्चिन्तया अन्यद् निभृतो न वेद**" (भाग.पुरा.१०।२९।२०) इत्यादीनि इति अर्थः. इदमेव स्नेहलक्षणं, स्नेहस्य मनोधर्मत्वात् तादृशाधिकारे सम्पन्नानां भक्तानामपि तद्रूपत्वात् तेषां हृदयस्थितिः सम्भावितैव.

अयम् अर्थः : स्नेहो द्विविधः शृंगाररूपो भक्तिरूपः च. तत्र इष्टसमीहाजनितमनोविकृतिः अपरिपूर्णरतिः प्रथमः. द्वितीयः माहात्म्यज्ञानपूर्वकपद-विशिष्टलक्षणमतिभेदः. तथाच यथा रसरूपो भगवान् तथा भक्ताअपि

लक्ष्म्यादीनां तत्रैव स्थितिः; अतएव "साधवो हृदयं मह्यम्" (भाग.पुरा.९।४।६८) इत्यादिवाक्यानि. जयदेवोऽपि "राधाम् आधाय हृदये" (गी.गो.३।१) इति उक्तवान्. अतः प्रलये निद्रायामिव अनेकजन्मक्लेशापायएव इति सर्वं सुस्थम्.

द्विविधरसरूपाः व्रजभक्ताः लक्ष्म्यादयः च शृंगाररसरूपाः, कौण्डिन्यादयो भक्तिरसरूपाः नारदादयः च. तेषां हृदये तत्तत्स्नेहरूपो भगवान् विभावसञ्चारिभावसात्त्विकैः परिपूर्णः तत्तद्रसलीलां करोतीति हृदयस्थितिः. तेषां हृदयस्य भगवद्धामरूपाक्षरब्रह्मरूपत्वात्. पर्यवसानन्तु शृंगारएव इति सूक्ष्मदृग्भिः ज्ञेयम्. "**सत्यं ज्ञानम् अनन्तं ब्रह्म, यो वेद निहितं गुहायां परमे व्योमन्, सो अश्नुते सर्वान् कामान् सह ब्रह्मणा विपश्चिता**" (तैत्ति.उप.२।१) इति श्रुतेः. अस्य अर्थस्तु : 'परः'=पुरुषोत्तमः, "**उत्तमः पुरुषस्तु अन्यः 'परमात्मा' इति उदाहृतः**" इति उक्तेः. परो मीयते दृश्यते अनेन इति='परमः' तस्मिन् 'परमे, 'व्योमन्'=व्योमनि विभक्तिलोपः छान्दसः. 'गुहायां'=व्यापिवैकुण्ठात्मके हृदयाकाशे, सत्यं ज्ञानम् अनन्तं धर्मविशिष्टं ब्रह्म यो वेद, सो 'विपश्चिता'=रसलीलानिपुणेन ब्रह्मणा पूर्णपुरुषोत्तमेन रसरूपेण सह 'सर्वान् कामान्'=रसमनोरथान् 'अश्नुते'=भुंक्ते इति अर्थः. एतद् आनन्दमयाधिकरणे विशदीकृतं श्रीमदाचार्यचरणैः इति दिक्. एवञ्च भगवतो भक्ताभिलाषया भक्ताअपि भगवद्हृदये स्थिताः इति बोध्यम्. नच *पूर्णस्य भगवतो अभिलाषाभावः* इति वाच्यम्, उभयाभिलाषाभावे रसमर्यादाभंगप्रसंगात्. नच अभिलाषायां सत्यां पूर्णत्वक्षतिः इति वाच्यं, "**रसो वै सः**" (तैत्ति.उप.२।७) इति श्रुत्या स्वस्य रसरूपत्वेन रसलीलाकरणस्य इष्टत्वेन अभिलाषायाअपि इष्टत्वात्. भक्तानामपि स्वस्वरूपत्वेन अतिप्रियत्वेन च अभेदाद् अक्षतेः. महतो अवरे अन्यस्मिन् अभिलाषायां क्षतिदर्शनात् परस्पराभिलाषायान्तु अन्योन्यमनोरथपूरणार्थमेव अभिलाषा, नतु वस्तुसापेक्षतयेति रसपूरणार्थैव सा. अतो न पूर्णत्वक्षतिशंकापि, "**ये यथा मां प्रपद्यन्ते तान् तथैव भजामि अहम्**" (भग.गीता.४।११) इति उक्तेः सर्वम् अनवद्यम्. हृदयस्थितौ जयदेवोक्तमपि प्रमाणम् आहुः **राधाम् आधाय** इति, गीतगोविन्दशृंगाररसवर्णनप्रबन्धे "**राधाम् आधाय हृदये तत्याज व्रजसुन्दरीम्**"

निजाचार्यानुकम्पातः संशयोऽयं निराकृतः।
हरिदासेन तुष्यन्तु तेन ते स्वामिनो मम॥
इति श्रीमद्वल्लभाचार्यान्वयगोस्वामिश्रीमद्हरिरायविरचितो
ब्रह्मवादः समाप्तिम् असेधत्

(गी.गो.३।१) इति उक्तवान् जयदेवः. उपसंहरन्त आहुः **अतः** इति, अतः पूर्वोक्तयुक्त्या क्लेशोपायएव नतु मुक्तिवद् आनन्दानुभवः इति भावः.

समाप्तिं दर्शयितुम् आहुः **निजाचार्यानुकम्पातः** इति, **निजाः** च ते **आचार्याः** च तेषाम् **अनुकम्पा** कृपा 'दया'परपर्यायरूपा. निरुपधिपरदुःखप्रहाणेच्छा च दया. तथा संशयनिराकरणे बुद्ध्यादिपरिश्रमरूपो यो दुःखः तत्प्रहाणेच्छारूपा इति प्रकृतोपयोगी अर्थः. वस्तुतस्तु कृपायाः सामर्थ्यं महत् **''मूकं करोति वाचालम्''** (भग.गीता.माहा.) इत्यादि. तथाच संशयनिराकरणम् अनायासेन सूचितम्. **हरिदासेन** इति, **हरेः दासः** सर्वदुःखहरणहेतोः भगवतो दासेनापि **संशय**निराकरणरूपं दुःखहरणम् उचितम् इति भावः. **''संशयात्मा विनश्यति''** (भग.गीता.४।४०) इति उक्तेः तस्य दुःखरूपत्वेन तन्निराकरणे अनेन मोक्षोऽपीति हरिदासाः परमकृपालवो भवन्ति इति सूचितम्. यतो हरिस्वभावाएव हरिदासाः, **''स्वयं समुत्तीर्य सुदुस्तरं, द्युमन्!, भवार्णवं भीमम् अदभ्रसौहृदाः भवत्पादाम्भोरुहनावम् अत्र ते निधाय याताः सदनुग्रहो भवान्''** (भाग.पुरा.१०।२।३१) इति उक्तेः. यद्वा हरिरेव **दासो** **''न उद्धवो अण्वपि मन्न्यूनो यद्गुणैः न अर्दितः प्रभुः''** (भाग.पुरा.३।४।३१), **''न अहम् आत्मानम् आशासे''** (भाग.पुरा.९।४।६४) इत्याद्युक्तेः. हरेः विना संशयनिराकरणसामर्थ्यासम्भवाद् हरिरेव दासः इत्यपि सुवचम्. हरिवद् दासः इति वा. **स्वामिनो मम** इति, अत्र स्वस्वामिभावसम्बन्धेन सेव्यसेवकभावः उक्तः. **''आचार्यो मां विजानीयाद्''** (भाग.पुरा.११।१७।२७) इति उक्तेः हर्याचार्ययोः अभेदात्. अन्यथा 'हरिदासः' इति विरुद्धं स्यात्, पतिद्वयापत्तौ व्यभिचारापातात्. तेन संशयनिराकरणेन ते आचार्यरूपाः प्रभुचरणाः **तुष्यन्तु** प्रसन्नाः भवन्तु. प्रसादकारणीभूतत्वात् तुष्टेः न कापि अन्यफलापेक्षा इति भावः इति.

अनेन पुष्टिः सूचिता.

इति श्रुतिशताशयात् प्रभुवरैः सुसिद्धान्तिताद्
मिताद् अखिलबोधनाय हि मितः समुद्ग्रन्थितः।
मया सुविशदीकृतो रसिकरायगूढाशयः
समाप्तिम् अगमत् शुभो य इह तैः सुसिद्धान्तितः॥७॥
शश्वत् प्रसादसुमुखः सकलः कलेशो
नन्दगृहाभरणभूः अभवद् विभूत्यै।
स श्रीमनोजनितमोहनसंज्ञयाऽऽसीन्
मन्मूर्ध्नि गोपवरदृक्कमलप्रभावात्॥८॥
तेषु प्रसादसुमुखेषु किमप्यलभ्यं
नास्त्यत्र सत्सु भगवत्सु यतो हि यस्याम्।
सौगन्ध्यहीनमपि युक्तम् अभूत् सुपुष्पं
विद्वद्विहंगविरतिस्तु कदापि न स्यात्॥९॥

इति श्रीमन्निरस्तपरमततिमिरनिकरविकासितमुरारिचरणरतिसरसिरुहश्री पुरुषोत्तमात्मप्रतिमूर्तिश्रीवल्लभविट्ठलाचार्यान्वयश्रीमद्गोपेश्वराचार्य-चरणपद्मपरिचरणप्राप्तमकरन्दमिलिन्दायमानेन अनुचरेण गोष्ठीशालोपनामकेन गोपालकृष्णेन विरचितं श्रीमद्हरिरायकृतब्रह्मवादविवरणं समाप्तिम् अफाणित्

वादावल्यां

॥ वादकथा ॥

(मंगलाचरणेन विषयोपक्रमः)

विशेषैः प्राकृतैः शून्यम् अप्राकृतविशेषवत् ॥
अशेषोपनिषद्वेद्यं परं ब्रह्म वयं स्तुमः ॥१॥
निरस्य मतमासुरं श्रुतिशतैः सुतर्कैरपि
स्वकीयहरिवर्त्मनि निजजनोद्धृतावुन्मना ॥
कृपाजलधिराज्ञया व्रजपतेरिहाऽवातरत् स कोऽपि
हरिवाक्पतिः स्फुरतु मे सदा सिद्धये ॥२॥

इह खलु निखिल-निगमस्मृतिपुराणादि-प्रमाणगणप्रतिपादितपरमपुरुषार्थत्व-पुरुषोत्तमभक्तितत्त्व-प्रत्यनीक-सर्वालीकवादिप्रणीत-मायावाद-महातमिस्र-विस्रंसन-सहस्रकिरणायित-करुणाशालि-श्रीवल्लभाचार्याविर्भावित-राद्धान्तरहस्यरूप-ब्रह्मस्वरूपनिरूपक-प्रतिभटविघटनपटुतर-श्रीमदस्मत्प्रभुचरण-रचितानवद्य-पद्यम् आलम्ब्य विरुद्धवादिव्युदस्तये वादकथा प्रस्तूयते :

(ब्रह्मणः प्राकृतधर्मानाश्रयत्वे सति अप्राकृतधर्मरूपत्वम् इति वादप्रतिज्ञाप्रस्तावः)

प्राकृतधर्मानाश्रयमप्राकृतनिखिलधर्मरूपमिति ॥
निगमप्रतिपाद्यं यत्तच्छुद्धं साकृति स्तौमि ॥१॥

तद् ब्रह्म स्तौमि स्तुतिगोचरं करोमि इति अन्वयः. किम्भूतं तत्? **प्राकृतधर्माणाम्** अविद्याकल्पितानाम् **अनाश्रयभूतम्**, अप्राकृते ब्रह्मणि प्राकृतधर्माणाम् अभावात्. भावे दोषः कः? इति चेद् न, जीवतुल्यत्वस्यैव

तत्त्वात्. **"न तत्समः च अभ्यधिकः च दृश्यते"** (श्वेता.उप.६।८) इत्यादिश्रुतिभिः तन्निषेधश्रवणात्.

(ब्रह्मणि प्राकृतधर्माणां कल्पना आविद्यकीति अविद्यास्वरूपविमर्शः)

किञ्च तेहि अविद्याकल्पिताः वाच्याः; एवञ्च सति अविद्या, जीवाश्रिता तत्कल्पिका ब्रह्माश्रिता वा? न आद्यो, असमानाश्रयधर्मकल्पने तस्याः शक्त्यभावात्, शक्तौ अतिप्रसंगात् च. न द्वितीयः, परब्रह्मणि तदभावाद् **"एकस्यैव मम अंशस्य जीवस्यैव महामते बन्धो अस्य अविद्यया अनादिः विद्यया च तथा इतरः"** (भाग.पुरा.११।११।४) इति वाक्यात् च.

किञ्च तस्याः सत्त्वम् उत असत्त्वं सदसत्त्वं वा? न प्रथमो, विकल्पासहत्वात्. तथाहि सा किं नित्या नवा? न इतरो, अपसिद्धान्तापातात्. न प्रथमः, तथात्वेऽपि ब्रह्मणः सकाशाद् भेदे **"एकमेव..."** (छान्दो.उप.६।२।१) इत्यादिश्रुतिविरोधावतारात्. ततो अभेदे, तस्य भेदपूर्वकत्वनियमेन तदभ्युपगमापत्तेः. अभावस्य प्रतियोगिप्रतिपत्त्यायत्तप्रतिपत्तिकत्वात्. *ननु अप्रामाणिको भेदो अभ्युपगतो बाध्यतया न दोषम् आवहति* इति चेद् न, तस्यापि अप्रामाणिकत्वेन वैपरीत्यमेव किं न स्यात्? श्रुतिरेव तयोः अभेदे मानम् इति चेद् न, तथाभूतश्रुतेः अनुपलम्भात्.

अभेदोऽपि किम् एकत्वम् उत भेदाभावः? प्रथमेऽपि संख्या वा धर्मान्तरो वा? न उभौ, तत्रापि भेदाभेदविकल्पेन आत्माश्रयानवस्थाद्यापातात्. अतएव न इतरोपि. न द्वितीयो, असतः कारणत्वनिराकरणेन ततो ब्रह्मधर्मानुत्पत्तिप्रसंगात्. *ननु अस्तु तर्हि सदसद्विलक्षणत्वपक्षः तृतीयः पूर्वयोः दोषाद्* इति चेद् न, तस्याः तथाभावे मानाभावात्. सत्त्वासत्त्वव्यतिरिक्तस्य अस्य व्याहतेः च. **"परस्परविरोधे हि न प्रकारान्तरस्थितिः"** (लौकि.न्या.सा.३) इति न्यायात्.

अपिच सा अनादिः उत सादिः अभिधीयते? न आद्या, अनादित्वकल्पने

मानाभावात्. न अपरा, सादित्वस्य त्वन्मते अनंगीकारात्. *ननु एवं अविद्यायाः कारणत्वाभावे प्रपञ्चानुदयप्रसंगापत्त्या ब्रह्मणएव तदुत्पत्त्युपपत्तेः* इति चेद् न, कार्यकारणयोः ऐकजात्यभंगप्रसंगात्, प्रपञ्चरूपकार्यस्य तुच्छत्वेन तथाविधकारणावश्यम्भावात्. नच *तस्मादेव कारणाद् अविद्या स्वीकतर्व्या* इति वाच्यं, जगतो भगवत्कार्यत्वाभ्युपगमात्. नच *सधर्मकब्रह्मवादेऽपि कार्यकारणयोः ऐकजात्याभावः* शंक्यः, कार्यस्य अक्षरात्मकत्वेन एकजातीयत्वा-विरोधात्. अक्षरस्य कार्यकारणात्मता च **''सर्वं खलु इदं ब्रह्म''** (छान्दो.उप.३।१४।१), **''स ह एतावान् आस''** (बृह.उप.१।४।३), **''ऐतदात्म्यम् इदं सर्वं... तत् सत्यम्...''** (छान्दो.उप.६।२।७), **''पुरुषएव इदं सर्वं यद् भूतं यत् च भव्यं''** (ऋक्संहि.८।४।१७)), **''यद् इदं किञ्च तत् सत्यम् इति आचक्षते''** (तैत्ति.उप.२।६), **''स आत्मानं स्वयम् अकुरुत''** (तैत्ति.उप.२।७), **''स वै सर्वम् इदं जगद्''** (महा.नारा.उप.२३।१) इत्यादिश्रुतिसहस्रसिद्धा इति अन्यत्र विस्तरः. वर्णितञ्च एतत् श्रीमदाचार्यचरणैः **''तदेव एतत्प्रकारेण भवति इति श्रुतेः मतम्''** (सिद्धा.मुक्ता.४) इति. किञ्च ब्रह्मप्रपञ्चयोः अभेदं मनसि कृत्वैव **''तदनन्यत्वम् 'आरम्भण'शब्दादिभ्यः''** (ब्र.सू.२।१।५५) इति व्यासचरणाः सूत्रयाञ्चक्रुः. अतएव **''स राष्ट्रम् अभवद्''** (. . । ।) इत्यादिवैदिकप्रयोगः सन्दृश्यते.

एतेन श्रुति-तत्त्वसूत्रादि-प्रमाणसहस्रमपि अनाकलयमानाः जगदन्तर्गतभग-वन्मूर्तिभजनम् असहमानाः ''जगद् असत्यम्'' इति कथयमानाः समस्ताः निरस्ताः वेदितव्याः.

(सिद्धान्ते सदसद्विलक्षणायाः अविद्यायाः निरासो नतु भगवच्छक्तिरू-पायाः तस्याः)

ननु एवं सति अविद्यैव किं न अंगीक्रियते? न अनाद्यनिर्वचनीयतदनंगीक-रणेऽपि भगवच्छक्त्यात्मकतदुरीकरणात्. नच तस्याः तथात्वे मानाभावः **''श्रिया पुष्ट्या''** (भाग.पुरा.१०।३९।५५) इति वाक्यस्यैव प्रमाणत्वात्.

नच तत्रापि भेदाभेद-सत्त्वासत्त्वादि-विकल्पावतारः, शक्तिशक्तिमतोः भिन्नाभिन्नत्वयोः प्रमाणसिद्धत्वात्. अतः सिद्धं प्राकृतधर्मानाश्रयत्वं ब्रह्मणः. तथाच उक्तं पद्मपुराणे **''अज्ञत्वं पारवश्यं च विधिभेदादिकं तथा, तथा प्राकृतदेहत्वं देहत्यागादिकं तथा, असुराणां विमोहाय दोषाः विष्णोः नहि क्वचिद्''** (पद्मपुरा. । ।) इति.

(ब्रह्मणो अप्राकृतधर्मरूपत्वेन न भजनाशक्यता)

ननु एवं प्राकृताप्राकृतधर्माभावेन ब्रह्मणो निर्धर्मकत्वे भजनाभावः! इत्येवम् आशंक्य समाधानम् आहुः **अप्राकृतनिखिलधर्मरूपम्** इति अप्राकृताः प्रकृतिसम्बन्धशून्याः आनन्दरूपाः धर्माः करचरणादयो रूपभूताः यस्य इति.

(ब्रह्मणो अप्राकृतधर्मरूपत्वं न सम्भवति इति पूर्वपक्षः)

ननु धर्माणां स्वरूपात्मकत्वम् असम्भवि इति चेद् न, विकल्पासहत्वात्. तथाहि ब्रह्मधर्माः ततो [क]भिन्नाः [ख]नवा? न आद्यो, नित्यत्वेन अद्वैतश्रुतिव्याकोपात्.

किञ्च ब्रह्मणा समं धर्माणां यो भेदः स किं [क-१]तत्स्वरूपम्, आहोस्विद् [क-२]अन्योन्याभावः, उत [क-३]वैधर्म्यम्, [क-४]इतरद् वा?

[क-१]आद्येऽपि किं प्रत्यक्षगम्यः प्रमाणान्तरगम्यो वा? न आद्यः, प्रत्यक्षेण धर्मभेदग्रहे धर्मिणः प्रतियोगित्वेन धर्मान्तर्निवेशने अभेदावगाहनेन वैपरीत्यापत्तेः. अनुयोगिनि प्रतियोग्यनिवेशने च स्वरूपभेदत्वस्य पारिभाषिकत्वप्र-सक्तेः. नित्यं प्रतियोग्युपश्लिष्टस्यैव तस्य प्रमाणसिद्धत्वेन निष्प्रतियोगिके प्रमाणानाविर्भावात्. अथ *प्रतियोगिभूतं ब्रह्म निरूपणीयं धर्माणां स्वरूपं भेदः इति उक्तौ न उक्तदोषः* इति चेद् न, विकल्पासहत्वात्. तथाहि धर्मान् प्रति प्रतियोगित्वं ब्रह्मणः कश्चिद् धर्मो वा स्वरूपं वा? न अन्त्यः, तावतो अर्थस्य ब्रह्मस्वरूपतया धर्माणां ब्रह्मणः च अभेदपर्यवसानप्रसंगात्. नापि प्रथमो, धर्मान् प्रति प्रतियोगित्वं यत् तस्य ब्रह्मधर्मत्वेन तस्मिन्

तत्प्रवेशाद् ऐक्यापत्तेः. किञ्च धर्मस्य धर्मिसम्बन्धावश्यकत्वेन तत्सत्त्वे परम्परायाम् अनवस्थितेः तदसत्त्वापत्तेरपि अन्ततः स्वभावसम्बन्धस्वीकार्यतया धर्मधर्मिणोः परस्परस्वभावप्रवेशेन अभेदस्य अनिरस्यत्वात्.

न [क-२] द्वितीयो अन्योन्याभावः, सोहि यस्माद् वाच्यः तस्य उक्तरीत्या तत्स्वरूपान्तःपातात्. किञ्च ब्रह्मधर्मान्योन्याभावस्य सत्तादात्म्यप्रतियोगिकत्वेन तदप्रसिद्धौ अत्यन्तासत्प्रतियोगिकत्वदोषात्, तत्सिद्धौ च भेदाशक्यत्वप्रसंगात्. नच * अत्यन्तासत्प्रतियोगिकता न दोषः * इति वाच्यं, शशविषाणाद्यभावस्यापि सुग्रहत्वापत्तेः.

नापि [क-३] तृतीयो, वैधर्म्यपक्षे क्वचित् तच्छृंखलाविश्रान्त्यनवस्थित्यननुभूत्यादीनाम् अनुत्तरणीयत्वात्. तस्मिन् तदनंगीकारे भेदस्य आत्माश्रयत्वापत्तेः च.

नापि [क-४] चतुर्थः, तस्य अदर्शनात्.

न [ख] द्वितीयो, धर्मत्वव्याघातात्. अभेदो नाम किं भेदाभावः उत एकत्वम्? इत्याद्युक्तविकल्पदोषव्याकुलत्वात् च. अभेदे आधाराधेयभावानुपपत्तिः इतितु चिन्त्यं, घटाभावे घटाभावः इत्यत्रेव तदुपपत्तेः. एवञ्च सति धर्माणाम् एकविज्ञानेन सर्वविज्ञानोपपत्तये प्रपञ्चतुल्ययोगक्षेमतया निर्धर्मकमेव ब्रह्म प्रतिपत्तव्यम् इति चेद्

(ब्रह्मणो अप्राकृतधर्मरूपत्वं सम्भवत्येव इति सिद्धान्तोपपादनम्)

उच्यते : सवित्रालोकस्य तदाश्रितधर्मत्वेऽपि तद्रूपत्ववद् धर्माणां तदाश्रितत्वेऽपि तदात्मकत्वोपपत्तेः. नच भेदपक्षीयाशंकावतारो, अद्वैतागमैरेव भेदस्य क्षारीकृतत्वात्. नच अभेदकल्पोक्तविकल्पादिदोषः, तादात्म्यस्य प्रमाणसिद्धत्वात्. * ननु तस्यापि धर्मान्तराकांक्षायाम् अनवस्थागौरवं च स्याद् * इति चेद् न, धर्मान्तरस्य प्रमाणेन सिद्धौ अनवस्थितेः अदूषणत्वाद्, असिद्धौ आश्रयासिद्धेः आपादनासम्भवात् गौरवाभावात् च. * ननु एवम् आश्रयाश्रयिभावानुपपत्तिः * इति चेद् न, दत्तोत्तरत्वात्. नच * सूर्यजन्यम्

आलोकान्तरमेव तन्न तद्रूपम् * इति वाच्यं, भेदकल्पने मानाभावाद् गौरवात् च; तरणितेजसो भागवतत्वेन नित्यत्वात् च, **"यद् ओदित्यगतं तेजः"** (भग.गीता.१५।१२) इति वाक्यात्. अतएव एतदन्तर्निधाय **"प्रकाशाश्रयवद्वा तेजस्त्वाद्"** (ब्र.सू.३।२।२८) इति सूत्रितं सूत्रकारैः. तस्माद् ब्रह्मधर्माः तद्भिन्नाः अभिन्नाः च अभ्युपेयाः, **"परा अस्य शक्तिः"** (श्वेता.उप.६।८) इत्यादिभेदश्रुतेः, **"एकमेव..."** (छान्दो.उप.६।२।१) इत्याद्यभेदश्रुतेः च. तथाच उभयविधश्रुतिबलेन तादृशमेव तद् वस्तु उत्पत्तिसिद्धम् उरीकरणीयम् इति न पूर्वोक्तदूषणगणावकाशः. अतएव श्रीवल्लभाचार्यचरणे **"य आत्मनो दृश्यगुणेषु सन् इति व्यवस्यते स्वव्यतिरेकतो अबुधो विना अनुवादं नच तद् मनीषितं सम्यग् यतः त्यक्तम् उपाददत् पुमान्"** (भाग.पुरा.१०।३।१८) इत्यत्र —

> **आत्मनो** भगवतो **दृश्येषु गुणेषु** केशलोमनखरूपस्पर्शादिषु एकोऽपि **गुणः स्वस्मात्** सच्चिदानन्दात्मकभगवत्स्वरूपाद् **व्यतिरेकतः**, 'ल्यब्'लोपे पञ्चमी, तथाच व्यतिरेकं प्राप्यैव सन्; अन्यथा एकरसे ब्रह्मणि विविधरूपत्वभानं न स्याद् इति **यो व्यवस्यते** सो **अबुधो**, धर्मिग्राहकमानेन शुद्धस्यैव ब्रह्मणः तथैव सिद्धेः. एतदेव आह **विना** इति वस्तुनएव तथात्वाद् आकारदर्शनानन्तरं यो भक्तकृतः **"कराम्बुजम्..."** इत्यादिरूपो वादः सो **अनुवादः** तं विना तत्कराम्बुजादिकं स्वरूपव्यतिरिक्तत्वेन **मनीषितं** मनसा सत्त्वेन आकलितं न भवति इति. ननु प्राकृतेष्वपि भगवत्सम्बन्धात् सत्त्वोत्पत्त्या तथाप्रतीतौ न दोषः इत्यत आह **सम्यग्** इति, **"स यथा सैन्धवघनो अनन्तरो अबाह्यः कृत्स्नो रसघनः, एवं वा अरे अयम् आत्मा अनन्तरो अबाह्यः कृत्स्नः प्रज्ञानघनः"** (बृह.उप.४।५।१३), **"असंगो हि अयं पुरुषः"** (बृह.उप.४।३।१५।१६), **"अथातः आदेशो 'न' इति 'न' इति"** (बृह.उप.२।३।६) इत्यादिश्रुतिविचारदशायां **त्यक्तं** प्राकृतधर्मम् **उपाददद्** भवति इति अर्थः. तैः सह सम्बन्धे सति हि तेषु सत्त्वोत्पत्तिसम्भावनाप्तस्यैव असम्भवात् तदसम्भवः इति भावः (सुबो.१०।३।१८).

इत्येवं व्याचक्षाणैः अयमेव अर्थः समर्थितः. अतः सिद्धम् अप्राकृतधर्मरूपत्वं ब्रह्मणः.

(एतादृशस्यैव ब्रह्मणो निगमप्रतिपाद्यत्वेन तथाविधसिद्धान्तोपपादनम्)

ननु तथापि अश्रौतम् एतद् भविष्यति इति आशंक्य परिहारम् आहुः **इति निगमप्रतिपाद्यम्** इति. **इति** अनेन उक्तेन प्रकारेण, **निगमैः** वेदैः **प्रतिपाद्यं** निरूपणीयम् इति अर्थः. निगमस्तु ''**पराञ्चि खानि व्यतृणत् स्वयम्भूः**'' (कठोप.४।१), ''**अद्रेश्यम् अग्राह्यम्**'' (मुण्ड.उप.१।१।६), ''**न तत्र सूर्यो भाति**'' (कठोप.५।१५), ''**अपाणिपादो जवनो ग्रहीता पश्यति अचक्षुः स शृणोति अकर्णः**'' (श्वेता.उप.३।१९), ''**स ह उवाच एतद्वै तदक्षरं, गार्गि!, ब्राह्मणाः अभिवदन्ति अस्थूलम् अनणु अह्रस्वम्**'' (बृह.उप.३।८।८) इत्यादि. ''**दिव्यो हि अमूर्तः पुरुषः स बाह्याभ्यन्तरो हि अजो अप्राणो हि अमनाः शुभ्रः**'' (मुण्ड.उप.२।१।२), ''**असंगो हि अयं पुरुषः**'' (बृह.उप.४।३।१५।१६), ''**निष्कलं निष्क्रियं शान्तं निरवद्यं निरञ्जनम्**'' (श्वेता.उप.६।१९), ''**यतो वाचो निवर्तन्ते अप्राप्य मनसा सह**'' (तैत्ति.उप.२।४।५), ''**कश्चिद् धीरः प्रत्यगात्मानम् ऐक्षत्**'' (कठोप.४।१), ''**स ईक्षाञ्चक्रे**'' (प्रश्नोप.६।३) ''**यतो वा इमानि भूतानि जायन्ते येन जातानि जीवन्ति यत् प्रयन्ति अभिसंविशन्ति**'' (तैत्ति.उप.३।१), ''**विश्वतः चक्षुः उत विश्वतो मुखो विश्वतो बाहुः उत विश्वतः पात् सम्बाहुभ्यां धमति संपतत्रैः द्यावाभूमी जनयन् देव एकः**'' (श्वेता.उप.३।३), ''**सर्वकामः सर्वरसः**'' (छांदो.उप.३।१४।४), ''**यः सर्वज्ञः सर्वशक्तिः**''(.   .   ।   ) ''**परा अस्य शक्तिः विविधैव श्रूयते स्वाभाविकी ज्ञानबलक्रिया च**'' (श्वेता.उप.६।८), ''**मनसैव अनुद्रष्टव्यम्**'' (बृह.उप.४।४।१९) इत्यादिः आकलनीयः. तथाच सति न उक्तदोषः इति भावः. *ननु एवं धर्मप्रतिपादकतत्प्रतीतिनिषेधकश्रुतीनां परस्परविरोधो दुष्परिहरः* इति चेद् मा एवं, ब्रह्मणि विशेषाणां विधिनिषेधयोः प्रमाणसिद्धत्वस्य साधितत्वेन विरोधाभावात्. नच *अनेकागमैकवाक्यतया सविशेषश्रुतेः अप्रमाणत्वम्* इति वाच्यम् अवेदबाह्येन वेदप्रामाण्यस्य क्वापि

त्यक्तुम् अशक्यत्वात्, विरोधपरिहारस्य अन्यथासिद्धेः च. अपिच श्रुतित्वाविशेषाद् अन्यत्रापि तथात्वस्य अवर्जनीयत्वात्.

किञ्च विशेषाः किं कल्पिताः न वा? न आद्यः, कल्पितत्वासम्भवस्य प्रदर्शितत्वात्, तत्त्वे तदापादकवेदविप्रलम्भकत्वप्रसंगात् च. न इतरः, ईशधर्माणाम् अजन्यत्वस्य शरणीकरणीयत्वात्. अन्यच्च कश्चन विरोधो अभिधीयते, धर्मविधिनिषेधयोः सहानवस्थानम् इति चेद् न, आधारभेदेन विरुद्धयोरपि सहावस्थानदर्शनात्. आधारभेदोऽपि वक्तव्यः इति चेद् वार्तम् एतद् अव्याप्यवृत्तितावादिमते संयोगादौ तथापि अनुपपत्तेः, देशाभेदेऽपि प्रकारभेदेन विरोधस्वीकारात्. *ननु अव्याप्यवृत्तितानभ्युपगन्तृमते देशाभेदेन सहानवस्थानं, तदभ्युपगन्तृमते प्रकाराभेदेन तद्विरोधः* इति चेद् न, तत् किं तद्द्वयावस्थानसाहित्यप्रतिक्षेपो वा तद्द्वयावस्थानप्रतिक्षेपसाहित्यं वा? न प्रथमः, तदुभयावस्थितिसाहित्यस्य प्रमित्यविषयतया अप्रसिद्धप्रतियौगिकत्वापातात्. नच इष्टापत्तिः, शशशृंगे प्रतिषेधेऽपि शशे शृंगज्ञप्रतिषेधात्मतोपगमेन प्रसिद्धप्रतियोगि-कत्वक्रोडीकरणात्. न अन्त्यः, तद्द्वयावस्थानसाहित्यसद्भावस्यैव उपपत्तेः. तद्द्वयाभावयोः तद्द्वयात्मकत्वध्रौव्यात्. अन्यथा अनवस्थायाः दुर्निवारत्वात्. अस्तु वा यः कश्चिद् विरोधः तथापि न इह असौ प्राकृतप्रतिषेधाप्राकृतविधानाभ्यां तदयोगात्. तत्सत्त्वेऽपि ब्रह्मणि विरुद्धसर्वधर्माश्रयत्वस्य आश्रयणीयतया तस्य अदोषत्वात्. नच अत्र मानाभावः, श्रुतिस्मृत्याद्यनेकतत्सत्त्वात्. तथाहि ''**आत्मा वा अरे द्रष्टव्यः श्रोतव्यो मन्तव्यः**'' (बृह.उप.२।४।५), ''**यतो वाचो निवर्तन्ते**'' (तैत्ति.उप.२।४।५),''**तद् एजति तद् न एजति**'' (ईशा.उप.५), ''**अपाणिपादो जवनो ग्रहीता पश्यति अचक्षुः स शृणोति अकर्णः**'' (श्वेता.उप.३।१९), ''**सर्वतः पाणिपादान्तं**'' (श्वेता.उप.३।१६), ''**अणोः अणीयान् महतो महीयान्**'' (कठोप.२।२०), ''**समो नागेन समो मशकेन**'' (१।३।२२), ''**अस्थूलम् अनणु अह्रस्वम्**'' (बृह.उप.३।८।८) इत्यादि. अतः सुष्ठूक्तम् **इति निगमप्रतिपाद्यम्** इति.

(तदेतद् निगमप्रतिपाद्यं ब्रह्म शुद्धं सर्वोपाधिविनिर्मुक्तम् इति

सिद्धान्तोपपादनम्)

ननु एवं सति अन्यत्र विकारित्वदर्शनेन अत्रापि तथात्वं स्याद् इति आशंकायाम् आहुः **शुद्धम्** इति, अविकृतम् इति अर्थः. सच्चिदानन्दरूपे ब्रह्मणि विकाराणाम् अभावात्, **''सत्यं विज्ञानम् आनन्दं ब्रह्म''** (. . ।) इति श्रुतेः.

(तदेतद् निगमप्रतिपाद्यं शुद्धमेव ब्रह्म साकारं सर्वाकारं वा भक्तभाविताकारं वा इति सिद्धान्तोपपादनम्)

तदेतत् सकलम् हृदि अन्तर्निधाय निष्कलितम् आहुः **साकृति** इति, साकारम् इति अर्थः. *ननु आकाराणां प्राकृतत्वाद् अतथाभूते तस्मिन् अनवकाशात्, तदलौकिकत्वोक्तौ मानाभावात्, गौरवात् च, निराकारश्रुतिव्याकोपाद्, उपासनार्थायाः साकारश्रुतेः औपाधिकतत्परत्वात्, तदानन्त्येन अद्वैतभंगात् सविशेषस्य सावित्राद्यालोकभास्यत्व-व्यवहार्यत्व-चाक्षुषत्व-क्रियादिमत्त्वादिना अब्रह्मतापातात्, तस्यच आगमसूत्राद्यसम्मतत्वाद् इदम् अनुपपन्नम्* इति चेद् न, आकाराणाम् अलौकिकत्वात्. नच प्रमाणाभावः शंक्यः, **''विश्वतः चक्षुः उत विश्वतो मुखो विश्वतो बाहुः उत विश्वतः पात्''** (श्वेता.उप.३।३), **''सत्यं विज्ञानम् आनन्दं ब्रह्म''** (. . ।), **''सर्वतः पाणिपादान्तं सर्वतो अक्षिशिरोमुखं''** (श्वेता.उप.३।१६), **''आनन्दमात्रकरपादमुखोदरादिः''** (?), **''आनन्दमयो अभ्यासाद्''** (ब्र.सू.१।१।११) इत्यादिसहस्रप्रमाणसद्भावात्. नापि गौरवमेव बाधकं, तेषां पारमात्म्यैकात्म्येन तदभावात्, प्रमाणबलायातस्य तस्य अतथात्वात् च. निराकारश्रुतेः लौकिकतदभाववत्ताप्रतिपादनपरत्वेनापि उपपत्तेः अविरोधात्. अन्यथा साकारश्रुतेः का गतिः आयुष्मता अध्यवसिता? यतः तद्विरोधो न स्यात्. नापि अन्यतरबाधो युक्तो, विनिगमनाविरहेण तत्र तस्य दुर्वचत्वात्. नच *अद्वैतानुरोधेन सविशेषश्रुतिबाधः साधुः* इति वाच्यम्, अबाधेन गतौ सत्यां बाधस्य अन्याय्यत्वात्. अन्यथा सर्वांशेन वेदप्रामाण्यम् अपेयात्.

अथ *आकारप्रतिपादिकाः श्रुतयः तुरीयनिर्विशेषत्वावगतयो अविद्याकल्पिताकारवादिन्यः उपासनार्थं च इति गतौ न उक्तदोषावतारः इति चेद् अत्र ब्रूमो : निर्विशेषं स्वतो दुरवगममिति सविशेषस्य भावनासुकरत्वेन तस्मिन् चित्तनिश्चलत्वे ततः तत्प्रतिपत्तिः इति हि तव अभिप्रायः. सच अयुक्तो अन्योन्याश्रयात्. तथाहि निर्विशेषतत्सिद्धौ सविशेषश्रुतेः तदर्थम् अवास्तवतत्परत्वसिद्धिः तस्यां च सत्यां सा इति. नच *श्रुतिबलात् तसिद्धिः* इति वाच्यं, तस्य अन्यत्रापि समानत्वात्. *ननु एवं निराकारव्यवहारस्य उच्छेदः स्याद्* इति चेद् न, कतिपयविशेषप्रतिषेधेन तदनुच्छेदसम्भवात्. *ननु निषेधार्थं विशेषानुवादो वेदेषु, निषेधस्य निषेध्यप्रतिपत्त्यधीनप्रतिपत्तिकत्वाद् इति अत्यप्रत्यूहम् अविशेषतत्सिद्धिः* इति चेद् मा एवं, विकल्पासहत्वात्. तथाहि अनुवादः किं श्रुतिसिद्धानाम् उत लोकसिद्धानाम्? न प्रथमः, तेषां निषेधानर्हत्वेन अस्य नैरर्थक्यप्रसंगात्. अन्यथा सत्यत्वादयोऽपि ब्रह्मणि न संसिध्येयुः. तेषां तादात्म्याद् न कोऽपि दोषः इति चेद्, इतरेषामपि तथात्वादेव न दोषलेशोऽपि इति परिभावय. नापि द्वितीयो, विकल्पानुपपत्तेः. तथाहि लोकसिद्धयावद्धर्मानुवादो यत्किञ्चित्तद्धर्मानुवादो वा? न आद्यः, इष्टापादनात्. लोकप्रसिद्धानां दुःखित्वानीशत्वादीनाम् अनुवादपूर्वकनिषेधसम्भवेऽपि अतथाभूतानां सर्वेश्वरत्वानन्दमयत्वादीनां तदयोगात्. अतएव च न द्वितीयः. यदपि *आत्मोपासनाम्नानात् तदर्थं श्रुतिषु तदाकारकथनम् अन्यथा तदनुपपत्तेरिति न परमार्थतः तथात्वम्* इति मतं तदपि न, आकाराणां पारमार्थिकत्वाद्. अन्यथा तदुपासनायाः फलाजनकत्वापत्तेः अन्यथाप्रतिपत्तेः निन्दितत्वात् च **''यो अन्यथा सन्तम् आत्मानम् अन्यथा प्रतिपद्यते किं तेन न कृतं पापं चौरेण आत्मापहारिणा''** (महाभा.१।६८।२६) इत्यादिवाक्यात्. उपास्यावास्तवत्वे समस्तोपास्तिवचसाम् अप्रामाण्यप्रसक्तेः च. यस्तु कश्चिद् *अवास्तवब्रह्मतत्त्वोपास्तेः फलास्तित्वं मण्यादिप्रभामण्डलतद्बुद्धिरूपसंवादिभ्रमदृष्टान्तेन* आचष्टे तद् असद्, दृष्टान्तदार्ष्टान्तिकयोः वैषम्यस्य स्पष्टत्वात्. दृष्टान्ते भ्रमाद् अर्थक्रियासम्भवेऽपि दार्ष्टान्तिके श्रुतिपुराणवाक्यसन्दर्भैः उपास्यत्वप्रमिततया तदसम्भवात्. एतेन ''दारुशिलादिषु देवताभ्रमेण भजनात् फलं न भवेद्'' इत्यपि निराकृतम्. तत्रापि सत्यभगवत्स्वरूपोपासकानामेव फलदर्शनात्, निजविषये प्रमायाः विपरीतविषयबुद्धिबाधकत्वेन

दारुशिलादिप्रमितिदशायां देवतात्वभ्रमस्य भाषितुम् अशक्यत्वात् च. *ननु एवम् उपासनानां नानाविधफलश्रवणेन ब्रह्मणो अनन्तरूपताभ्युपगतौ अद्वैतभंगो गौरवं च प्रसज्येत* इति चेद् न, एकस्यैव भगवतो यदृच्छया कार्यार्थम् आविर्भाविताविभिन्नानेकमूर्त्तित्वस्य प्रमाणप्रतिपन्नत्वेन तदनवकाशत्वात्. "**अतः परं न अन्यद् अणीयसं हि परात्परं यद् महतो महान्तं यद् एकम् अव्यक्तम् अनन्तरूपं विश्वं पुराणं तमसः परस्ताद्**" (महाना.उप.१।५) इति श्रुतेः. तदेतद् अभाणि श्रीवल्लभाचार्यचरणैः तत्त्वदीपनिबन्धे "**अनन्तमूर्त्ति तद् ब्रह्म हि अविभक्तं विभक्तिमद्**" (त.दी.नि.१।२६) इति. एतेन तदानन्त्येन अद्वैतभंगः इत्यपि निराकृतम्.

यदपि *सावित्राद्यालोकभास्यत्वादिना सविशेषत्वे अब्रह्मत्वापातः* इति आशंकितं तद् मन्दं, सावित्राद्यालोकस्य भागवतत्वेन स्वेन अभ्युपगतत्वेन स्वावभासाविरोधाद् "**यद् आदित्यगतं तेजो जगद् भासयते अखिलं यत् चन्द्रमसि यत् च अग्नौ तत् तेजो विद्धि मामकम्**" (भग.गीता.१५।१२) इति गीतावाक्यात्, सर्वव्यवहारविषयत्वस्यापि भगवत्कृतस्य अभ्युपेतव्यत्वात्. "**तं तु औपनिषदं पुरुषं पृच्छामि**" (बृह.उप.३।९२।६) इति श्रुतेः, "**प्रकाशवच्च अवैयर्थ्यात्**" (ब्र.सू.३।२।१५) इति सूत्रात् च, व्यवहाराविषयताश्रुतेः जीवसामर्थ्येन तथात्वे तात्पर्यस्य वर्णनीयत्वात् च. चाक्षुषत्वस्य च श्रुतिस्मृतिसूत्रपुराणसिद्धस्य प्रतिषेद्धुम् अशक्यत्वात्. तथाहि "**कश्चिद् धीरः प्रत्यगात्मानम् ऐक्षद् आवृत्तचक्षुः अमृतत्वम् इच्छन्**" (कठोप.४।१), "**ज्ञानप्रसादेन विशुद्धसत्वः ततस्तु तं पश्यते निष्कलं ध्यायमानः**" (मुण्ड.उप.३।१।८), "**भक्त्यातु अनन्यया शक्यो अहम् एवंविधो, अर्जुन!, ज्ञातुं द्रष्टुं च तत्त्वेन प्रवेष्टुं च परन्तप!**" (भग.गीता.११।५४), "**अपि संराधने प्रत्यक्षानुमानाभ्याम्**" (ब्र.सू.३।२।२४), "**शृण्वन्ति गायन्ति गृणन्ति अभीक्ष्णशः स्मरन्ति नन्दन्ति तव ईहितं जनाः तएव पश्यन्ति अचिरेण तावकं भवप्रवाहोपरमं पदाम्बुजम्**" (भाग.पुरा.१।८।३६) इत्यादि. *ननु एतेषां दृश्यत्वादिविधायकवाक्यानां "**पराञ्चि खानि**" (कठोप.४।१), "**अद्रेश्यम् अग्राह्यम्**" (मुण्ड.उप.१।१।६), "**न चक्षुषा गृह्यते नापि

वाचा**" (मुण्ड.उप.१।३।८), "**न तत्र सूर्यो भाति**" (कठोप.५।१५) इत्यादितन्निषेधवाक्यैः समं विरोधाद् एकान्ततः कथम् इत्थं निर्णयः?* इति चेद् मा एवं, भगवत्सामर्थ्यजीवेन्द्रियसामर्थ्याभ्यां तद्दृश्यत्वादृश्यत्वयोः सम्भवेन वाक्यानां मिथोविरोधाभावात्. अतएव गीतायां "**मया प्रसन्नेन तव, अर्जुन!, इदं रूपं परं दर्शितम् आत्मयोगात्**" (भग.गीता.११।४७), "**दिव्यं ददामि ते चक्षुः पश्य मे योगम् ऐश्वरम्**" (भग.गीता.११।८) इत्यादिना स्वसामर्थ्यादिनैव स्वदृश्यत्वम् अर्जुनं प्रति भगवान् अभिदधे. एवं क्रियादिमत्त्वमपि "**परा अस्य शक्तिः विविधैव श्रूयते स्वाभाविकी ज्ञानबलक्रिया च**" (श्वेता.उप.६।८) इत्यादिश्रुत्यनुरोधाद् अवधारणीयम्.

एतेन आगमसूत्राद्यसम्मतत्वं व्युदस्तं वेदितव्यम्. अतएव सकलमहर्षिमण्डलीशिरोमण्डनायमानैः व्यासचरणैः "**प्रकृतैतावत्त्वं हि प्रतिषेधति ततो ब्रवीति च भूयः**" (ब्र.सू.३।२।१३) "**आनन्दमयो अभ्यासाद्**" (ब्र.सू.१।१।११), "**आह च तन्मात्रम्**" (ब्र.सू.३।२।१६) इत्यादिसूत्रैः आनन्दाकारत्वमेव ब्रह्मणो निरणायि. अतः सिद्धं साकृतित्वं ब्रह्मणः. एतेन उदीरितश्रुतिस्मृतिसूत्रपुराणमर्मानभिज्ञाः निर्धर्मकब्रह्मवादिनो भगवदादिष्टखण्डपरशुप्रमुखोपदिष्टपाषण्डपद्धतिश्रद्धालवो भगवदभीष्टभक्तिवर्त्मद्वेष्टारः शिष्टैः प्रत्यादेष्टव्याः. तस्मात् प्राकृतधर्मानधिकरणम् अनन्ताप्राकृतसकलधर्माधिकरणं सर्वभवनसमर्थं न्यायोपबृंहितनिखिलवेदवेदान्तवेद्यं यत् सच्चिदानन्दाकारं तत् परं ब्रह्म पुरुषोत्तमाख्यं परमकाष्ठापन्नं स्तौमि इति पर्यवसितः श्लोकार्थो हृदयालुभिः आर्यगृह्यैः अत्यर्थं परिभावनीयः इति अलम् अतिपल्लवितेन.

तातस्य नत्वा चरणाम्बुजं श्रीकल्याणरायस्य कृपाम्बुराशेः।।
ब्रह्मस्वरूपे स्वमतानुरूपां गोपेश्वरो वादकथाम् अकार्षीत्।।३।।
एतां समेतां सत्तर्कैः स्वसिद्धान्तानुसारिणीम्।।
कृष्णान्तःकरणाः संतो मीमासन्तां मुर्हुमुर्हुः।।४।।

इति श्रीमद्वल्लभाचार्यचरणाब्जमधुव्रत-श्रीकल्याणरायात्मज-श्रीगोपेश्वरेण कृता वादकथा सम्पूर्णा

वादावल्यां

॥ विग्रहवादः ॥*

(मंगलाचरणेन विषयोपक्रमः)

नमामि भगवद्रूपं सच्चिदानन्दपूरितम्॥
कायवाङ्मनसा शश्वद् देववृन्दैः निषेवितम्॥१॥

(देवानां मन्त्रमयत्वेन विग्रहराहित्यम् इति पूर्वपक्षः)

*ननु आदौ इदमेव असंगतं यद् देवानां विग्रहवत्त्वम्. कुतः? मन्त्रमयत्वस्वीकारात्. तथाहि : तस्य मध्यमपरिमाणवत्त्वनियमेन एककालावच्छेदेन सर्वावाहने तथैव आहुतिदाने तेषां ग्रहणासामर्थ्यवत्त्वेन तथात्वात्. अन्यच्च वृत्रवधाय आरब्धमखेन शतमखेन **"इन्द्राय स्वाहा!"** (तैत्ति.संहि.१।४।२८।२) इति उक्ते तद्भिन्नेन्द्रस्वीकारात्. *ननु इष्टापत्त्या अनवस्थापत्तेः, न उक्तं भविष्यति* इति चेद् विधिन्यूनतया फलानवाप्तिः, तस्य फलावाप्त्यर्थमेव तत्करणात्. तस्माद् उक्तदूषणपराहत्यै मन्त्रमयत्वस्वीकारस्तु आवश्यकः* इति चेद्,

(देवानां केवलं मन्त्रमयत्वम् इति पक्षस्य निरसनाय अनुपपत्तयः विग्रहवत्त्वोपपत्तयः च)

न, **"स नः इन्द्रः कामवरं ददातु"**(तैत्ति.आर.३।११।८), **"सएव एनं भूतिं गमयति"** (तैत्ति.संहि.२।१।५।५), **"तृप्तएव एनम् इन्द्रः प्रजया पशुभिः च तर्पयति"** (तैत्ति.संहि.२।५।४।३) **"इन्द्रो मायाभिः**

*उपलब्धासु सर्वासु मातृकासु ग्रन्थकर्त्रा वा लिखितेषु अनुलिपिकर्त्रा वा कल्पितेषु वाक्येषु अनाकांक्षितानां पदवाक्यानां प्रयोगातिरेकेण विवक्षितार्थबोधे अतीवकाठिन्यम् अनुभूय ग्रन्थकर्तुश्च सुवैदुष्यपूर्णविषयोपन्यासं च समवधार्य क्वचित्-क्वचिद् अनपेक्षितपदवाक्यानां संशोधनपरिवर्तनं कृते इति विज्ञापयन् क्षम्यो हि अयं सम्पादकः.

पुरुरूप ईयते" (बृह.उप.२।५।१९) इत्यादिश्रुतिव्याकोपात्. तथाहि मन्त्राणां जडत्वे तन्मयानामपि तत्त्वेन कामवरदाने तृप्तौ च असमर्थत्वाद्. अहल्यां कामयमानस्य सहस्रदृशो गौतमागमने निष्क्रमणाय आप्तरूपान्तरस्य ततो निष्क्रमणासामर्थ्यात्, नहि घटः पटो भवति जडत्वाद्, अतः तृप्त्याद्यर्थं विग्रहवत्त्वादिस्वीकारस्य आवश्यकत्वात्. नच पूर्वोक्तदूषणापत्तिः इति वाच्यं, वक्ष्यमाणरीत्या तत्समूहस्य निरस्तत्वात्. तथाहि **"एकमेव अद्वयं ब्रह्म"** (गोपा.उप.२।१५), **"सर्वं खलु इदं ब्रह्म"** (छान्दो.उप.३।१४।१), **"पुरुषएव इदं सर्वं"** (ऋक्संहि.१०।९०।२), **"न इह नाना अस्ति किञ्चन"** (बृह.उप.४।४।१९) इत्यादिश्रुत्या सर्वस्य चिदात्मकत्वम् अवधार्यते इतितु निर्विवादं, स्वनामव्युत्पत्त्या च, एवं सति 'सर्व'पदस्य असंकुचितवृत्तितया अत्र तत्त्वं नात्र तत्त्वम् इति वक्तुम् अशक्यम् **"आनन्दं ब्रह्मणो रूपम्"** (?), **"सच्चिदानन्दं ...ब्रह्म"** (नृ.उ.ता.उप.४।२), **"आनन्दो ब्रह्म इति व्यजानात्"** (तैत्ति.उप.३।६) इति श्रुत्या तस्यच स्वरूपं सच्चिदानन्दात्मकम्.

तत्रच अंशत्रयं सत्त्वं चित्त्वम् आनन्दत्वम् च इति भेदेन. तत्र सदंशमात्रेण जडाः, उद्भूतसच्चिदंशेन जीवाः तन्मध्यपातिनो देवाअपीति विग्रहवत्त्वम्, पूर्णत्रितयांशः स्वयमेव इति.

(ब्रह्मांशकल्पनम् अनावश्यकम् इति प्रतिबिम्बवादसमाश्रयणेन शंका)

*ननु जीवस्य अंशद्वयवत्त्वं तदा यदा किल अंशत्वं, तदेव असम्भवि. केषाञ्चिद् मते अविद्यायां तस्य ब्रह्मप्रतिबिम्बत्वस्वीकाराद् दर्पणादौ मुखप्रतिबिम्बवत्; संगतश्च अयं पक्षः. तथाहि तस्य अंशत्वन्तु **"यथा अग्नेः क्षुद्रा विस्फुलिंगाः"** (बृह.उप.२।१।२०), **"ममैव अंशो जीवलोके"** (भग.गीता.१५।७), **"अंशो नानाव्यपदेशात्"** (ब्र.सू.२।३।४३) इत्यादिश्रुतिस्मृतिसूत्रैः. तत्तु अयौक्तिकं, विपरीतधर्मवत्त्वात्. नहि अग्न्यंशे विस्फुलिंगे सेकवत्त्वं दृष्टं श्रुतं वा केनचित्. *ननु विस्फुलिंगे यत्किञ्चिद् औष्ण्यमिव अस्यापि यत्किञ्चिज्ज्ञत्वं वर्तते इति कथम् अतत्त्वम्?* इति चेद् न,

विपरीतधर्मवत्त्वाद् इति अवोचामैव. तथाहि मरुमरीचिकादौ जलभ्रमे, शुक्तौ च रजतभ्रमे इत्यादिभ्रमेषु अतत्त्वं विपरीतधर्मत्त्वेन स्पष्टमेव दृष्टम्. अतो न अंशो भवितुम् अर्हति. *ननु एवं तर्हि "**यथा अग्नेः...**" इत्यादिनां का गतिः?* इति चेद् मा एवम्, औपचारिकत्वेन समाधेयत्वात्. अतएव वस्तुतो न किञ्चिद्* इति चेद्—

(प्रतिबिम्बवादप्रतिवादः)

न, यद् अविद्यायां तत्प्रतिबिम्बपतनं तदेवतु महद् दूरतरमिति. तथाहि त्वदुक्तब्रह्मणो नीरूपत्वेन तस्याः च अतिमलिनत्वेन तस्यां कथं प्रतिबिम्बः? ननु तथापि एवमेव चेद् मरुतोऽपि काष्ठे प्रतिबिम्बो भवतु! किञ्च कदाचित् स्वयुक्त्याग्रहेण तस्य सरूपत्वम् इति मनुषे परम् अविद्यायाम् अतिमलिनायाम् अमलत्वन्तु सर्ववाद्यसम्मतमेव. तस्मात् पूर्वोक्तश्रुतिस्मृतितत्त्व-सूत्रप्रतिपाद्यः तदंशएव जीवो नतु अविद्याश्रयकब्रह्मबिम्बकप्रतिबिम्बः.

ननु वैपरीत्यस्य का गतिः? इति चेद् भगवदिच्छैव. तथाच दर्शयति सूत्रकारः, "**पराभिध्यानात्तु तिरोहितं ततो हि अस्य बन्धविपर्ययौ**" (ब्र.सू.३।२।५) इति.

(आभासवादेन आशंकासमाधाने)

स्याद् एतद् *मास्तु प्रतिबिम्बः किन्तु आभासएव. तथाहि अंगुलिसम्पर्कजनितचन्द्रानेकत्ववद् अविद्यातः तथा भासते ब्रह्म इति तदेव 'जीव'पदवाच्यम्* इति चेद् न, अन्याय्यत्वात्. कस्य आभासः? इति विचारे—न ब्रह्मणो भ्रमायोगाद्, न जीवस्य तादृशाभासविषयत्वाद्. तथाहि नहि चन्द्रस्य भ्रमः चन्द्राणाम्. विस्तरेणतु आकरग्रन्थे विद्वन्मण्डने प्रतिपादितम् अतो न अत्र तद्विस्तरः.

(पारमार्थिकांशत्वे जीवत्वघटकानन्दांशतिरोभावे शंकासमाधाने)

*ननु एवं तर्हि जीवे कुतो न आनन्दांशः? "उषसि क्लिष्टः

इदानीं सुखी" इत्याद्यवस्थाभेदाद्* इति चेद् न, अवस्थाभेदस्य अविकृते ब्रह्मणि व्यभिचारित्वात्. किञ्च पूर्वोक्ते "**पराभिध्यानाद्...**" (तत्रैव) इति सूत्रेऽपि तथैव प्रतिपादितम्. "**ततएव तिरोभावाद्...**" इत्यारभ्य "**...सूत्रकारः**" (विद्व.मण्ड.पृ. : १५५) इत्यन्तं श्रीमत्प्रभुचरणैः. *ननु चिदंशस्यापि भगवद्धर्मत्वेन तस्य च अत्रापि सत्त्वेन तत्तुल्यतया आनन्दांशस्यापि अपेक्षया तदंशमपि स्वीकुरु इति कथम् अंशद्वयकथनं युक्तम्?* इति चेद् न, तत्तुल्यतायाः अनवधानविजृम्भितत्वात्. नहि अनुकम्पया कदाचिद् गजादिदानतः सेवको राजा भवति. तत्सत्त्वेऽपि न अयम् ईशः इति लोकएव सिद्धत्वात्. किञ्च ब्रह्मणो व्यापकत्वाद् अस्य च "**स्वयं विहृत्य**" (बृह.उप.४।३।९) इत्यादिश्रुत्युक्तपरिवर्तनविहारान्यथानुपपत्या अणुत्वात् तद्दासत्वम् इति कथं तौल्यम्! अतएव विद्वन्मण्डने जीवाणुत्ववादे "**स यदा अस्माद्...**" इत्यारभ्य "**...निगर्वः**" (विद्व.मण्ड.पृ. : १९१-१९३) इत्यन्तं श्रीमत्प्रभुचरणाः.

ननु आनन्दांशस्य भगवद्धर्मत्वादेव अत्र असत्त्वम् इति यदि उच्येत तर्हि चिदंशस्यापि तत्समानयोगक्षेमत्वात् तद्वदेव अत्र असत्त्वम् इति वक्तव्यम् इति चेद् न, स्वरूपहान्यन्यथोपपत्तिभिया तत्स्वीकारस्य अवश्यवक्तव्यत्वात्. ततएव सोऽपि स्वरूपात्मको नतु धर्मरूपज्ञानात्मकः. अतएव "**सच्चिदानन्दम्...**" इत्यारभ्य "**...सर्वम् अनवद्यम्**" (तत्रैव पृ. : १९८) इत्यन्तं प्रभवः. तस्माद् तिरोहितानन्दांशाः जीवाः सच्चिदंशेन उद्भूताः इति फलितम्.

(सच्चिदानन्दब्रह्मणः सच्चिदानन्दांशसम्भवेन देवानां विग्रहवत्त्वोपपत्ति)

तत्र सदंशमात्रवृत्तिजडेष्वपि सत्ता परब्रह्मणएव, उभयांशमात्रवृत्त्यणुजीवेष्वपि तस्यैव, तदा किं पुनः देवेषु तत्सत्तायाः प्रश्नोऽपि! तथा सति ब्रह्मणएव विग्रहवत्त्वेन तदंशवृत्तिदेवेष्वपि विग्रहवत्त्वम् अनुक्तम् आगतम्. *ननु ब्रह्मणोऽपि विग्रहवत्त्वे विग्रहस्य मध्यमपरिमाणवत्त्वनियमेन अव्यापकत्वादिदोषाः संगच्छेयुः इति चेद् न, वक्ष्यमाणदोषात्. तथाहि घटादिपक्षक-

कार्यत्वसाध्यक-सावयत्वलिंगक-पटदृष्टान्तेन यथा कुलालादिसिद्धिः; तथा सर्वत्र सावयत्वेन कार्यत्वजिज्ञासायां क्षित्यादौ कार्यत्वदर्शनेन ज्ञानोपपत्तौ कार्यस्य कर्तृजन्यत्वनियमेन तद्गर्भगतत्वेन सकर्तृकत्वसिद्धिः. तथा सति ''कः कर्ता?'' इति आकांक्षायां कुलालतन्तुवायादिषु तत्कर्तृत्वासामर्थ्यग्रहणेन अनुक्ता ईश्वरसिद्धिः. तथाच दृष्टान्तीययत्किञ्चिद्धर्मस्यापि दार्ष्टान्ते अवश्यवक्तव्यत्वात् शरीरत्वज्ञानादिमत्त्वसिद्धिः, जन्यत्वाद्यसिद्धिः च 'यत्किञ्चित्'पदात्. मुखचन्द्र-सादृश्यम् आह्लादजनकत्वधर्मम् आदायैव इतिवत्. *ननु शरीरित्वे पुनः पूर्वोक्तदूषणापत्तिः* इति चेद् न, अन्वयव्यतिरेकसिद्धस्य तस्य यावता दूषणपरिहारः तावल्लक्षणकस्यैव साधनीयत्वात्. तथाच शरीरित्वसत्त्वे कर्तृत्वसत्त्वं तदभावे तदभावः इति आगतम्. *ननु ज्ञानादिकमेव कुतो न तत्साधकम्?* इति चेद् न, मुक्तात्मसु ज्ञानवत्स्वपि शरीरादर्शनात्. एवञ्च सावयवत्वा-ऽनित्यत्व-ज्ञानापेक्षितकर्तृत्वरूप-सर्वकर्तृत्वान्यथानुपपत्ति-बलात् सिध्यन् कर्ता स्वयमेव सकलदेशगतकार्योत्पत्त्यनुपपत्त्यादिदूषणगणातीतएव शरीरज्ञानादिमानेव सिद्धः. सच ईश्वरएव. *ननु सर्वकर्तृत्वम् ईश्वरस्यैव इति को वा नियमः? घटादौ कुलालादीनां तथादर्शनाद्* इति चेद् अवैहि : तत्तत्कार्ये हि तत्तद्विषयकज्ञानस्य कारणत्वम् इतितु तवापि सम्मतम्. तथाच सर्वकार्ये सर्वविषयकज्ञानस्य कारणत्वम् इत्यपि आदरणीयम्. एवञ्च **''यः सर्वज्ञः सर्वविद्''** (मुण्ड.उप.१।१।९) इत्यादिश्रुतिप्रतिपाद्यतत्त्वविशिष्टस्य ईशितुः सर्वकार्यकरणे को वा सन्देहः? *ननु प्रत्यक्षबाधो घटादिषु* इति चेत् तवैव, न ब्रह्मविदां, यतः ईश्वरेच्छयैव तदंशानां तत्तत्कार्यकरणे प्रवर्तमानत्वात्. अन्यथा घटादिकार्यधारोत्पत्त्यापत्तिः. किञ्च योहि यदिच्छया यदधीनत्वे सति यत्कार्ये प्रवर्तते तस्य तदिच्छया तदधीनत्वेन प्रवर्तितत्वाद् अवान्तरव्यापारत्वमेव. तथाच भगवदिच्छया तदधीनत्वे सति सर्वस्य सर्वकार्ये प्रवर्तितत्वात् तत्त्वमेव इति मतं यथा अवान्तरकुलालादीच्छया दण्डादिद्वारा भ्रम्यादेः. *ननु तादृशानां जडत्वात् अवान्तरव्यापारवत्त्वं कल्प्यं, चिदंशभूतानां जडभिन्नत्वाद् न अवान्तरव्यापारवत्त्वं कल्पनीयं, तथाच स्वेच्छयैव कुतो न प्रवृत्तिरिति कुलालादिनां स्वतःकर्तृत्वं सिद्धमेवेति पुनः पूर्ववद्* इति चेत्, कुतो भ्रान्तिं न त्यजसि? यदि एवं स्यात् तदा कुलालादीनां

तदेकपरत्वेन घटादिकार्यधारोत्पत्त्यापत्तिः इति पूर्वमेव समाहितम्.

(तत्कार्यजनकतत्तज्जनकसत्त्वेऽपि सर्वकार्यनिरूपितसकलजननप्रयोज-ननिर्धारको भगवानेव इति स्थापनम्)

यद्वा प्रयोज्यप्रयोजकभावेन हि द्वेधा व्यवहारप्रवृत्तिः. तथाच तन्मात्रे तदधीनः सः इति तु युक्तम्. ततश्च **''सर्वस्य वशी''** (बृह.उप.४।४।२२) **''सर्वस्य ईशानः''** (बृह.उप.५।६।१) इति श्रुत्या प्रयोजको हि भगवान् प्रयोज्याः च जीवाः इति मन्तव्यम्. तथा सति तेषां चेतनत्वेन कर्तृत्वे सत्यपि न स्वतःकर्तृत्वं किन्तु गौणमेव. तथाच मुख्ये सम्भवति तस्मिन् तत्कल्पनायाः अन्याय्यत्वात्. तेषु मुख्यत्वज्ञानम् अज्ञानतएव. *ननु **''स्वतन्त्रः कर्ता''** (पाणि.सू.१।४।५४) इति अनुशासनाद् न एवम्* इति चेद् न, ईश्वरेतराणाम् स्वातन्त्र्याभावात्. तस्मात् पूर्वोक्तदूषणगणानवसरितक्षित्यादिपक्ष-काद्यनुमानविधया जगत्कर्तृत्वेन स्वतन्त्रकर्तुः ईश्वरस्य सिद्धिः.

एतदपि स्वयुक्तिनिगृहीतान् ताँस्तान् तार्किकान् प्रति साधनम्. भगवदीयानान्तु **''सहस्रशीर्षा...''** (पु.सू.१), **''सर्वतः पाणिपादान्तं''** (भग.गीता.१३।१३), **''नमो अस्तु अनन्ताय सहस्रमूर्तये''** (महाभा.१३।६३-५।५), **''अनेकबाहूदरवक्त्रनेत्रम्''** (भग.गीता.११।१६), दशमस्कन्धीयशंकर-स्तुतौ **''नाभिः नभो अग्निः मुखम्''** (भाग.पुरा.१०।६०।३५), **''आनन्दमात्रकरपादमुखोदरादिः''** (?), **''शारीरश्च उभयेऽपि हि''** (ब्र.सू.१।२।२०) इत्यादि सहस्रश्रुतिस्मृतिपुराणतत्त्वसूत्रोल्लेखादेव तथैव ईश्वरेश्वरः सिद्धः इति किम् अल्पसामर्थ्येन अनुमानेन.

(तस्माद् भगवतएव देवादिविग्रहधारणेन सर्वभोक्तृत्वम्)

तथाच सर्वधर्मविशिष्टो भगवानेव सर्वत्र सर्वरूपतया बलिं भुंक्ते आयात्यपि च. अतएव **''यक्षे विभूतिः भवतः तत् सम्पादय नः प्रभोः''** (भाग.पुरा.१०।६९।३) इत्यादि युधिष्ठिरोक्तिः. अतो न बाधकावकाशः.

*ननु वादी पुनः आशंकते **''इन्द्राय स्वाहा!''** (यथापूर्वोक्तम्)

इत्यादौ का गतिः ? इति चेद् एतदपि अवधारय : सोऽपि स्वेष्टफलावाप्त्यर्थम् "**इदि परमैश्वर्ये**" (पा.धा. भ्वा.६३)इति धातुप्रतिपाद्य-महेन्द्राय ईश्वरायैव वितरति इति किम् अनुपपन्नम् ? तस्यतु परा शक्तिः, "**परा अस्य शक्तिः**" (श्वेता.उप.६।८) इत्यादिश्रुत्युक्तत्वात् . अतएव "**ये धातुशब्दाः यत्र अर्थे उपदेशे प्रकीर्तिताः तथैव अर्थो वेदराशेः कर्तव्यो न अन्यथा क्वचिद्**" (पत्राव.४) इति वागीशचरणाः.

तथाच उक्तरीत्या देवेषु विग्रहवत्त्वमेवेति ग्रहिलतया कदाचित् तदभाववत्त्वम् इति वदन्तः कर्मिणो अकर्मिणएव. अतएव उक्तं "**श्रूयतेऽपि हि इन्द्रादीनां देवानाम् अप्रत्यक्षत्वं विग्रहवताम्**" (विद्व.मण्ड.?।) इति विद्वन्मण्डने प्रभुचरणैः.

(भगवतः सर्वहविर्भोक्तृत्वेऽपि न तत्तद्हविःसम्प्रदानीभूतदेवानाम् अतृप्तिः इति उपपादनम्)

*ननु देवादिबलिभोक्तृत्वं भगवतः तर्हि तेषां कथं तृप्तिः ? * इति चेद् न, कोटिब्रह्माण्डविग्रहस्य तस्य तृप्तौ एतद्गर्भगतत्वेन तेषां सुतरां तृप्तत्वात्. गोसुखे गोगर्भसुखवत्. अतएव "**सर्वदेवमयो हरिः**" (भाग.पुरा.११।२३।२८), "**सर्वदेवनमस्कारः...**" (. . ।), "**यथा तरोः मूलनिषेचनेन**" (भाग.पुरा.४।३१।१४) इत्यादीनि वचांस्यपि संगतानि स्युः. द्वितीयस्कन्धेऽपि "**ब्रह्मवर्चस्कामस्तु** " (भाग.पुरा.२।३।२) इत्यारभ्य "**यजेत् पुरुषं परम्**". (भाग.पुरा.२।३।१०) इत्यन्तम् अखिलाज्ञानान्धकारनिवारकेण जगन्मित्रेण श्रीशुकेन. अतएव श्रुतिरपि "**तदेव ब्रह्म त्वं विद्धि नेदं यद् इदम् उपासते**" (केनोप.१।५) इति आह. अर्थस्तु : श्वेतकेतो ! यद् इदम् उपासते, नाम, यद् इदन्त्वेन वरुणत्वेन/इन्द्रत्वेन उपासते तद् न किन्तु तत् ब्रह्मैव इति विद्धि. अतएव "**यज्ञरूपो हरिः पूर्वकाण्डे**" (त.दी.नि.१।११) इति तत्त्वदीपे श्रीमदाचार्यचरणाः.

(सर्वनामरूपकर्मधारकस्य भगवतएव आधिभौतिकादिरूपत्रयम् इति

निष्कर्षः)

किञ्च भगवतो रूपत्रयं आधिदैविकम् आध्यात्मिकम् आधिभौतिकम् इति भेदात्. आधिभौतिको विग्रहवान् इन्द्रादिः. आध्यात्मिको, मन्त्राधिष्ठातृत्वेन तदादिः. आधिदैविकः स्वयमेव. एवं चेत् पूर्वोक्ता न अनवस्थापि. *ननु तर्हि लाघवात् "**विष्णवे स्वाहा**" इत्यादिकमेव अस्तु. इष्टापत्तौ श्रुतिविरोधः * इति चेद् मा एवं, "**यो-यो यां-यां तनुं भक्तः श्रद्धया अर्चितुम् इच्छति तस्य-तस्य अचलां श्रद्धां तामेव विदधामि अहं, स तया श्रद्धया युक्तः तस्य आराधनम् ईहते लभते च ततः कामान् मयैव विहितान् हि तान्**" (भग.गीता ७।२१) इत्यादि भगवद्वाक्यैः "तत्तत्कामनया तत्तत्कर्मणि प्रवृत्तस्य तत्तद्रूपेणैव तत्तत्फलं दास्यामि" इत्यादि तदिच्छयैव तथा इति समाधेयत्वात् इति सर्वम् अनवद्यम्॥

विट्ठलेशकृपालेशाद् देवविग्रहसंशयाः॥
बहिर्मुखकृता शंका क्षणमात्रे निराकृता॥२॥
अविचारदशायां हि स्वभावस्तु फलिष्यति॥
कदाचित् तेन दूष्यन्ते तच्छून्यानां कुतूहलम्॥३॥
भविष्यति न सन्देहः तद्गुणार्थम् अतो वचः॥
राजलीलापतिः कृष्णः प्रभुः श्रीद्वारकेश्वरः॥
एतेनैव प्रसन्नोऽस्तु किम् अल्पैः देवतान्तरैः॥४॥

इति श्रीगिरिधरविरचितो विग्रहवादः समाप्तः

वादावल्यां

॥ प्रपञ्चवादः ॥*

(मंगलाचरणेन विषयोपक्रमः)

कमलाधिपतिं कृष्णं शरणागतवत्सलम्॥
व्रजांगनाटाक्षेण श्यामं वन्दे चतुर्भुजम्॥१॥
नमामि श्रीमदाचार्यान् सर्वसामर्थ्यसंयुतान्॥
यैरिदं प्रापितं सर्वं नित्यतां ब्रह्मरूपताम्॥२॥

(तत्र प्रपञ्चमिथ्यात्वोपपादकः पूर्वपक्षः)

*ननु किम् इदम् उन्मत्तवत् प्रलपसि यद् ''इदं नित्यं ब्रह्मरूपम्'' इति, प्रपञ्चस्य मिथ्यात्वेन तस्य असत्त्वांगीकारात्.

तथाहि **''एकमेव अद्वयं ब्रह्म''**(गो.ता.उप.२।१५) **''न इह नाना अस्ति किञ्चन''** (कठोप.४।११, बृह.उप.४।४।१९) इत्याद्यभेदबोधकश्रुतिभिया भेदरूपं द्वितीयन्तु त्वयापि न स्वीकार्यम्. तथाच प्रपञ्चस्य नित्यवत् परिदृश्यमानत्वात् श्रुतौ च अभेदस्य उक्तत्वाद् उभयाविरोधार्थं वासनया जीवाविद्यया वा भिन्नत्वेन प्रतीयमानत्वेन तथात्वात्. अतएव **''एकमेव...''** (तत्रैव) इति श्रुतौ 'अद्वय'पदम्. अतएव ज्ञानिनां शुद्धब्रह्मज्ञानाद् अविद्यानाशे तत्कल्पितप्रपञ्चस्यापि वस्तुतो असत्त्वेन अभ्युपेयत्वम्* इति चेत्

* उपलब्धासु सर्वासु मातृकासु, ग्रन्थकर्त्रा वा लिखितेषु अनुलिपिकर्त्रा वा कल्पितेषु, वाक्यानाकांक्षितपदवाक्यानां वाक्येषु प्रयोगातिरेकेण अभिप्रायबोधे अतीवकाठिन्यम् अनुभूय ग्रन्थकर्तुश्च सुवैदुष्यपूर्णविषयोपन्यासं च समवधार्य क्वचित्-क्वचिद् अनपेक्षितपदवाक्यानां संक्षेपणसंशोधनपरिवर्तनानि कृतानि इति विज्ञापयन् क्षम्यो हि अयं सम्पादकः.

(तत्र समाधाने विकल्पासहत्वहेतुना असत्त्वखण्डनम्)

प्रष्टव्यो असि : प्रथमं तावद् असत्त्वं किं त्रैकालिकाभावरूपं स्वीक्रियते उत भ्रमकल्पितम्?

न त्रैकालिकाभावरूपम् अदृश्यत्वापत्तेः. किञ्च अभावस्य चातुर्विध्येन प्रागभावादित्रयाणाम् अत्र अकल्पनीयत्वेन परिशेषेण अत्यन्ताभावस्य ऊर्वरितत्वेन तस्यापि सप्रतियोगिकत्वेन अस्यापि असत्त्वेन तदभावाभावात्. ''भूतले घटात्यन्ताभावः'' इत्यादौतु संयोगेन प्रत्यक्षदृष्टं प्रतियोगिनं घटम् आरोप्य तस्य निषेधः. ननु शशशृंगादौ का गतिः? शशे शृंगात्यन्ताभावः इत्येव. गोमहिषादिषु दृष्टं प्रतियोगि शृंगं संयोगेन आरोप्य निषेधः. घटात्यन्ताभावः इतिवत्. नवा शृंगत्वसामान्येन तद्धर्मावच्छिन्नप्रतियोगिताको अत्यन्ताभावो वक्तुं शक्यो, गवादिषु प्रत्यक्षत्वात्. तेन तस्मिन् तदीयत्वाभावः इत्यपि साधु.

न भ्रमकल्पितं, तस्य पूर्वप्रमादृष्टपदार्थगतधर्मसदृशयत्किञ्चिद्धर्मग्रहणजन्यत्वात्. तथाहि ''शुक्तौ इदं रजतम्'' इत्यादौ पूर्वकालीनप्रमादृष्टहट्टस्थरजतत्ववद् रजतधर्मसदृशयत्किञ्चिच्चाकचक्यादिधर्मसारूप्येण हि भ्रमः सम्भवति. प्रकृते पूर्वकालीनप्रमादृष्टयत्किञ्चिदधिकरणस्थैतदसम्भवेन क्वगतधर्मसारूप्येण हि कुत्र कस्य भ्रमः सम्भवति? *ननु एतस्मिन्नेव प्रपञ्चे पूर्वं सत्यत्वम् अवधार्य पुनः मिथ्यात्वम् इति युक्तमेव* इति चेद् न, कुत्र गतं तद् अवधार्य निषेधइति इत्याकारकं द्वितीयम् इत्यपि धीः चेत् परिदर्शय.

(अद्वैतवादिमते अविद्या मायापि वा विकल्पासहतया न सिध्यति इति तन्निरसनम्)

अविद्यामात्रेण प्रतीयमानत्वाद् मिथ्या इति प्रतिपादने इदं विचार्यते : का सा [क]अविद्या? [ख]किमधिकरणिका च? इति.

प्रथमपक्षे किम् [क/१] मिथ्याज्ञानरूपा उत [क/२] तद्भिन्ना जवनिकावद् यथार्थज्ञानप्रतिबन्धरूपा? आहोस्विद् [क/३] अदृष्टविशेषजन्या वा?

न [क/१]आद्या, ज्ञानकारणजिज्ञासायां ब्रह्मणः तव निर्गुणत्वेन इच्छावत्त्वाभावेन तदिच्छया मिथ्याज्ञानम् इति वक्तुम् अशक्यत्वेन अविद्यैव

तद् इति आहत्य उत्तरतः अविद्यायाः मिथ्याज्ञानकारणत्वेन अज्ञानरूपत्वाभावात्. नहि दण्डो घटो भवति. ननु अनाद्येव तद् इति चेत् 'तत्कृत'इति पदं भवतामेव अनर्थकं स्यात्. *ननु समवायिकारणत्वम् अविद्यायाः इति तत्कारणत्वं तद्रूपत्वं चापि, तन्नाशे तन्नाशोऽपि मृद्वद्घटो अमृद् इत्यपि प्रतीतेः* इति चेत् सम्प्रति न्यायरीत्यैव उच्यते. एवम् आस्तां वा, यदि अविद्यायाः द्रव्यत्वं स्वीक्रियते कैरपि. अन्यथा रूपान्तरकरणे पूर्ववद् नाशेन पदार्थनाशात् रूपनाशेऽपि पटनाशः. तस्मात् समवायिकारणत्वं द्रव्यस्यैव इति नियमः. नच *असमवायिकारणत्वमपि* इति वक्तुं शक्यं, तव आग्रहव्याघातात्. तथाहि अज्ञानरूपा सा इति वदतः तव अज्ञानमेव सा इति प्रतिफलितम्. तथाच न मिथ्याज्ञानोत्पत्तौ तस्यैव कारणत्वं, घटे घटकारणत्वानंगीकरणाद्. अन्यथा रूपोत्पत्तावपि तस्य कारणत्वस्य दुर्वारत्वमेव. किञ्च तस्य समवायिकारणसापेक्षत्वात् एतदतिरिक्तस्य कारणत्वाभावेन अविद्यायाः कारणत्वस्य वक्तुम् अशक्यत्वात्. नच *कस्यचिद् द्रव्यविशेषस्य द्रव्यान्तरं कारणं यथा तथा अत्रापि* इति वाच्यं, पूर्वोक्तेन निराकृतत्वात्. नच निमित्तत्वं, निमित्तत्वेतु आगतम् अतद्रूपत्वम्. नहि दण्डो घटो भवति.

न [क/२] द्वितीया, ज्ञानस्य सविषयकत्वेन स्वीकारात्. तेषाञ्च असत्त्वेन त्वदभिमतत्वात् किंविषयकं यथार्थज्ञानप्रतिबन्धं करोति इति विचार्य वक्तव्यत्वात्. निर्विषयतत्स्वीकारे मानाभावात्.

न [क/३] तृतीया, तत्त्वेन जीवः इत्यादि तव आग्रहव्याघातात्. किञ्च दर्पणादौ बिम्बप्रतिबिम्बवद् जीवानाम् अविद्यायां तव ब्रह्मप्रतिबिम्बत्वम् इति स्वीकारात् प्रतिबिम्बस्य दर्पणाधीनत्वेन तद्गतविशेषाणां च तदधीनत्ववत् तेषाम् अविद्याधीनत्वेन तद्गतादृष्टविशेषस्य सुतरां तदधीनत्वात् तज्जनकत्वाभा-वात्. नहि घटो दण्डजनको दण्डाधीनत्वात्.

ननु एतत्त्रयव्यतिरिक्तैव सा इति चेद् न, किंलक्षणिका इति वदस्व? नच लक्षणशून्यैव इति वाच्यं लक्षणशून्ये प्रमाणाप्रसक्त्या सिद्ध्यभावापत्तेः. *ननु भवतां जीवाज्ञाने किं कारणम्?* इति चेद् भगवदिच्छैव **''मत्तः स्मृतिः ज्ञानम् अपोहनं च''** (भग.गीता.१५।१५) इत्यादिना तन्निरूपणात्. अतएव **''बुद्धिः ज्ञानम् असम्मोहः''** (भग.गीता.१०।४)

इत्यारभ्य **''मत्तएव पृथग्विधाः''** (भग.गीता.१०।५) इत्यन्तमपि उक्तं श्रीमद्यदुपुरपुरन्दरेण. अतएव **''बुद्धिप्रेरककृष्णस्य पादपद्मं प्रसीदतु''** (त.दी.नि.३।५।१) इति वाक्पतेः वाक्.

किञ्च सा सती वा असती वा? न आद्या, द्वैतापत्तेः. न द्वितीया, न इत्येव प्रतिफलितत्वात्. ननु अस्तु सदसद्विलक्षणैव सा इति चेद् न, मानाभावात् ''परस्परविरोधे हि'' इति न्यायात् च. नच *अनादिसान्ता भावरूपा* इति वाच्यं, ब्रह्मयाथार्थ्यज्ञाननाश्यत्वरूपहेतोः हेत्वाभासत्वेन अनुमानासम्भवाद् अन्वयव्यतिरेकव्यभिचारात् साध्याभाववद्वृत्तित्वात् च.

[ख] किमधिकरणिका इति द्वितीयप्रश्नपक्षे ''तुष्यतु दुर्जनन्यायेन'' अस्तु अविद्या. सा पुनः ब्रह्मगता वा जीवगता वा?

न आद्या, ब्रह्मणः शुद्धत्वव्याहतेः. किञ्च त्वदभिमते ब्रह्मणि जीवतुल्यतापत्तौ **''गौणः चेद् न 'आत्म'शब्दात्''** (ब्र.सू.१।१।५), **''तन्निष्ठस्य मोक्षोपदेशात्''** (ब्र.सू.१।१।६), **''हेयत्वावचनात् च''** (ब्र.सू.१।१।७) इति सूत्रविरोधः.

न द्वितीया, जीवस्य त्वन्मते प्रतिबिम्बत्वांगीकाराद् आधेयस्य च आधाराधीनत्वात्. प्रतिबिम्बस्य दर्पणाधारकत्वेन तदधीनत्ववत् तस्यापि अविद्यारूपाधाराधीनत्वेन दर्पणगतः प्रतिबिम्बो नतु प्रतिबिम्बगतो दर्पणः इतिवद् अविद्यागतो जीवो नतु तद्गता सा इति वक्तव्यत्वात्. किञ्च जीवगतत्वेन ब्रह्मगतधर्मकल्पने सामर्थ्याभावात्. तथाहि ब्रह्मगता आस्ते अविद्या कल्पिता इतितु तव मतम्. तथाच असमानाधिकरणत्वात् तथा. नच *अविद्यायाः उच्छेदस्यैव अभिमतत्वेन इष्टापत्तिः* इति वाच्यं, भगवच्छक्तित्वेन उच्छेदांगीकारस्य अयुक्तत्वात्. दशमस्कन्धे मथुरागमनप्रसंगे अक्रूरदर्शने **''श्रिया पुष्ट्या गिरा कान्त्या कीर्त्या तुष्ट्या इलया ऊर्जया विद्यया अविद्यया शक्त्या मायया च निषेवितम्''** (भाग.पुरा.१०।३९।५५) इति वाक्यात्. तस्मात् प्रतीयमानत्वात् प्रपञ्चस्य असत्त्वम् इति वदतस्तु आविद्यकत्वमेव.

ननु वासनयैव प्रतीयमानत्वेन तत् तथा अस्तु इति चेद् न,

पूर्वोक्तदूषणेनैव परिहृतत्वात्. नच *स्वप्नवत् सत्त्वेऽपि असत्त्वम्* इति वाच्यं, स्वप्नस्य पूर्वानुभूतिविषयविशेषजन्यत्वेन प्रापञ्चिकपदार्थानां वासनया अवभासतः पूर्वम् असत्त्वेन प्रतीत्यसम्भवाद् **''वैधर्म्याच्च न स्वप्नादिवद्''** (ब्र.सू.२।२।२९) इति तत्त्वसूत्रविरोधात् च. तथा सत्यपि ''जगद् असद्'' इति वदन्तो बाह्याएव.

(जगतो अनिर्वचनीयत्वखण्डनं तदनित्यत्वखण्डनं च)

*ननु सदसतोः परस्परं विरुद्धत्वाद् अनिर्वचनीयं जगद्. इदमेव मिथ्यात्वम्. किञ्च श्रुतिरपि तथात्वं ब्रूते **''न इह नाना अस्ति किञ्चन''** (कठोप.४।११- बृह.उप. ४।४।१९) इति. तस्माद् मिथ्यात्वखण्डनम् अयुक्तम्* इति चेद् न, अनिर्वचनीयस्य मिथ्यात्वे प्रमाणाभावात्. उरीक्रियते चेद् ब्रह्मणोऽपि अनिर्वचनीयत्वेन मिथ्यात्वम् आपद्येत. यतो अनिर्वचनीयत्वञ्च निर्वचनीयताराहित्यम्. तथाहि **''अपाणिपादो जवनो ग्रहीता पश्यति अचक्षुः स शृणोति अकर्णः''** (श्वेता.उप.३।१९) इति वचने नवा पाणिपादसहितत्वं नवा अजवनत्वा-ऽग्राहकत्वमिति अनिर्वचनीयत्वमेव. अतएव महाभारते वैशम्पायनसहस्रनामस्तोत्रे **''अणुः-बृहत्, कृशः-स्थूलो, गुणभृद्-निर्गुणो महान्''** (महाभा.१३।१३५।१०३) इति.

किञ्च **''न इह नाना अस्ति''** इति श्रुतिः नहि मिथ्यात्वं वदति किन्तु द्वैतप्रतिषेधम्. यतः **''पुरुषएव इदं सर्वम्''** (पुरु.सू.२), **''स आत्मानं स्वयम् अकुरुत''** (तैत्ति.उप.२।७), **''स वै सर्वम् इदं जगत्''** (महाना.उप.२३।१), **''सर्वं खलु इदं ब्रह्म''** (छान्दो.उप.३।१४।१), **''तत् सत्यम् इति आचक्षते''** (तैत्ति.उप.२।६), विष्णुपुराणे प्रथमे अंशे **''तद् एतद् अक्षयं नित्यं जगद् मुनिवर अखिलम् आविर्भावतिरोभावजन्मनाश-विकल्पवत्''** (विष्णुपुरा.१।२२।६०), गीतायां च **''न असतो विद्यते भावो न अभावो विद्यते सतः''** (भग.गीता.२।१६) इत्यारभ्य **''न कश्चिद् वक्तुम् अर्हति''** (भग.गीता.२।१७) इत्यन्तम्. सूत्रकारोऽपि **''असद् इति चेद् न, प्रतिषेधमात्रत्वाद्''** (ब्र.सू.२।१।७), **''असद्व्यपदेशाद् न इति चेद् न, धर्मान्तरेण वाक्यशेषात्''**(ब्र.सू.२।१।१७), **''सत्त्वात् च अवरस्य''** (ब्र.सू.२।१।७६) इत्यादिना तथैव आह.

*ननु अनिर्वचनीयस्य मिथ्यात्वे प्रमाणाभावाद् इति चेद् न, अनुमानस्य

प्रमाणत्वात्. तथाहि ''जगद् अनिर्वचनीयं सदसद्भ्यां वक्तुम् अशक्यत्वात् शुक्तिरजतवद्''* इति चेद् न, अत्रहि हेतोः साध्याविशिष्टत्वेन अनुमानस्य अप्रयोजकत्वात्. अस्तुवा ''तुष्यतु दुर्जनन्यायेन'' तथापि अनेन अनुमानेन जगतो अनिर्वचनीयत्वं सिध्येद् नतु अनिर्वचनीयस्य मिथ्यात्वम्. नच *यद् उक्तं ''ब्रह्मणोऽपि अनिर्वचनीयत्वेन मिथ्यात्वम्'' इति तद् असद्, अनिर्वचनीयत्वं नाम सदसद्भ्यां वक्तुम् अशक्यत्वं, ब्रह्मणस्तु सत्त्वेन वक्तुं शक्यत्वाद्* इति वाच्यं, **''न सद् न असद् उच्यते''** (भग.गीता.१३।१२), **''न अयं गुणः कर्म न सन् न च असन्''** (भाग.पुरा.८।३।२४) इति गीतापुराणवाक्यैः न ब्रह्मणः सन्मात्रतया प्रतीयमानत्वम् अतः इदमेव तस्य अनिर्वचनीयत्वम्. अतएव **''यतो वाचो...''** इति श्रुतिः.

यत्तु *विष्णुपुराणवचनं प्रवाहनित्यत्वं खलु ब्रूते, नतु जगतः स्वरूपनित्यत्वं, नहि विकारस्य नित्यत्वं सम्भवति, विकारो मिथ्या इति प्रतिपादनाद्, असत्त्वेन अंगीकाराभावात् च न सूत्रविरोधः* इति उक्तं तद् न, प्रपञ्चस्य अलीकत्वेन प्रवाहनित्यत्वासम्भवात्. तथा सति शुक्तिरजतादपि कटककुण्डलाद्युत्पत्त्यापत्तिः च.

किञ्च प्रपञ्चो न विकारो, विचाराक्षमत्वात्. तथाहि कस्य विकारः ? न ब्रह्मणः तस्य अविकृतत्वात्. न इतरस्य त्वन्मते ब्रह्मभिन्नस्य सर्वस्य विकाररूपत्वात्. *ननु ''ब्रह्मभिन्नं सर्वं मिथ्या ब्रह्मभिन्नत्वात् शुक्तिरजवद्'' इति सिद्धिः. तेन ब्रह्मभिन्ननिखिलप्रपञ्चमिथ्यात्वसिद्धिः* इति चेद् न, पक्षतावच्छेदकहेतोः ऐक्येन अंशतः सिद्धसाधनाद् दृष्टान्तासिद्धेः च इति.

(प्रत्यक्षस्य शब्दोपजीवकत्वम् अनुमानस्य च प्रत्यक्षोपजीवकत्वम्. श्रुतेश्च शब्दात्मकत्वात् सर्वोपजीव्यत्वेन बलवत्त्वम्. तत्प्रमाणेनापि जगतो न अनित्यत्वम्)

स्याद् एतद् : *ननु मा अस्तु असत्त्वम् अनित्यत्वमेव अस्तु. तथाहि अनित्यत्वं हि ''ध्वंसप्रतियोगित्वे सति प्रागभावप्रतियोगित्वम्'' इत्याकारकत्वं च जगन्मध्यपातिघटपटादिपदार्थे दृष्टं, ''घटो भविष्यति भूतले'' इत्यादिप्रतीतिबलाद्* इति चेद् न, किन्नाम भावित्वं भूतत्वं वा ? धर्मविशेषएव इति चेद् धर्मस्य धर्मिणि समवायसम्बन्धेन वृत्तिमत्त्वेन अभिन्नत्वात्, तस्य भाविभूतसमवायासत्त्वात्, निराश्रयत्वेन स्थित्यनुपपत्त्या तत्समये तत्स्वीकारस्य

अवश्यवक्तव्यत्वात्. *ननु अन्यथानुपपत्तिभियैव तथात्वं चेत् कालएव सा अस्तु* इति चेद् मा एवं, कालः तथा इति प्रतीतेः दुर्वारत्वात्. एवञ्च सति तत्तत्समयेऽपि धर्मिस्वीकारः आवश्यकः. *ननु घटादेः सदा सत्त्वेन भावित्वादि वक्तुम् अशक्यमिति तत्रापि तथात्वं चेद् विलक्षणकालेऽपि तथाप्रतीतिः दुर्वारा इति तवैव उक्तिः दूषणग्रस्ता* इति चेद् न, तथाहि ''**पुरुषएव इदं सर्वं यद् भूतं यच्च भव्यम्**'' (ऋक्संहि.१०।९०।२) इति श्रुत्या तयोरपि सत्त्वं तदात्मकत्वेन अवगम्यते इति श्रुतिसिद्धम्. तस्यास्तु स्वतःप्रामाण्यम्. तथाच स्वतःप्रामाण्ये तत्संकोचेन धर्मधर्मिणोरपि सत्त्वं यथा मन्तव्यं, तथा एतत्संकोचेनैव तस्मिन् काले अवर्तत अनाविर्भूतः स इत्यपि मन्तव्यम्. तथा सति पदार्थसत्त्वएव 'भावी-भूतः' इत्यादिप्रतीतिः नतु असत्त्वे. अनित्यत्वमपि तत्तत्काले असत्त्वं नतु स्वरूपतो अवर्तमानत्वम्. तस्माद् अस्माकं मते तत्तत्काले अदर्शनमात्रं नतु अनित्यत्वम्.

ननु श्रुतीनां न स्वतःप्रामाण्यं किन्तु ईश्वरोक्तत्वात् तस्य च अनुमेयत्वात्. तथाच श्रुतिप्रामाण्यं ईश्वरोक्तत्वादेव न स्वतः इति चेद् न, एवं शंककस्य अवेदान्तिनो मते मन्वादीनां सर्वज्ञत्वे मानाभावेन पूर्वपूर्वसर्गव्यवहारानुपपत्त्या तदन्यत्वकल्पने गौरवेण च तव सिद्धः चेद् ईश्वरः स प्रयोज्यप्रयोजकरूपेण व्यवहरति ''घटम् आनय गां नय'' इत्यादिरूपेण. सर्वतो बलवती हि अन्यथानुपपत्तिः. ततश्च तत्रत्यो बालः तच्छब्दश्रवणानन्तरं तद्व्यवहारात् संकेतग्रहणं करोति नयनानयनाभ्यां कृतिविषयात्मकम्. ततो 'घटा'दिपदं घटत्वाद्यवच्छिन्ने शक्तम् इत्यपि. तदनन्तरं भूयोदर्शनेन तत्तत्कृतिविषयसादृश्यं वस्तुषु पश्यतीति शब्दोपजीवकत्वम् अध्यक्षस्य इति सिद्धम्. अतएव आधुनिकस्यापि बालस्य ''अयं पिता''-''अयं भ्राता'' इत्यादिवाक्यश्रवणानन्तरं पितरि भ्रातरि पितृत्वेन भ्रातृत्वेन वा दर्शनं ऋते जनन्याः न उपपद्यते. अन्यथा तदसम्भवात्. .एवञ्च तथाविधवह्निधूमज्ञाने क्वचिद् महानसादौ आर्द्रेन्धनसंयोगादिना फूत्कारद्वारा तज्जन्यत्वं तस्मिन् पश्यति. तदनन्तरं ''यो यज्जन्यः स न तद्व्यभिचारी यथा कपालजो घटः'' इति जानन् तत्रापि तज्जन्यत्वेन अव्यभिचारित्वं जानाति. ततश्च कदाचित् पर्वतादौ अनवच्छिन्नमूलं तं पश्यन् तज्जन्यत्वेन अव्यभिचारित्वज्ञानेन वह्निं स्मरति. पूर्वदृष्टसंस्कारस्यापि विद्यमानत्वात्. सैव अनुमितिः इति उच्यते तार्किकैः. तेनच दर्शनोत्तरकालीनत्वेन प्रत्यक्षोपजीवकत्वम् अनुमानस्य इति सिद्धम्. तस्माद् उपजीव्योपजीव्यत्वात् शब्दस्य स्वतःप्रामाण्यं,

कारणान्तरानपेक्षणात्. तथाच शब्दात्मकत्वात् तासां तथात्वं निर्व्यूढम् इति अवेहि.

ननु 'भावी'-'नष्टः' इत्यादिप्रतीतेः का गतिः ? इति चेद् यथाधात्वर्थं स्वीकार्या इत्येव. एवञ्च पदार्थानाम् अदर्शनदशायाम् अनाविर्भूतत्वं तदभिन्ने तदभिन्नत्वम् इति आगतम्, ''अयं भावी''-''अयं भूतः'' इत्यादिप्रतीत्यनुरोधात्. एतेन अनित्यतानुचराणां वर्तमानप्रागभावेत्यादिलक्षणं निरस्तम्. सर्वेषां नित्यत्वात् पूर्वोक्तलक्षणं च. *ननु सर्वस्य नित्यत्वाद् भाविभूतवर्तमानानामपि तथात्वाद् युगपदुपलम्भस्य दुर्निवारत्वम्* इति चेद् मा एवं, भगवदिच्छाधीनत्वात्. तथाहि पृथिवीजलयोः तदात्मकत्वेन एकत्वेऽपि पृथिव्यां गन्धो नतु जले इत्यत्र किं नियामकम्? इच्छैव. तथा अत्रापीति तथात्वेन एकरूपत्वेऽपि न तथा. विष्णुपुराणेच उपपादितम् आविस्तिरोभाववत्त्वं जगतः ''**तद् एतद्...**'' (विष्णुपुरा.१।२२।६०) इत्यनेन. विस्तरस्तु आविर्भावतिरोभाववादे प्रतिपादितः प्रभुचरणैः.

किञ्च भगवतैव उक्तं ''**न असतो विद्यते भावः**'' (भग.गीता.२।१६) इत्यारभ्य, ''**न कश्चित् कर्तुम् अर्हति**'' (भग.गीता.२।१७) इत्यन्तम् उक्तम्. तस्माद् न अनित्यत्वम्.

स्याद् एतद् *ब्रह्मणः एकविधत्वेन जगतः च अनेकविधत्वेन न तद्रूपत्वम्* इति, तद् यथा तथा अवधेहि ''**यतो वा इमानि भूतानि जायन्ते, येन जातानि जीवन्ति, यत् प्रयन्ति, अभिसंविशन्ति**'' (तैत्ति.उप.३।१) इति ''**आनन्दाद्ध्येव खलु इमानि भूतानि जायन्ते, आनन्देन जातानि जीवन्ति, आनन्दं प्रयन्ति अभिसंविशन्ति**'' (तैत्ति.उप.३।२), ''**प्रजापतिः अकामयत 'प्रजाः सृजेय' इति स तपो अतप्यत. स सर्वान् असृजत**'' (तैत्ति.संहि.३।१।१।१), ''**अहं सर्वस्य प्रभवः**'' (भग.गीता.१०।८), ''**यस्य अन्तःस्थानि भूतानि**'' (भग.गीता.८।२२), ''**यथा आकाशस्थितः**'' (भग.गीता.९।६), ''**पिता अहम् अस्य जगतः... गतिः भर्ता प्रभुः साक्षी**'' (भग.गीता.९।१७-१८), ''**मम योनिः महद् ब्रह्म**'' (भग.गीता.१४-।३), ''**जन्माद्यस्य यतः**'' (ब्र.सू.१।१।२) इत्यादि श्रुतिस्मृतिसूत्रैः ब्रह्मणः सर्वकर्तृत्वं समवायिकारणत्वं तदधिकरणत्वं च आगतम्. तथा सति नहि कार्यं समवायिकारणाद् भिन्नं मृद्घटवत्. तथाच घटानाम् अनेकविधत्वेऽपि

मृदः एकविधत्वेऽपि न तद्भिन्नत्वं किन्तु परिणामे तद्रूपत्वमेव, मृद्येव पर्यवसानात्. तथा जगतो अनित्यत्वे ब्रह्मणः च नित्यत्वेऽपि न भिन्नत्वं, ब्रह्मण्येव पर्यवसानात्. अतएव समवायिकारणनाशे कार्यनाशः तस्मात् तदभिन्नम् इति तार्किकाः. इहतु तद्वैपरीत्येनैव व्याप्तिः इति गृहाण. ननु अत्र कोवा परिणामः ? भगवदिच्छाधीनाज्ञाननिवृत्तिरेव. अतएव निवृत्ताज्ञानानां ब्रह्मविदां सर्वं तदात्मकम् इति मतिः. *ननु तर्हि विकार्यत्वं मृद्वद्* इति चेत् स्यादेव, स्याद् यदि समवायिकारणत्वम् अधिकरणत्वमात्रम् इति, ननु एवं कर्तृत्वस्यापि सत्त्वात्. नहि मृदि कर्तृत्वं, जडत्वात्. तर्हि दृष्टान्तवैषम्यम् इति चेद् न, दार्ष्टान्ते दृष्टान्तीययत्किञ्चिद्धर्मग्राह्यत्वात्. अन्यथा मुखेऽपि चन्द्रगतकलंकित्वापत्तिः इति.

यद्वा ''**सवै सर्वम् इदं जगद्**'' (महाना.उप.२३।१), ''**पुरुषएव इदं सर्वम्**'' (पुरु.सू.१), ''**सर्वं खलु इदं ब्रह्म**'' (छान्दो.उप.३।१४।१), ''**ऐतदात्म्यम् इदं सर्वं**'' (छान्दो.उप.६।८।७), ''**वासुदेवः सर्वम्**'' (भग.गीता.७।१९) इत्यादिश्रुतिस्मृतिभिरेव इति सुगमः पन्थाः. अतएव ''**अखण्डं कृष्णवत् सर्वम्**'' (त.दी.नि.२।१८२) इति ''**जगत्कर्ता जगन्मयः**'' (पुरु.सह.ना.१।१०) इति वागधीशचरणैः.

स्याद् एतद् *ब्रह्मणो निर्गुणत्वे अमुष्य सगुणत्वे कथं तद्रूपत्वम्? इति, तथाहि ''**अथात आदेशो 'न'इति-'न'इति**'' (बृह.उप.२।३।६), ''**अस्थूलम् अनणु**'' (बृह.उप.३।८।८), ''**अप्राणो हि अमनाः**'' (मुण्ड.उप.२।१।२), ''**यतो वाचो निवर्तन्ते**'' (तैत्ति.उप.२।४।५), ''**सर्वेन्द्रियविवर्जितं**'' (भग.गीता.१३।१४), ''**न सत् तद् न असद् उच्यते**'' (भग.गीता.१३।१२), ''**अव्यक्तो अयम् अचिन्त्यो अयम्**'' (भग.गीता.२।२-५), ''**सवै न देवासुरमर्त्यतिर्यक्**'' (भाग.पुरा.८।३।२४), ''**अरूपवदेव हि...**'' (ब्र.सू.३।२।१३), ''**प्रकृतैतावत्त्वं हि...**'' (ब्र.सू.३।२।४) इत्यादिश्रुतिस्मृतिपुराणतत्त्वसूत्रैः तथात्वप्रतिपादनात्. युक्तञ्च एतद् यदि एवं न स्यात् तदा अस्मात् सगुणस्य परिच्छिन्नत्वाद् अव्यापकत्वमेव. तस्माद् इदमेव साधु* इति चेद् वयं न सहामहे, विरुद्धत्वात्. तथाहि ब्रह्मणो अलौकिकत्वेन श्रुत्येकसमधिगम्यत्वात् तासाञ्च ''**अस्थूलम् अनणु**'' (बृह.उप.३।८।८), ''**सहस्रशीर्षा पुरुषः**'' (पुरु.सू.२) इत्यादिना उभयविधप्रतिपादकत्वात् परस्पराविरोधाय किम् आदृतम्? उपजीव्योपजीवकभा-

वेन एकतरबाधस्तु वक्तुम् अशक्यः, तत्त्वेनैव तौल्यात्. सन्देहाद् अलक्षणम् इत्यपि तथा, तव शून्यवादप्रवेशापत्तेः. तथा सति तेष्वेव अन्तर्भावेन चारितार्थ्ये किमर्थम् एतावद् गौरवम् अधिकम् अतः तथा इत्यपि अवधारय.

तस्माद् व्याख्यानतो विशेषप्रतिपत्तिः इति मन्तव्यम्. तथाच शृणुष्व आहितः सन्देहवारणार्थं शास्त्राणां प्रवृत्तिः. सच तत्त्वज्ञानादेव. तज्ज्ञानञ्च शास्त्रादेव. तत्रैव सन्देहे उत्तरोत्तरशास्त्रतः तद्गतयुक्तिभिः च व्यवस्था कर्तव्या. तथाहि श्रुतिषु उभयविधप्रतिपादनात् ''किं लक्षणं तद्?'' इति ब्रह्मजिज्ञासायाम् ''**अथातो ब्रह्मजिज्ञासा**'' इत्यनन्तरं ''**जन्माद्यस्य...**'' (ब्र.सू.१।१।१-२) इति अवदत् सूत्रकारएव. अन्यथा जगत्कर्तृत्वं न स्यात् स्वातन्त्र्याभावात्. *ननु औपाधिकपरमेव तद्* इति चेद् न, ''**गौणः चेद् न, 'आत्म'शब्दात्, तन्निष्ठस्य मोक्षोपदेशाद्, हेयत्वावचनात् च**'' (ब्र.सू.१।१।५-७) इतिसूत्रविरोधः. नहि औपाधिकनिष्ठस्य मोक्षः. किञ्च औपाधिकत्वे जीवतुल्यतया प्रत्युत हेयत्वमिति अग्रिमविरोधः. व्यासस्य असर्वज्ञत्वं च तज्जिज्ञासयेति तस्यापि तथात्वं मन्वानो बाह्यएव, तेषां भगवदवतारत्वात्. अतएव ''**अरूपवदेव हि... प्रकृतैतावत्त्वं हि**'' (ब्र.सू.३।२।१४—२२) इति. अयम् अर्थः : रूप्यते इति रूपं व्यवहारविषयः तद्वत् सर्वम्. इदन्तु इतो विलक्षणं, व्यवहारविषयवद् न भवति इति यावत्. इति व्युत्पत्त्या करादि भिन्नं तद्वान् भिन्नः इति लोके यथा, तथा न अत्र किन्तु करादितो अभिन्नम् इत्यपि. तेषामेव तद्रूपत्वाद् रूपस्यापि रूपम्. अन्यथा ''**अरूपमेव हि**'' इति उक्तं स्यात्. *ननु गुणानां कथं तद्रूपत्वम्?* इति चेत् कलय, ''**तत्प्रधानत्वाद्**'' (तत्रैव) इति अग्रिमेण अवगम्यत्वात्. एतेन ''परम्परया ब्रह्मप्रतिपादकत्वात् सगुणनिरूपकाणाम् उपजीवकत्वम्'' इत्यपि निरस्तं, रूपरूपप्रतिपादकत्वात्. तस्य अभेदेन ब्रह्मत्वात् प्रत्युत तासां तथात्वनिषेधम् अग्रेकृत्य प्रतिपादकत्वात्. सर्वथातु सर्वासां तत्प्रतिपादकत्वेनैव सर्वतः उपजीवकत्वमेव. अतएव ''**प्रकृतैतावत्त्वं हि**' इति 'प्रकृते'=लोके यद् 'एतावत्त्वं'=स्थूलत्वादि; अथवा लौकिकम् 'एतावत्त्वं' तदादि तस्य निषेधः. अन्यथा 'प्रकृत'पदस्य 'एतावत्'पदस्य च 'सर्वम्'इत्यर्थकत्वात् 'प्रकृत'-'एतावत्त्वम्' इत्यनयोः एकमेव उक्तं स्यात् प्रयोजनाभावाद् गौरवात् च. एवं सति निर्गुणत्वं लौकिकगुणानधिकरणत्वम् इति आगतम्. अतएव ''**आनन्दमात्रकरपादमुखोदरादिः**'' (?) इति आनन्दमात्रत्वेन लोकभिन्नत्वं करादिमत्त्वेन सगुणत्वम्. *ननु तथात्वे

परिच्छिन्नत्वाद् अव्यापकत्वम् * इति चेद् न, तद्विशिष्टस्यैव तथात्वेन श्रुतिप्रतिपादितत्वात्. तथाहि "**यः पृथिव्यां तिष्ठन् पृथिवीम् अन्तरो, यं पृथिवी न वेद, यस्य पृथिवी शरीरं, यः पृथिवीम् अन्तरो यमयति, स त आत्मा अन्तर्यामी अमृतः**" (बृह.उप.३।७।३) इति "**सहस्रशीर्षा पुरुषः सहस्राक्षः सहस्रपात् स भूमिं विश्वतो वृत्त्वा अत्यतिष्ठद्**" (पुरु.सू.१) इत्यादिना. अतएव "**प्राकृतधर्मानाश्रयम् अप्राकृतनिखिलधर्मरूपम् इति निगमप्रतिपाद्यं यत् तत् शुद्धम्**" इति अग्निकुमारैः.

* ननु श्रुत्युक्तत्वेनैव तथात्वम् इति ब्रूषे तर्हि तदुक्ताः तेऽपि लौकिकाएव * इति चेद् न, अहो श्रुतिप्रामाण्यवादिता! पूर्वोक्तश्रुतिप्रणीतानेकलक्षणलक्षितो लोके व्यापकत्वेन कश्चिद् दृष्टः चेद् ममापि उपदर्शय!

* ननु अप्रसिद्धानपि बोधनार्थं निषेधति सा * इति चेद् न, जगदप्रतीतेः. तथाहि धर्मप्रतिपादकश्रुत्यनुरोधेन धर्मान् आरोप्य निषेधति इति तव अभिमतं, नहि तच्छ्रुतिसिद्धं यद् आरोप्य निषेधति. नच * लोकसिद्धमेव तद् अनूद्य निषेधति * इति वाच्यं, तव एवं वदतोव्याघाताद् बाधितविषयत्वापतेः च. "**प्रक्षालिताद् हि**" इति न्यायात् च, अन्योन्याश्रयात् च. एतेन निर्धर्मकत्वं लौकिकधर्मराहित्यम् इत्यपि ज्ञेयम्. तस्माद् अनेन पथा निर्गुणत्वं सगुणत्वं व्यापकत्वं च ब्रह्मणः.

यद्वा "**तद् एजति तद् न एजति तद् दूरे तदु अन्तिके**" (ईशा.उप.५), "**अपाणिपादो जवनो ग्रहीता**" (श्वेता.उप.३।१९), "**अणोः अणीयान् महतो महीयान्**" (कठोप.१।२।२०), "**असक्तं सर्वभृत् चैव निर्गुणं गुणभोक्तृ च बहिः अन्तः च भूतानाम् अचरं चरमेव च**" (भग.गीता.१३।१४), "**आकाशमिव केवलं**" (भाग.पुरा.१०।६३।३४), "**नाभिः नभो अग्निः**" (भाग.पुरा.१०।६३।३५) इत्यादि-श्रुतिस्मृतिपुराण-वाक्योक्त-विरुद्धसर्व-धर्मा-धारत्वेनापि. अतएव "**अनन्तमूर्ति तद् ब्रह्म हि अविभक्तं विभक्तिमद्**" (त.दी.नि.१।२६) इति श्रीमदाचार्यैः. एतेन लौकिकालौकिकत्वेनापि एतच्छङ्का निरस्ता, सर्वस्य तद्रूपत्वात्. तथाच अस्मिन् भगवद्बुद्धिविपरीतबुद्धिमत्त्वमेव लौकिकत्वम् इति जानीहि. एतदपि त्वत्समाधानाय वस्तुतस्तु सर्वसामर्थ्यसहिते सर्वरूपब्रह्मणि न कोऽपि विरोधो, "**नहि विरोधः उभयं भगवति**" (भाग.पुरा.६।९।३६) इति सूत्रकारोक्तत्वात्. विस्तरस्तु विद्वन्मण्डने अनुसन्धेयः

इति दिक्.

ब्रह्मरूपे प्रपञ्चेऽस्मिन् वादिना परिकल्पिता ।।
स्वभ्रमात् कियती शंका यथामति निवारिता ।।३।।
विभाव्य दूषणीयं चेत् सन्तोषं प्राप्स्यसे बुधः ।।
अन्यथा मम का हानिः परं सा यास्यति त्वयि ।।४।।
श्रीविठ्ठलपदसरसिजनतिततिमुक्ताखिलाज्ञानः ।।
विद्वन्मण्डनसरणिः अचीक्लृपद् गिरिधरः किञ्चित् ।।५।।
एतेनास्मत्पतिः योऽस्ति प्रभुः श्रीद्वारकेश्वरः ।।
सएव हि प्रसन्नोऽस्तु किं वृथा बहुभाषणैः ।।६।।

इति श्रीमद्गोस्वामी श्रीगिरिधरविरचितः प्रपञ्चवादः सम्पूर्णः

वादावल्यां

॥ ब्रह्मवादः ॥*

(मंगलाचरणेन विषयोपक्रमः)

विशेषैः प्राकृतैः शून्यम् अप्राकृतविशेषवत्॥
अशेषोपनिषद्वेद्यं परं ब्रह्म वयं स्तुमः॥१॥

(ब्रह्मणः प्राकृतविशेषरहितत्वे सति अप्राकृतविशेषवत्त्वे शंकोपक्षेपः)

*ननु कोऽयम् अपूर्वः प्रस्तावः? नच *कथम् अस्य अपूर्वत्वम्? निखिलप्रमाणसिद्धत्वाद्* इति वाच्यं, सर्वागमविरुद्धत्वात्. तथाहि **''सर्वं खलु इदं ब्रह्म. तज्जलान् इति''** (छान्दो.उप.३।१४।१), **''एको अहं बहु स्याम''** (?), **''स ह एतावान् आस''** (बृह.उप.१।४।३), **''अहं सर्वस्य जगतः प्रभवः प्रलयः तथा''** (भग.गीता.१०।८), **''जन्माद्यस्य यतः शास्त्रयोनित्वात्''** (ब्र.सू.१।१।२) इत्यादिश्रुतिस्मृतिसूत्रैः सर्वस्यापि जगतो ब्रह्मात्मकत्वे अवधारिते तदन्तःपातिनामपि तेषां तत्त्वमेवेति कथं विशेषाणां प्राकृतत्वम्? कथंवा तन्निषेधः* इति चेत्

(श्रुतिसूत्रपुराणादिवचनानां स्वारसिकव्याख्यानेन तन्निरासः)

सत्यम्! **''सवै नैव रेमे तस्माद् एकाकी न रमते. स द्वितीयम् ऐच्छत्''** (बृह.उप.१।३।३), **''अहं बहु स्याम''** (?) इति श्रुत्येकवाक्यतायां

* उपलब्धासु सर्वासु मातृकासु, ग्रन्थकर्त्रा वा लिखितेषु अनुलिपिकर्त्रा वा कल्पितेषु, वाक्यानाकांक्षितपदवाक्यानां वाक्येषु प्रयोगातिरेकेण अभिप्रायबोधे अतीवकाठिन्यम् अनुभूय ग्रन्थकर्तुश्च सुवैदुष्यपूर्णविषयोपन्यासं च समवधार्य क्वचित्-क्वचिद् अनपेक्षितपदवाक्यानां संक्षेपणसंशोधनपरिवर्तनानि कृतानि इति विज्ञापयन् क्षम्यो हि अयं सम्पादकः.

रमणार्थमेव नामरूपवैचित्र्येण स्वाविर्भविच्छां कृतवान् इति अर्थो लभ्यते. वैचित्र्यञ्च उच्चावचत्वकृतं, तच्च न्यूनाधिकांशम् अन्तरा न सम्भवतीति अनन्तशक्तित्वात् सच्चिदानन्दांशानेव यथानुरूप्येण तिरोभाव्य जडजीवान्तर्यामिरूपेण स्वयं प्रादुर्भूतः **''यथा सुदीप्तात् पावकात्''** (मुण्ड.उप.२।१।१) इति मुण्डकश्रुतेः. आविर्भावस्तु विद्यमानस्य वस्तुनो अनुभवविषयतायोग्यत्वं तदयोग्यत्वं च तिरोभावः. अत्र अनुभवस्तु जैवो ग्राह्यो जीवान्तर्यामिसाधारणो वा.

तत्र तिरोहितचिदानन्दत्वे जडत्वं तिरोहितानन्दत्वे जीवत्वम्. प्रतिबिम्बत्वादिरूपमपि इदमेव ज्ञेयम्. आविर्भूतानन्दत्वे ब्रह्मत्वम्. तदेतद् उक्तं **''आभासप्रतिबिम्बत्वम् एवं तस्य''** (त.दी.नि.१।५७) इत्यादिना आचार्यचरणैः निबन्धे. अतिरोहितसच्चिदानन्दांशत्रयत्वम् अन्तर्यामित्वम् इति. एवमेव 'भग'शब्दवाच्यानाम् ऐश्वर्यादिषण्णामपि धर्माणां तिरोभावम् अविद्यासम्बन्धेन जीवे कृतवान्. तथैव बन्धो जन्ममरणदेहादिरागरूपं विपरीतज्ञानं च अविद्ययैव **''बन्धो अस्य अविद्यया''** (भाग.पुरा.११।११।४) इति वाक्याद् जीवस्यैव न अन्ययोः प्रयोजनाभावात्. **''पराभिध्यानात्तु तिरोहितं ततो हि अस्य बन्धविपर्ययौ''** (ब्र.सू.३।२।५) इति वैयाससूत्रादपि तथा. जडेतु चित्तिरोभावादेव ऐश्वर्यादीनामपि तथा, चेतनधर्मत्वात् तेषाम्. तथाच एतादृशस्य जीवस्य ब्रह्मस्वरूपे तद्धर्मेषु च विपरीतज्ञानम् आविद्यकं हि भवति. तच्च जडजीवरूपे ब्रह्मणि अब्रह्मत्वेन ज्ञानम्. इदमेव स्वरूपाज्ञानम्. सत्यत्वाद्यनेकालौकिकधर्मेषु च असत्यत्वविकारित्वाद्यनेकलौकिकधर्मत्वेन ज्ञानम्. एवञ्च सति अविद्यासम्बन्धेन विषयीकृताः लौकिकाः ये जडजीवधर्माः तएव प्राकृतविशेषाः तेषाम् अनाश्रयत्वात् तैः शून्यम् इति अर्थः. प्रकृतिसम्बन्धसहकृतेन्द्रियज्ञानविषयत्वं प्राकृतत्वम् इति लक्षणं सिद्धम्.

प्रमाणञ्च अत्र निषेधिकाः श्रुतयएव. अयञ्च बाधो अप्राप्तबाधः तार्तीयो[१] न अत्र दाशमिको न्यायः[२]. **विशेषैः प्राकृतैः शून्यम्** इत्येतेन पदेन निषेधश्रुतयोऽपि, निषेधविषयाः प्राकृताः विशेषाः इति विषयप्रदर्शनमुखेन,

[१] तार्तीयो बाधः अप्राप्तबाधः इति अर्थः. सच दुर्बलप्रमाणबोधितस्य प्रबलप्रमाणेन बाधरूपः पूर्वमीमांसासूत्रेषु तृतीयाध्यायोक्तः. [२] दाशमिको न्यायः पूर्वमीमांसासूत्रेषु दशमाध्याये प्रथमपादे उपपादितः. इति आद्यसम्पादकीयम्.

व्याख्याताः ज्ञेयाः. यद्यपि एतादृशेन निषेधेनैव वक्ष्यमाणार्थसिद्धिः तथापि विशेषात्वावच्छिन्नस्य प्राकृतत्वात् तदितरधर्माणां च अप्रसिद्धेः विधायकश्रुतेः च अन्यपरत्वाद् निर्विशेषमेव ब्रह्म सिध्यति इति मतान्तरव्युदस्तये विशेषणान्तरम् आह **'अप्राकृत...'** इति, न प्राकृताः अप्राकृताः प्रकृतिसम्बन्धसहकृतेन्द्रियाविषयाः. इदृग्विशेषवद् इति अर्थः. प्रमाणञ्च अत्र पूर्वोदाहृतश्रुत्यादि आकलनीयम्.

(ब्रह्मणो गुणधर्माणां मायिकत्वेनापि शास्त्रवचनव्याख्यानस्य शक्यत्वेन उक्तार्थानुपपत्तिपरिहारौ)

* ननु पूर्वोदाहृतश्रुत्यादिप्रतिपादितधर्माणामपि मायिकत्वात् कथं तथात्वम् * इति चेद् मा एवं, तेषां मायिकत्वे प्रमाणाभावात्. * ननु निषेधश्रुत्यनुरोधाद् मायिकत्वं कल्प्यते! * इति चेद् न, निषेधश्रुतेः प्राकृतविषयत्वाद्. अन्यथा **पाणिपादादिमत्त्वं** निषिध्य **''जवनो...''** इत्यादिना **''परा अस्य शक्तिः''** (श्वेता.उप.६।८) इत्यादिना च कृतस्य क्रियाज्ञानविधानस्य वैयर्थ्यापत्तेः.

(ब्रह्मणो हि उपासनार्थं गुणधर्मकल्पना इति आशंकायाः निरसनम्)

* ननु अन्तःकरणशुद्धिहेतूपासनार्थत्वात् तेषां न वैयर्थ्यम्, **''अपाणि...''** इत्याद्युक्तनिर्विशेष स्य ध्यातुम् अशक्यत्वात्. नच * उपासनार्थम् अलौकिकानामेव तेषां विधानम् * इति वाच्यं, लोकप्रसिद्धत्वेन तेषां लौकिकत्वात् * इति चेद् नैवं, पादादिसाधनरहितजवनादिक्रियायाः अलौकिकत्वात्. स्वरूपज्ञापनार्थं निर्धर्मकत्वविधानम् — उपास्त्यर्थन्तु धर्मविधानमिति वाक्यभेदापत्तेः, भ्रान्तिप्रतिपन्नविषयवैशिष्ट्येन उपासनया तच्छुद्धेरेव अजननात् च. **''अन्यथा सन्तम्...''** (तत्रैव) इत्यादिनिन्दाश्रावणात् च.

नच * असतोऽपि वैशिष्ट्यज्ञानं शाखाचन्द्रन्यायेन स्वरूपावगतिसाधनमिति न एतद्दोषावसरः * इति वाच्यं, दृष्टान्तवैषम्यात्. नहि शाखावद् ब्रह्म प्रत्यक्षं यस्मिन् चन्द्रइव धर्माः आरोप्यन्ते. नापि पाणिपादादिराहित्येऽपि जवनगृहीतृत्वादयो धर्माः क्वचित् प्रत्यक्षाः. तथाच अधिष्ठानाधिष्ठेययोः उभयोरपि

अप्रत्यक्षत्वाद् न दृष्टान्तबलेन तत्सिद्धिः. एतेनैव आकाशदृष्टान्तोऽपि निरस्तः. किञ्च आरोपो हि अन्यधर्मस्य अन्यत्र स्थापनम्, इत्थञ्च सति स्वनिरूप्यधर्माणां लोकाप्रसिद्धतया अन्यदीयत्वाभावाद् आरोपलक्षणासंगतेः न आरोपोऽपि वक्तुं शक्यः. अतएव न निषेधविषयत्वमपि तेषां प्रतीतस्यैव निषेधात्. नच * लोके अस्मद्दृग्विषयत्वेऽपि श्रुतिदृष्टिगोचरत्वेन आरोपनिषधौ न अनुपपन्नौ * इति वाच्यं, लोके मूर्तामूर्तविलक्षणरूपसत्त्वे **''द्वे वाव...''** (बृह.उप.२।३।१) इति श्रुतिविरोधात्. नच * इदम् अस्मज्ज्ञानानुवादः * इति वाच्यं, तथापि तयोः अनुपपत्तेः. तथाहि किं श्रुतिः दोषदृष्टदृष्ट्या शुक्तिरजतवद् इत्थं तान् विषयीकरोति अथवा गुणदृष्ट्या रजते रजतत्ववत्? न आद्यः, स्वधर्मिव्यतिरिक्ते रजतत्ववद् अन्यत्र अदर्शनाद् तद्भ्रमानुपपत्तेः. नच अविद्यावशाद् अस्मदादिजीवेष्विव विपरीतज्ञानं श्रुतिषु वक्तुं शक्यं तत्र अविद्यासम्बन्धानुक्तेः. द्वितीये तन्निषेधानुपपत्तेः. ब्रह्मणः सदेकरसत्वाद् न अवस्थाभेदः.

किञ्च उपासनार्थम् असदुपदेशे प्रतारकत्वापत्तेः. उपासनार्थत्वेतु तेषां सर्वतः पाणिपादत्वादिधर्माणां ब्रह्मवद् अलौकिकत्वेन मनसापि आकलयितुम् अशक्यत्वेन तद्वत्त्वेन तदुपासनायाएव असिद्धेः तन्निरूपणानर्थक्यापत्तेः च निराकारोपासनावत् साकारोपासनस्यापि अशक्यतया भक्षितेऽपि लशुने न शान्तो व्याधिः इति दोषतादवस्थ्यात् च.

(उपासनास्वरूपविचारः)

* ननु उपासनायां हि वैशिष्ट्यज्ञानम् अपेक्षितं तच्च ''नद्याः कच्छे गाः चरन्ति'' इतिवत् ''सौन्दर्यस्य तरंगिणी'' इत्यादिवद् वा तद्विषयकं श्रौतं शाब्दम् अस्त्येव तेनैव च निराकांक्षा सा न तत्साक्षात्कारम् अपेक्षते इति न अनर्थकं वाक्यम् * इति चेद् न एतद् युक्तं, तथाहि उपासना हि किम् इच्छा क्रिया ज्ञानविशेषो वा? तत्र न आद्यः, सा किं तावद् धर्मविशिष्टस्य दर्शनेच्छा, तत्प्राप्तीच्छा वा, तज्जिज्ञासा वा? तिसृणामपि वस्तुतो निर्गुणे ब्रह्मणि त्वन्मते असम्भवात्. न द्वितीयः, सापि किं

तदुद्देश्यिका होमदानादिरूपा क्रिया किंवा द्रव्याद्युपचारैः तदर्चनादिरूपा? आद्ये तादृशविधेरेव असम्भवाद् न सा. द्वितीये अनिर्दिश्ये तदसम्भवाद् न तद्रूपापि सा. तृतीयेतु मननरूपं तद् वक्तव्यं तथा सति निर्गुणब्रह्ममननस्यापि शक्यत्वेन तद्वैशिष्ट्यज्ञानम् अकिञ्चित्करमेव, नियमेन तत्करणत्वाभावात्. *ननु न अकिञ्चित्करत्वं, बुद्धिस्थैर्यद्वारा निर्गुणमननार्थमेव तन्मननांगीकाराद्* इति चेद् न, सविशेषमननवद् निर्विशेषमननेऽपि तत्प्रतिपादकवाक्यार्थबोधातिरिक्तसाधनान्तरानपेक्षणात्. दृश्यतेऽपि इदानीन्तनपरिव्राजकेषु विनैव उपासनां ततएव मननम्.

(ब्रह्मणो हि उपासनार्थं मायिकगुणधर्मत्वसम्भावनाप्रसक्तौ मायिकत्वस्वरूपविचारः)

अथ *मायाजन्यत्वमेव मायिकत्वम्* इति चेत्, तत्र ब्रूमः : मायायाः समवायित्वम् असमवायित्वं निमित्तत्वं वा? न आद्यः, मायाधर्मत्वापत्तेः, समवेतानां समवायिधर्मत्वात्. न द्वितीयः, समवायिकारणे ब्रह्मणि कार्यैकार्थ-कारणैकार्थ-प्रत्यासत्त्योः अभावात्. तृतीयेतु दण्डचक्रादिवत् मायानिमित्तकधर्मवति ब्रह्मणि वस्तुतः तादृशधर्मसिद्ध्या निर्विशेषासिद्धेः. किञ्च दण्डादिवद् मायायाअपि कर्तृप्रयोज्यत्वनियमेन कर्तुः प्रयोजकत्वस्य अवश्यंवाच्यत्वेन तस्य च मायासम्बन्धात् पूर्वमपि सत्त्वावश्यकत्वाद् धर्माणां मायिकत्वासिद्धेः च.

(ब्रह्मगुणधर्माणां मायिकत्वोक्त्या मायास्वरूपविचारः)

अथ उपरागस्नानवद् जन्यता अस्तु तत्रापि उच्यते : तदा सा माया नित्या उत कादाचित्की? नित्यत्वे अद्वैतहानिः तन्नित्यत्वेन धर्माणां चापि नित्यत्वापत्त्या निषेधानुपपत्तिः च. मायायाः कादाचित्कत्वेतु धर्माणां सनिमित्तकत्वेन ब्रह्मणि धर्मसद्भावोऽपि कादाचित्कएव स्यात्, तेन निर्धर्मकब्रह्मज्ञानस्य मुक्त्यर्थं अपेक्षायाः नैरर्थक्यापत्तिरपि.

(मायायाः अनादिसान्ततानिरसनानुषंगिकं प्रागभावनिरसनम्)

ननु अस्तु प्रागभाववद् अनादिसान्तत्वपक्षः तृतीयः इति चेद्

न, अनादित्वे प्रमाणाभावात्. *ननु सादित्वस्य अदृष्टत्वादेव अनादित्वम् अनुक्तसिद्धमेव **"बन्धो अस्य अविद्यया"** (भाग.पुरा.११।११।४) इति वाक्यात् च तथा* इति चेत्, सत्यम्, यद्यपि अस्मदादिदृष्टं न सादित्वं तथापि न अनादित्वं तत्त्वे ब्रह्मतुल्यतापत्तेः. तथापि **"न तत्समः..."** (श्वेता.उप. ६।८) इति श्रुतिविरोधः **"सदेव... एकमेवाद्वितीयम्"** (छान्दो.उप.६।२।१) इत्यादिश्रुतिविरोधः च. नच *सान्त्वाद् न तत्तौल्यम्* इति वाच्यं, सर्वथा अनादिसिद्धस्य सान्तत्वाभावाद् ब्रह्मवद् जन्यस्यैव भावस्य सान्तत्वनियमात्. नच *प्रागभावदृष्टान्तो अत्र उक्तो* युक्तः, एतन्नियमानंगीकारेतु एतद्दृष्टान्तबलेन आत्मनोऽपि सान्तत्वापत्त्या दृष्टान्तस्यापि असिद्धेः. *ननु "इह कपाले घटो भविष्यति" इति प्रतीत्यन्यथानुपपत्तिसिद्धः सः* इति चेद् न एवं, भविष्यत्कालावच्छिन्नघटसत्ताविषयत्वात् प्रतीतेः. स्याद् एतत् : "इह कपाले नेदानीं घटः" इति प्रतीतिबलात् तत्सिद्धिः, नहि अयम् अत्यन्ताभावं ध्वंसं वा अवगाहते, पूर्वस्य नित्यसिद्धत्वाद् द्वितीयस्यतु केनापि अकरणात्. अतः परिशेषात् प्रागभावसिद्धिः* इति, यदि तिरोभावावगाहित्वं एतत्प्रत्ययस्य न स्यात्. नहि तिरोभावः प्रागभावो ध्वंसेऽपि तिरोभावप्रतीतेः.

(प्रसक्तानुप्रसक्ततया अभाववादनिरसनेन आविर्भावतिरोभाववादस्थापनम्)

ननु कः तर्हि अयं तिरोभावः? अत्र ब्रूमः : विद्यमानस्य वस्तुनो दर्शनायोग्यत्वं तत्. तच्च भगवदैच्छिकम्.

ननु ईश्वरेच्छायाः नित्यत्वेन सिसृक्षासञ्जिहीर्षयोरपि नित्यत्वेन तयोरपि नित्यत्वापत्त्या उभयोरपि नित्यानुवृत्तिरिति तयोः एकवस्तुविषयत्वेन तत्सर्गप्रलययोः नित्यत्वापत्त्या तयोः अन्यतरस्यापि अशक्यनिरूपणापत्तिः. अथवा "न इदानीं घटः" इति प्रत्ययो अत्यन्ताभावविषयो अस्तु. नच 'इदानीम्' इत्यस्य अनुपपत्तिः, तस्य नित्यत्वाद् इति चेद् न, त्वन्मतीयप्रागभावस्यापि तदानीम् उत्पत्त्यभावेन तदनुपपत्तेः तौल्याद् अनादित्वभंगप्रसंगात् च; ध्वंसे अपसरणे

च तथा प्रतीतेः च. *ननु तर्हि घटोत्पत्तावपि तादृगभावप्रत्ययापत्तिः* इति चेद् न, घटवत्ताबुद्धेः प्रतिबन्धकत्वात्. किञ्च घटात्यन्ताभावस्य घटत्वावच्छेदकावच्छिन्नप्रतियोगिताकत्वाद् एतद्घटात्यन्ताभावस्यापि तत्रापि सत्त्वात् तद्विषयकत्वेनैव तादृशप्रतीत्युपपत्तेः न तदनुरोधेन अतिरिक्ताभावकल्पना युक्ता गौरवात्.

ननु तर्हि तादृशाभावस्य नित्यत्वाद् घटानुत्पत्तिप्रसंगइति घटान्तरीयात्यन्ताभावएव, नतु एतद्घटात्यन्ताभावः तत्र इति तस्यैव परिशेषात् सिद्धिः, फलमुखगौरवस्य अदुष्टत्वात्. तद्वत्ताबुद्धेः तदभाववत्ताबुद्धिप्रतिबन्धकत्वात् घटोत्पत्तिनिर्वाहः च इति चेद्, नात्र प्रतीतिमात्रस्य विचारः किन्तु उत्पत्तेरपि. एवं सति प्रतिबन्धकीभूतस्य प्रागभावस्य उत्पत्तेः प्राक् अनादिसिद्धतया सत्त्वेन घटोत्पत्तेरेव वक्तुम् अशक्यत्वेन तद्वत्ताबुद्धेरेव अनुदयात्. अन्यथा वायौ रूपाद्युत्पत्तिप्रसंगाद्. घटत्वसामानाधिकरण्येन तत्र तदभावग्रहणे घटत्वावच्छेदकावच्छिन्नानां सर्वेषां कार्यत्वेनैव उत्पत्तिमत्तया तदभावस्य त्रैकालिकत्वासिद्धेः तदत्यन्ताभावासिद्धिप्रसंगात्.

स्याद् एतत् : *पूर्वं ''घटाभाववद् भूतलम्'' इति बुद्धिः. तत्रच घटे आनीते ''घटवद् भूतलम्'' इति बुद्धिः. तत्र न तदभावबुद्धिः, तद्बुद्धिप्रतिबद्धत्वात्. तथाच प्रतिबध्यबुद्ध्यन्यथानुपपत्त्यैव तत्सिद्धिः ध्वस्तइति बुद्ध्यभावाद् न ध्वंसो विषयः* इति, किन्तु तत्र घटबुद्धिसामानाधिकरण्येन घटाभावग्रहः किंवा तदवच्छेदेन? आद्ये यत्किञ्चिद्घटवत्ताबुद्धिप्रसंगः. द्वितीयः चेत् सर्वत्रापि सएव अस्तु कृतं तत्सामानाधिकरण्येन तदभावप्रयासेन. नच तस्य तत्प्रतिबन्धकत्वं घटरूपेण आविर्भाविवेच्छयाम् अभावग्रहणरूपस्य तिरोधानात् सर्वस्यैव व्यवह्रियमाणत्वात् सर्वव्यवहारार्थमेव तत्प्राकट्यात्. नच *एवं विद्वन्मण्डनोक्ते अनित्यत्वलक्षणे दोषः* स्यात्, तत्र उभयोः तयोः त्वद्रीत्यैव निरूपणेन दोषप्रदर्शनार्थत्वात्. वस्तुतो अभावप्रतियोगित्वं तत्त्वम्, इत्यत्रैव तात्पर्यात्. नच एवं ब्रह्मणो अनित्यत्वप्रसंगः तयोः कार्यधर्मत्वात्.

(प्रकृतविषयस्य प्राकृतविशेषरहित्वे सति अप्राकृतविशेषवत्त्वस्य

अनुसन्धानम्)

प्रकृतम् अनुसरामः : तथाच धर्माणां मायिकत्वाभावात् सिद्धम् अप्राकृतधर्मत्वं ब्रह्मणः. अत्रैव हेतुगर्भविशेषणम् आह **'अशेषोपनिषद्वेद्यम्'** इति, न विद्यते विशेषो यासु ताः (अशेषाः), ततः कर्मधारयः (अशेषाः ताः च उपनिषदः) ततः तत्पुरुषः (ताभिः वेद्यम् अशेषोपनिषद्वेद्यम्. सर्वोपनिषत्प्रतिपाद्यम् इति अर्थः. अस्य तत्त्वन्तु इत्थं बोध्यं : यदि धर्माः प्राकृताः स्युः तर्हि तद्विशिष्टं ब्रह्म न भवेत्. तथा सति प्राकृतधर्मप्रतिपादकवेदान्तानाम् अब्रह्मपरत्वे **''सर्वे वेदाः यत्पदम्''** (कठोप. २।१।१५) इत्यादिवाक्यानि व्याकुप्येरन्, औपनिषदत्वमपि प्राकृततत्त्वसाधारणं स्यात्. अतः ईदृशवाक्यान्यथानुपपत्तिरेव विशेषाणाम् अप्राकृतत्वं साधयति इति सुधिभिः अवसेयम्.

अथ *इयं न दूषणसंगतिः अतात्त्विकभेदोररीकरणात्* इति चेद्, न एवं वक्तुं युक्तं, तथाहि अतात्त्विकत्वं हि औपाधिकत्वम् आयुष्मता वाच्यम्. तत्र उपाधिः मायैव तत्र सा किं सर्वं ब्रह्म व्याप्नोति उत एकदेशम्? आद्ये अभिव्याप्तेरेव असम्भवः, परिच्छिन्नएव तत्सम्भवात्. उत्तरे सांशत्वापत्तिः, **''असंगो हि अयम्''** (बृह.उप.४।३।१५) इत्यादिविरोधः च.

ननु 'घटावच्छिन्नः आकाशः' इति आकाशवद् मायावच्छिन्नत्वेऽपि न सांशत्वापत्तिः इति चेद् मा एवं, वैलक्षण्येन तस्य दृष्टान्तत्वासिद्धेः, तस्य कार्यत्वेन सांशत्वात्. नच सांशत्वे ग्राह्यतापत्तिः, वायुवद् अग्राह्यत्वात्. *ननु क्वचिद् वायोरपि ग्राह्यत्वं निरूप्यते* इति चेद् न, द्व्यणुकस्य ग्राह्यतापत्तेः. *ननु अयोग्यत्वाद् न तद्ग्रहः* इति चेद्, अत्रापि तथा. महत्त्वाभावनिबन्धनं हि तत्र अयोग्यत्वम्. अत्रापि स्पर्शाभावनिबन्धनं तदिति समःसमाधिः.

नच *सांशत्वे तन्नाशापत्तिः* इति वाच्यम्, इष्टापत्तेः. अन्यच्च अवच्छेदकं हि व्यवच्छेदकं, यथा घटत्वं पटाद् व्यवच्छेदकं तथा अत्रापि घटाद्युपाधिरूपम् अवच्छेदकं महाकाशाद् अंशिनः स्वानुरूपं स्वल्पाकाशरूपम्

अंशं परिच्छिनत्तीति 'घटावच्छिन्नः आकाशः' इति प्रत्ययस्तु उपपन्नः. ब्रह्मणितु तथा वक्तुम् अशक्यत्वात् कथं मायावच्छिन्नता इति अवधार्यम्.

(तत्र मायाब्रह्मणः प्रसक्तानुप्रसक्तः सम्बन्धविचारः)

किञ्च ब्रह्ममाययोः कः सम्बन्धः ? न तावत् संयोगो अजसंयोगनिषेधात् संयोगलक्षणाभावात् च. तयोः अन्यतरस्थितेः अनाश्रितत्वाद् उभयोः न समवायः. नापि स्वरूपलक्षणो विशेषणविशेष्यादिभावाभावेन तस्य वक्तुम् अशक्यत्वात्. *ननु अस्त्येव विशेषणविशेष्यभावो दोषाभावाद्* इति चेद्, न एवं शक्यं वक्तुं, तथाभावे ब्रह्मणः सधर्मकत्वापत्तेरेव दोषत्वात्.

अथ *कर्तृत्वादिवद् विशेष्यत्वमपि मायिकम् इति न तदापत्तिः वास्तवत्वाभावाद्* इति चेद् न विकल्पासहत्वात्. तथाहि तत्र मायिकत्वं मायाजन्यत्वं, मायासम्बन्धेन प्रतीयमानत्वं वा ? आद्ये ब्रह्मणः सधर्मकत्वापत्तिः सदैकरसत्वव्याघातः च. द्वितीये "**असंग...**"(बृह.उप.४।३।१५)श्रुतिविरोधः.

ननु न ब्रह्मणि मायासम्बन्धं ब्रूमो अपितु जीवे. तथाच जीवनिष्ठया तया दोषरूपया विचित्राः धर्माः प्रत्याय्यन्ते, आरक्ताद्युपनेत्रवद् इति चेद् न, जीवस्य ब्रह्माभिन्नत्वेन तथा वक्तुम् अशक्यत्वात्, तासदृशोपनेत्रवद् मायायाः तद्धर्मत्वापत्तेः च. तथाच मायासम्बन्धस्य वक्तुम् अशक्यत्वेन औपाधिकभेदासम्भवाद् अप्राकृतानेकधर्मवत्तया सर्वोपनिषद्वेद्यत्वं सिद्धं ब्रह्मणः इति दिक्.

(मंगलाचरणोक्तस्य 'परम्' इति विशेषणस्य उपपादनोपसंहारौ)

उक्तविशेषणविशिष्टं वस्तु विशेष्यत्वेन निर्दिशति 'परम्' इति. सामान्येन परत्वस्य इन्द्रियादिष्वपि "**इन्द्रियाणि पराणि आहुः**" (भग.गीता.३।४२) इति वाक्ये.. अतः 'ब्रह्म' इति सर्वेभ्यो यत् परं तद् ब्रह्म इति अर्थः. नच *ब्रह्मत्वेनैव परत्वे प्राप्ते 'पर'पदानर्थक्यम्* इति वाच्यम्, इन्द्रियादिपरत्वस्य ज्ञेये ब्रह्मण्यपि सत्त्वात् ततोऽपि परत्वेन सार्थक्यात्.

*ननु "**महतः परम् अव्यक्तम्, अव्यक्तात् पुरुषः परः, पुरुषाद् न परं किञ्चित्, सा काष्ठा सा परा गतिः**" (कठोप.१।३।११) इति श्रुत्या "**इन्द्रियाणि पराणि आहुः**" (भग.गीता.३।४२) इति स्मृत्या च ब्रह्मभिन्नस्य परत्वाभावात् कथं तत्परत्वम्* इति चेद्, अत्र उच्यते : उक्तश्रुतिवाक्ये 'पुरुष'पदं न परब्रह्मवाचकं किन्तु अक्षरब्रह्मपरम्. स्मृतेश्च तदनुयायित्वात् तत्रापि 'बुद्धि'पदेन अक्षरं ब्रह्मैव ज्ञेयम्. नच अत्र प्रमाणाभावः "**द्वौ इमौ पुरुषौ लोके क्षरः च अक्षरएव च**" (भग.गीता.१५।१६) इति प्रमाणसद्भावात्. तथाच "**द्वौ इमौ...**" इति वाक्यानुरोधात् क्षरस्य परत्वासम्भवाद् अक्षरपरमेव तत्र 'पुरुष'पदम्. "**उत्तमः पुरुषस्तु अन्यः**" (भग.गीता.१५।१६) इति 'परमात्म'पदेन तत्पृथक्परब्रह्मनिर्देशात् च. अन्यच्च "**ब्रह्मविद् आप्नोति परम्**" (तैत्ति.उप.२।१) इत्यत्र ज्ञेयाक्षरब्रह्मणः परस्यैव पुरुषोत्तमस्य अभिधानात् च. अत्र "**ब्रह्म...**" इत्यादिपदार्थचतुष्टयविवरणभूतायां "**सत्यं ज्ञानम् अनन्तं ब्रह्म**" (तैत्ति.उप.२।१) इति ऋचि 'ब्रह्म'-'विपश्चित्'शब्दाभ्यां विवृतत्वात् च संक्षेपः. तथाच एतादृशं ब्रह्म वाञ्छितप्रदानेन ते 'मुदे'=प्रीतये अस्तु इति आशीर्वचनम्.

इति गोस्वामिश्रीरघुनाथात्मजव्रजनाथविरचितः
ब्रह्मवादः सम्पूर्णः

वादावल्यां

॥ प्रपञ्चसंसारभेदवादः ॥

(तत्र प्रपञ्चसंसारभेदनिरासाय पूर्वपक्षः)

* ननु प्रपञ्चसंसारयोः सत्यत्वासत्यत्वाभ्यां भेदो न अंगीकर्तव्यो माना भावात्. नाशोत्पत्तियुक्तप्रपञ्चवद् आविर्भावतिरोभावावेव. तथाच श्रुतिः **''सत्यं च अनृतं च सत्यम् अभवद्''** (तैत्ति.उप.२।६) इति. एतदर्थस्तु : **सत्यं** घटपटादिरूपं जगद् **अनृतं** संसाररूपं, **सत्यं** ब्रह्मैव **अभवद्** * इत्येवं प्राप्ते

(तत्र उत्तरपक्षे प्रपञ्चसंसारभेदोपपादनम्)

उच्यते : संसारस्य सत्यत्वाभावएव, भगवत्कार्यत्वाभावात्. **''प्रपञ्चो भगवत्कार्यः तद्रूपो मायया अभवत्. तच्छक्त्या अविद्ययातु अस्य जीवसंसारः उच्यते''** (त.दी.नि.१।२३) इति निबन्धे उक्तम्. **''बन्धो अस्य अविद्यया अनादिः''** (भाग.पुरा.११।११।४) इति वचनात् च मायाशक्त्यविद्याकार्यत्वमेव तस्य. तत्रापि **उच्यते** नतु जन्यते, कथनमात्रेणैव सत्त्वं न वस्तुतो, जीवाभिमानात्मकत्वाद्, **''अहंकारविमूढात्मा कर्ता अहम् इति मन्यते''** (भग.गीता.३।२७) इति श्रीगीतावाक्यात्. एवं सति आविर्भावतिरोभावौ असंगतावेव, सत्यत्वएव तयोः अंगीकारात्. नहि अलीकत्वे तौ सम्भवतः.

(तत्र जीवेष्वपि देहः प्रापञ्चिकः तत्र च अहम्ममाभिमानौ सांसारिकौ)

किञ्च अहम्ममाभिमानस्य जीवएव 'संसार'पदवाच्यत्वम्, अविद्याकार्यत्वात्. नहि देहो जीवो **''वासांसि जीर्णानि यथा''** (भग.गीता.२।२२) इति **''देही नित्यम् अवध्यो अयम्''** (भग.गीता.२।३०), **''न जायते**

म्रियते वा कदाचिद्'' (भग.गीता.२।२०), इति वाक्यैः भेदनिरूपणात्. तत्र चेद् अहम्बुद्धिः सा अलीकैव. पदार्थेष्वपि या ममताबुद्धिः सापि तथैव. नहि सर्वे पदार्थाः एतदीयाः, भगवत्क्रीडार्थकत्वात्. **''क्रीडार्थम् आत्मनः इदं त्रिजगत् कृतं ते स्वाम्यन्तु तत्र कुधियो पर ईश कुर्युः''** (भाग.पुरा.८।२२।२०), **''क्रीडाभाण्डं विश्वम् इदं यस्य भूम्नः''** (भाग.पुरा.४।७।४३) इति श्रीभागवतोक्तेः, परवस्तुनि स्वाम्यम् अलीकमेव. ''संसरति ज्ञाने सति गच्छति'' इति 'संसारः'. स जीवाधिकरणकएव.

(तत्र भगवति भगवद्विषयकौ च अहम्ममाभिमानौ न आविद्यकौ)

अन्यथा **''अहं सर्वस्य प्रभवः''** (भग.गीता.१०।८), ''अहम् आत्मा गुडाकेश'' (भग.गीता.१०।२०) **''अहं भक्तपराधीनः''** (भाग.पुरा.९।४।६३), **''न मे भक्तः प्रणश्यति''** (भग. गीता.९।३१), **''मम योनिः महद् ब्रह्म''** (भग.गीता.१४।३), **''ममैव अंशो जीवलोके''** (भग.गीता.१५।७) इत्यादि वाक्यैः अहंताममतयोः श्रवणाद् भगवति अविद्यासम्बन्धः स्यात्. नतु एवम् **''तद् आत्मानमेव अवेद् अहं ब्रह्म अस्मि''** (बृह.उप.१।४।१०) इति 'अहन्ता'शब्दो भगवद्धर्मज्ञानरूपएव. सर्वं भगवतएवेति ममतापि तथैव. न तत्र संसारप्रयोगो, वास्तवत्वात्.

जीवस्यापि ''भगवान् मम प्रभुः अहं दासः'' इति ममताहन्ते शुद्धज्ञानरूपेएव, भगवत्सम्बन्धित्वात्. तथाच **''सत्यं च अनृतं च''** (तैत्ति.उप.२।६) इति. श्रुत्यर्थस्तु : **सत्यं** घटपटादिरूपं, **अनृतं** तस्मिन्नेव विषयताग्राह्यनाशोत्पत्तिप्रतीतिविषयं मायिकं जगद् 'अनृत'शब्देन उच्यते. नटवद् अन्यथारूपप्रदर्शनाद् इति अर्थः. स्वस्मिन् मायया अन्यथाभावं दर्शितवान्. अतएव उक्तं निबन्धे **''तद्रूपो मायया अभवद्''** (त.दी.नि.१।२३) इति. तथाच श्रुतिः **''सर्वस्य वशी सर्वस्य ईशानः''** (बृह.उप.४।४।२२) इति. जीवाः **''ब्रह्म दाशाः ब्रह्म कितवाः''** (अथर्व.पैप.संहि.८।९।१०) इति. **''अंशो नानाव्यपदेशाद् अन्यथा चापि दाश कितवादित्वम् अधीयत एके''** (ब्र.सू.२।३।४३) इति व्याससूत्रम्. **''धर्मः प्रोज्झितकैतवो अत्र**

परमः'' (भाग.पुरा.१।१।२) इति भागवतं च. तेन भगवद्भजनमेव मुख्यो धर्मो न इतरो, देहान्तरे धर्मे वा तत्त्यागात्. नहि नित्यः कदापि त्यागम् अर्हति. **''देवो असुरो मनुष्यो वा''** (भाग.पुरा.७।७।५०) इति वाक्यात्.

(भक्तिज्ञानौपयिकयोः अहम्ममाभिमानयोः अनाविद्यकत्वे सर्वेषां च भजनाधिकारे सति मनुष्येतरेषु कः सिद्धान्तः?)

ननु पश्वादिदेहे कथं भजनम् इति चेत् तत्र आह **''धन्यास्तु''** (भाग.पुरा.१०।१८।११) इत्यत्र **''पूजां दधुः विरचितां प्रणयावलोकैः''** (भाग.पुरा.१०।१८।११) इति. **''गावस्तु कृष्णमुखनिर्गत...''** (भाग.पुरा. १०।१८।१३) इत्यत्र **''गोविन्दम् आत्मनि दृशाश्रुकलाः स्पृशन्त्यः''** (भाग.पुरा.१०।१८।१३) इति. **''प्रायो बताम्ब विहगाः''** (भाग.पुरा.१०।१८।-१४) इति. **''तत्र शृण्वन्ति अमीलितदृशो विगतान्यवाचः''** (भाग.पुरा.१०।१८-।१४) इति. **''प्रणतभारविटपाः मधुधाराः प्रेमहृष्टतनवः ससृजुः स्म''** (भाग.पुरा.१०।३२।६) इत्याद्यनेकप्रमाणैः भगवद्भजनमेव नित्यो धर्मः सर्वयोनिषु.

(प्रपञ्चसंसारौ भिन्नावेव इति सिद्धान्तनिष्कर्षः)

तस्मात् प्रपञ्चसंसारयोः भेदएव ब्रह्मवादाभिमतः इति सिद्धम्.

इति श्रीविठ्ठलरायात्मजश्रीवल्लभकृतो
प्रपञ्चसंसारभेदवादः सम्पूर्णः

वादावल्यां

॥ब्रह्म-जीव-तदैक्य-स्वरूपनिरूपणम्॥

बालकृष्णं नमस्कृत्य विठ्ठलेशं च सद्गुरुम्॥
द्वैताद्वैतविवेकोऽयं विठ्ठलेन विचार्यते॥१॥
आत्मा वारे तु द्रष्टव्यः श्रोतव्यः इति रूपया॥
श्रुत्यार्थतात्मसिद्ध्यर्थं साधनत्वे त्विदं स्फुटम्॥२॥
आत्मनोपासनं नित्यम् आत्मनः परिकीर्तितम्॥
श्रवणं मननं चैव निदिध्यासनम् आत्मनः॥३॥
श्रुत्यैवाप्राप्यता चोक्ता सर्वथा मनसापि वा॥
यतो वाचो निवर्तन्ते अप्राप्य मनसा सह॥४॥
एवं मिथो विरोधेतु तद्द्रष्टान्यत्र बाधता॥
उररीक्रियते कैश्चित् सा न साध्वीतु वैदिके॥५॥
तर्के चैवोपचारं ये मन्यमाना न वैदिकाः॥
वेदस्याक्षरमात्रस्य वाच्यतार्थविशारदाः॥६॥
शक्यस्याभावतस्तस्य मिथ्यात्वाभिनिवेशतः॥
लक्षणागन्धमात्रं वै न वेदे ब्रह्मणि क्वचित्॥७॥

यः पृथिव्यां तु सन्तिष्ठन् यं च पृथ्वी न वेत्ति हि॥

एवं वैशिष्ट्यभावेन द्वैतं ब्रह्मगुणात्मकम्॥८॥

येंऽगीकुर्वन्त्युपासार्थं विशिष्टाद्वैतवादिनः॥

अद्वैतश्रुत्यनर्थज्ञा उपचारं वदन्ति हि॥९॥

एकमेवाद्वितीयं तु नेह नानास्ति किञ्चन॥

मृत्योः स मृत्युम् आप्नोति यो वै नानेव पश्यति॥१०॥

इति श्रुतिविरोधाच्च वैशिष्ट्यं केन साध्यते॥

एवं प्रश्नं सुविस्तीर्य स्वसिद्धान्तनिरूपणम्॥११॥

य एको लीलया शक्तिम् आत्मभूतां समाश्रितः॥

नानेव दृश्यते चान्यैः हृद्यभक्तैरनुपाश्रितः॥१२॥

सएव भक्तैरात्मीयैः सदा सद्भिरुपास्यते॥

यत्र गावो भूरिश्रृंगा नगाश्चैव शुभावहाः॥१३॥

मुनयः सूरयो भक्ताः सदा पश्यन्ति तत्पदम्॥

त्रिकालाबाधितं रूपं सर्वशक्त्युपबृंहितम्॥१४॥

साहि स्वाभाविकी प्रोक्ता क्रिया ज्ञानबला ध्रुवा॥

तामेव स्वयम् आश्रित्य भगवान् रसविग्रहः॥१५॥

वरप्रदर्शिता रात्रीः वीक्ष्य रन्तुं मनो व्यधात्॥१६॥

इति श्रीगोकुलनाथात्मजविट्ठलरायविरचितं

ब्रह्मस्वरूपनिरूपणं समाप्तम्

॥ जीवस्वरूपनिर्णयः ॥

श्रीकृष्णः परमानन्दो रसात्मकतया मतः॥

सएव पुच्छभागेन चाक्षरः परिकीर्तितः॥१॥

तदंशाः अप्यनन्ताः स्युः तत्र ब्रह्माण्डकोटयः॥

तदैच्छिको हि भेदोऽयं जडजीवान्तरात्मनः॥२॥

आनन्दांशतिरोधानात् परिच्छिन्नत्वतः स्फुटम्॥

व्यवहाराः प्रवर्तन्ते विधिषेधपुरःसराः॥३॥

सच्चिदानन्दशक्तीनां तिरोधानेन सच्चितोः॥

जडानीशत्वयोर्भानम् ऐच्छिकं नतु वास्तवम्॥४॥

वास्तवं चेद् अच्छेद्योयम् इति गीता वदेद् नहि॥

जडस्यापि तथात्वं हि तदाविर्भावतः स्फुटम्॥५॥

पुरुषोत्तमांशभूतानां जडजीवान्तरात्मनाम्॥

कार्यशक्तिप्रधानत्वाद् अनुभूतिस्त्रिधा मता॥६॥

लोके चांगांगिनोस्त्वेवम् अध्यासाद् उपलभ्यते॥

अंगव्यथास्त्वंगिनैव तथा न ब्रह्मणि क्वचित्॥७॥

सर्वज्ञत्वात् ततस्तस्य सर्वरूपत्वतस्तथा॥

स्वेच्छयोपार्जितत्वाच्च तद्यथा नैव दृश्यते॥८॥

इति श्रीगोकुलनाथात्मजविट्ठलरायविरचितो

जीवस्वरूपनिर्णयः समाप्तः

।। जीवब्रह्मणोः ऐक्यनिरूपणम् ।।

श्रीमद्वृन्दावने रम्ये पुष्पिते वनितोत्सवैः ।।
वेणुं सम्वादयन् बाल्ये स्थितः कृष्णः प्रसीदतु ।।१।।
बालकृष्णं भजे नित्यं गोपिकारतिसम्प्रदम् ।।
नृत्यन्तं गीतसंसक्तं हैयंगवसुलोभिनम् ।।२।।
बालकृष्णपदाम्भोजं चिन्तिताधिकसुप्रदम् ।।
नत्वा श्रीवल्लभाचार्यान् कुर्वेऽद्वैतनिरूपणम् ।।३।।
एकमेवाद्वितीयं यद् ब्रह्म ज्योतिः सनातनम् ।।
अस्थूलं निर्गुणं शान्तं व्यापकं हृदि संस्थितम् ।।४।।
तद्वै शक्तिम् आत्मभूतां धर्मरूपां समाश्रितम् ।।
एको नानात्वम् अन्विच्छन् बहु स्याम् इति तत् तथा ।।५।।
यथोर्णुनाभिना तन्तुः तन्यते रमणेच्छया ।।
स्थीयते रमणं यावत् ग्रस्यते तत् तथा विधिः ।।६।।
पराभिध्यानतो नूनम् आनन्दांशस्तिरोहितः ।।
ततएवास्य जन्मादि सच्चितोः परिदृश्यते ।।७।।
ऐच्छिकं सर्वमेवैतद् मायावादनिरासतः ।।
माया त्वात्मीयशक्तित्वे वेदेन परिकीर्तिता ।।८।।
परास्य शक्तिः विविधा क्रिया ज्ञानबला सती ।।
स्वाभाविकी यया सर्वं जगद् एतत् चराचरम् ।।९।।

मोहितं मनुतेऽनर्थान् स्वीयपारक्यसम्भवान् ।।
कालकर्मस्वभावस्थान् कार्यशक्तिगुणात्मकान् ।।१०।।
यद्गुणेषु संसक्तः तावत् पश्यति वै भिदाम् ।।
यावद्गुणेभ्य उपरमेद् यदृच्छातो ह्ययं पुमान् ।।११।।
सत्यं ज्ञानम् अनन्तं यद् हृदि यो वेत्ति संस्थितम् ।।
सर्वकामान् परे व्योम्नि फलम् अश्नाति ब्रह्मणा ।।१२।।
अक्षरं परमं वेत्ति स्वात्मत्वेन निरन्तरं ।।
ब्रह्माहम् इति सम्पन्नः सर्वं पश्यति सर्वदा ।।१३।।
जीवंस्तु विचरेत् पृथ्वीं यावद्भोगः समाप्यते ।।
प्रारब्धान्ते स्वयं ब्रह्म सद्यो मुक्त्यधिकार्यसौ ।।१४।।
क्रममुक्त्यधिकारीतु ह्यर्चिरादिकम् अप्युत ।।
गत्वा तत्तद्गतान् भुक्त्वा सत्यलोकम् इयाद् नरः ।।१५।।
यावद्ब्रह्मायुषं स्थित्वा ब्रह्मणा सह युज्यते ।।
ते ब्रह्मलोक इति श्रुत्या मुच्यन्ते सर्वएव हि ।।१६।।

इति श्रीगोकुलनाथात्मजगोस्वामिविठ्ठलरायविरचितं
जीवब्रह्मणोः ऐक्यनिरूपणं समाप्तम्

वादावल्यां

॥ विरुद्धधर्माश्रयत्वविवेचनम् ॥

(मंगलाचरणम्)

सपुत्रान् श्रीमदाचार्यान् गुरुन् श्रीपुरुषोत्तमान्।
नत्वा तेषां प्रसादेन किञ्चिद् वच्मि यथामति॥

(वादविषयोपक्रमः)

ननु स्वमते विरुद्धधर्माश्रयत्वं नाम किम्? इति प्रश्ने उच्यते —

(ब्रह्मणो विरुद्धधर्माश्रयत्वे प्रमाणभूतश्रुत्युपन्यासः)

''**अणोः अणीयान्**'' (कठोप.२।२०) इत्यादौ अणोरपि अणीयस्त्वं महतो महीयस्त्वम् इति. ''**समः प्लुषिणा समो मशकेन**'' (बृह.उप.१।३।२२) इति श्रुत्या सर्वसमस्यापि ''**न तत्समः च अभ्यधिकः च दृश्यते**'' (श्वेता.उप.६।८) इति श्रुत्या न सर्वसमत्वम् इति. आप्तकामस्यापि ''**सर्वकामः सर्वगन्धः सर्वरसः**'' (छान्दो.उप.३।१४।४) इति श्रुत्या सर्वकामगन्धादिमत्त्वम् इति. ''**निष्कलं निष्क्रियं शान्तम्**'' (श्वेता.उप.६।१९) इति श्रुत्या निष्कलस्यापि ''**पादो अस्य विश्वा भूतानि**'' (ऋक्संहि.१०।९०।३) इति श्रुत्या सांशत्वम् इति. एवं निष्क्रियत्वेऽपि नृत्यलीलादिक्रियावत्त्वम्. एवम् आत्मारामस्यापि भक्तेषु रमणम् इति. एवं ''**यः सर्वज्ञः सर्वशक्तिः**'' (मुण्ड.उप.१।१।९) इत्यादिश्रुत्या सर्वज्ञस्य सर्वसामर्थ्यसहितस्यापि ''**मदन्यत् ते न जानन्ति न अहं तेभ्यो मनागपि**'' (भाग.पुरा.९।४।६८), ''**न पारये अहं निरवद्यसंयुजां स्वसाधुकृत्यं विबुधायुषापि वः**'' (भाग.पुरा.१०।२९।-

२२) इत्यादिषु असर्वज्ञत्वम् अशक्तत्वं च इति. एवं सर्ववेदावेद्यत्वेऽपि तद्वेद्यत्वं ''**वेदैः च सर्वैः अहमेव वेद्यः**'' (भग.गीता.१५।१५) ''**न अहं वेदैः न तपसा**'' (भग.गीता.११।३५) इत्यादिवाक्यैः ज्ञातव्यम्. ''**अपाणिपाद...**''(श्वेता.उप.३।१९)स्यापि ''**सर्वतःपाणिपादान्त**''(श्वेता.-उप.३।१६)त्वम् इति. एवं श्रीमन्नन्दात्मजत्वेऽपि अजत्वम् इति. एवम् अन्यदपि स्वयम् ऊह्यम्.

(ब्रह्मणि लौकिकधर्माभावाद् न विरुद्धधर्माश्रयता इति पूर्वपक्षः)

*ननु अत्र ''**अस्थूलम् अनणु...**'' (बृह.उप.३।८।८) इत्यादौ लौकिकानां पूर्वोक्तानां सर्वेषां निषेधाद् ''**अणोः अणीयान्**'' (यथापूर्वोक्तम्) इत्यादौ अलौकिकानां विधानात्. [क] भगवति केवलालौकिक-तत्सत्त्वेन विरुद्धत्वाभावात् कथं विरुद्धधर्माश्रयत्वम्? इति; अथवा, [ख] पूर्वन्यायेन अस्थूलादिनिषेधिकासु श्रुतिषु लौकिकालौकिकधर्म-सामान्यनिषेधे अंगीकृते ब्रह्मणो निर्विशेषत्वेन कथं विरुद्धधर्माश्रयत्वम्* इति इति चेद्, अत्र उच्यते —

(तत्र सिद्धान्तिकृतं समाधानम्)

अत्र अन्त्य[ख] पक्षे ''**अस्थूल...**''वाक्यस्य यद् धर्मसामान्यनिषेधकत्वम् अंगीकृतं तत्तु प्रकृतपूर्वश्रुतिविरुद्धमेव. संन्यासात् पूर्वं गार्ग्यै उपादानकारणबोधनार्थं कार्याणां प्रकृततया याज्ञवल्केन अलौकिककारणाविलक्षणकार्यबोधनार्थं कार्यलौकिकधर्माणामेव निषेधनेन कारणरूपब्रह्मासाधारणधर्मनिषेधस्य वक्तुम् अशक्यत्वाद्. यदिच तद् अनादृत्य सामान्यनिषेधएव आग्रहः क्रियते तदा ''**अणोः अणीयान्...**'' (यथापूर्वोक्तम्) इत्यादिब्रह्मासाधारणधर्मबोधकश्रुति-विरोधः, ''**एतस्यैव अक्षरस्य प्रशासने, गार्गि!, द्यावापृथिवी विधृते तिष्ठतः**'' (बृह.उप.३।८।९) इति अग्रिमश्रुतिविरोधः च. तस्माद् ''**अस्थूल...**'' श्रुतौ प्राकृतनिषेधएव आस्थेयः. इदं यथा तथा ''**अन्तस्तद्धर्मा**''(ब्र.सू.१।१।२-०)ऽधिकरणभाष्ये तत्प्रकाशे च प्रपञ्चितम् इति ततो अवधेयम्.

एतेन धर्मसामान्यनिषेधेन ब्रह्मणो निर्विशेषत्वात् कथं विरुद्धधर्माश्रयत्वम्

इति निरस्तम्.

अथवा "**अस्थूलम् अनणु...**" इत्यादिश्रुतौ नञः उत्तरपदेन अन्वयेन पर्युदासार्थकत्वात्. पर्युदासस्यच सदृग्-ग्राहित्वात् स्थूलभिन्नं स्थूलसदृशम्, अणुभिन्नम् अणुसदृशम् इत्येव सिध्यति. एकस्यैव स्थूलसादृश्यम् अणुसादृश्यं च विरुद्धं तद् ब्रह्मणि अस्तीति विरुद्धधर्माश्रयत्वम्. अन्यथा श्रुत्यर्थमर्यादाविरोधः.

ननु एवं लोकरीत्या विरुद्धत्वेन अलौकिकानामेव तेषां सत्त्वात् कथं विरुद्धधर्माश्रयत्वम्? इति प्रथम[क] पक्षएव अस्ति इति चेद् अलौकिकानामेव तेषां परस्परं लोकरीत्या विरुद्धत्वाद् 'विरुद्धधर्माश्रयत्वम्' उच्यते. नतु लौकिकालौकिकभेदेन तथात्वम् इति जानीहि.

(वस्तुतस्तु विरुद्धधर्माणां ब्रह्मणि अविरुद्धत्वेऽपि ततो अन्यत्र तेषां विरोधाद् विरुद्धत्वेन निरूपणम्)

वस्तुतस्तु विरोधएव न भवति, "**नहि विरोधः उभयं भगवति...**" (भाग.पुरा.६।९।३६) इति वाक्याद् वादिबोधनार्थं विरुद्धधर्माश्रयत्वम् उच्यते "**विरुद्धसर्वधर्माणाम् आश्रयम्**" (त.दी.नि.१।७१) इत्यत्र. अतएव "**युक्त्यगोचरम्**" (त.दी.नि.१।७१) इति उक्तम् अग्रे श्रीमदाचार्यैः.

नच *"लौकिकं हि अस्ति — अलौकिकम् नास्ति" इत्येवं विरुद्धत्वम्* इति वाच्यं, लौकिकस्य ब्रह्मणि अनंगीकारेण विरुद्धत्वाभावात्. नच *लोकरीत्या विरुद्धत्वाद् न इदं साम्प्रतम्* इति वाच्यं, लौकिक्यां क्रियायां निष्क्रमणत्वप्रवेशनत्वयोः दर्शनात्. नच *ब्रह्मणो अनन्तरूपत्वाद् न तेन-तेन रूपेण तादृशातादृश-गुणवत्-क्रियावत् च ब्रह्मेति न विरुद्धधर्माश्रयत्वं ब्रह्मणः* इति वाच्यम्, इमामेव आशंकां व्यासपादैः "**न स्थानतोऽपि परस्य उभयलिंगं...**" (ब्र.सू.३।२।४) इति सूत्रांशेन अनूद्य "**...सर्वत्र हि**" (ब्र.सू.३।२।४) इति अंशान्तरेण निराकृता इति. अत्र '**सर्वत्र**' इति सर्वेषु रूपेषु सर्वधर्मवत्त्वम् इति अर्थः. अन्यथा तेषाम् औपाधिकत्वे तत्स्वभावत्वं

ब्रह्मणो न सम्भवतीति तच्छ्रुतीनाम् अब्रह्मनिरूपकत्वापत्तिः स्यात्. वास्तवतत्तद्रूपपरत्वेतु तेषां रूपाणां ब्रह्मभिन्नत्वे "**सर्वे वेदाः यत् पदम् आमनन्ति**" (कठोप.२।१५) इति श्रुतिविरोधापत्तिः स्यादिति, तेषां ब्रह्माभिन्नत्वेनतु ब्रह्मणः एकत्वात् तेषाम् अनेकत्वात् सिद्धं विरुद्धधर्माश्रयत्वम् इति.

इदं पक्षद्वयमपि "**न स्थानतोऽपि...**" (ब्र.सू.तत्रैव) इत्यादिसूत्रभाष्ये विद्वन्मण्डने च स्फुटति.

(ब्रह्मणो विरुद्धधर्माश्रयताप्रतिपादनस्य : विद्वन्मण्डनोदितप्रकारः)

तत्र विद्वन्मण्डने तावत् : परस्य ब्रह्मणः उभयलिंगधर्मवत्त्वं तदभावः च, क्रियावत्त्वं तदभावः च, स्थानतोऽपि=सोपाधिनिरुपाधिभेदेन स्थानद्वयोरपि सम्भवतीति किमर्थम् एकस्य विरुद्धधर्माश्रयत्वम् अंगीकर्तव्यम् इति चेत् न, "**सर्वत्र हि**" सर्वत्र वेदान्तेषु ब्रह्मैव प्रतिपाद्यते "**सर्वे वेदाः...**" इति श्रुतेः. अन्यथा तेषाम् उपाधिपरत्वेन तत्समभावत्वं ब्रह्मणो न सम्भवतीति तच्छ्रुतीनाम् अब्रह्मनिरूपकत्वापत्तिरिति. तथाच ब्रह्मणएव तथात्वात् सिद्धं विरुद्धधर्माश्रयत्वम्.

(ब्रह्मणो विरुद्धधर्माश्रयत्वस्य ब्रह्मसूत्राणुभाष्योदितप्रकारः)

भाष्येऽपि : परस्य उभयलिंगं स्थानतोऽपि न सम्भवति ब्रह्मणः समवायिकारणत्वात्. *सर्वत्र एवं स्थानतः परस्य उभयलिंगत्वे उपपाद्यमाने किमर्थम् एकस्यैव तथात्वम् अंगीकर्तव्यम्?* इति चेद् न, कुतः? "**सर्वत्र हि**" इत्यनेन सर्वत्र एतादृशं रूपं भगवतः उपदिश्यते. सर्ववेदान्तेषु एतादृशं सर्वधर्मविशिष्टं नतु तावन्मात्रं, "**सर्वे वेदाः...**" (तत्रैव) इति श्रुतेः. नच *रूपभेदाद् भेदो अंगीकर्तव्यः, "**अद्वितीय...**" (छान्दो.उप.६।२।१) इति श्रुतिविरोधाद्.

नच *इदं सूत्रं विरोधस्थापनार्थं भाष्ये अंगीकृतमिति सिद्धान्ते कथं

व्याख्यातम् * इति वाच्यं, विद्वन्मण्डने सिद्धान्तेऽपि अंगीकारात्. नच * तैरपि तत्र तथा कुतो अंगीकृतम्? * इति वाच्यं, भाष्ये मतान्तरानुसारेण विरोधनिराकरणं न कथमपि सिध्यति इति बोधनार्थं सूत्रत्रयेण विरोधं स्थापयित्वा मतान्तरेण विरोधपरिहारार्थं च सूत्राणि उक्त्वा एकेन तत्परिहारपक्षं दूषयित्वा **"वृद्धिह्रास..."** (ब्र.सू.३।२।२०) इति सूत्रेण विरुद्धधर्माश्रयत्वं सिद्धान्तत्वेन अंगीकृतमिति तथा व्याख्यातमिति सिद्धान्ताद् न विरुध्यते इति.

(अनेकरूपधारणपूर्विकायां भगवल्लीलायां विरुद्धधर्माश्रयतायाः स्वरूपनिरूपणम्)

वस्तुतस्तु **"न स्थानतोऽपि..."** इत्यादीनि सर्वाण्येव सिद्धान्तसूत्राणि इति ज्ञेयम्. स प्रकारो विद्वन्मण्डने स्पष्टइति ततो अवधेयः. नच *विरुद्धधर्माश्रयत्वांगीकारेणैव सर्वोपपत्तौ अनन्तरूपत्वांगीकारो अनर्थकः* इति वाच्यं, यस्य भक्तस्य एकधर्मप्राकट्यमात्रेण न मनोरथपूर्तिः किन्तु धर्मिप्राकट्येनैव तं प्रति तादृशरूपान्तरप्राकट्यस्य आवश्यकत्वात्. यथा श्रुतिरूपाणां मण्डले धर्मप्राकट्येनैव कार्यसम्भवे न रूपान्तरप्राकट्यम्. तदपि द्वयोरेव भक्तयोः. तृतीयचतुर्थयोस्तु रूपान्तरप्राकट्येनैव. एवं कुमारीकामण्डले प्रतिभक्तं रूपान्तरप्राकट्येन तु यत्किञ्चिद्धर्मप्राकट्येन तत्र कार्यसम्पत्तिरिति तत्र तथैव प्राकट्यम्.

(भगवल्लीलायां हि अनेकविधरूपप्रतीतिजननेन अन्यथोपपत्त्या रूपान्तरधारणम् अनावश्यकम् इति शंकानिरासः)

नच *तथा प्रतीतिः सम्पाद्या साच धर्मप्राकट्येनापि सम्भवतीति किं रूपान्तरेण?* इति वाच्यं, प्रतारकत्वापत्तेः, भक्तानां तुल्यत्वात् च न प्रकारान्तरेण व्यवस्थापनम् उचितम्. तस्माद् रूपान्तरांगीकारो न अनर्थकः इति सिद्धम्.

अतएव **"यद् एकम् अव्यक्तम् अनन्तरूपं"** (महाना.उप.१।५)

इति निगूढाशयवती श्रुतिः एकस्यैव अनेकरूपरूपत्वम् आह. अतएव विद्वन्मण्डने लीलानित्यतावादे **"तद् एजति तद् न एजति"** (ईशा.उप.५) इति श्रुतिव्याख्याने अनन्तरूपत्वम् अंगीकृतम्. तेन एकेन रूपेण एजनं, रूपान्तरेण अनेजनम् इति उक्तम्. विरुद्धधर्माश्रयत्वे एतदुभयम् एकस्मिन् रूपे अस्ति तथापि तादृशभक्तमनोरञ्जनार्थं रूपान्तरेण नियतं तत्तत् प्रकटीक्रियते स्वस्य अप्रतारकत्वाय. नहि धर्मप्राकट्यमात्रेण लीलां करोति भगवान् इति नियमः किन्तु धर्मिप्राकट्यं भक्तार्थं करोति. इदञ्च कुत्रचित् धर्मप्राकट्यमात्रेण लीला कुत्रचित् धर्मिप्राकट्येन इति तु भक्तभावार्थमेव; परं वास्तवं रूपं, नतु तेषां प्रतीतिजननमात्रं, भगवतः सत्यसंकल्पत्वात्. अतएव जनकश्रुतदेवगृहगमने रूपान्तरप्राकट्यं स्वस्य इति संगच्छते, तयोः तथैव भावात्. यत्र पुनः धर्मप्राकट्येनैव भक्तमनोरञ्जनं तत्र स्वस्य भक्तानां च धर्मप्राकट्यमात्रमेव करोति. अतएव भाष्ये तृतीयाध्याये तृतीयपादे **"व्याप्तेश्च समञ्जसं, सर्वत्र अभेदाद् अन्यत्र इमे"** (ब्र.सू.३।३।९-१०) इति सूत्रयोः व्याख्याने भगवतो भक्तायाः श्रीयशोदायाः च व्यापकत्वरूपधर्मप्राकट्यमात्रेणैव विरुद्धदिक्कयोरपि भक्तयोः तथातथादर्शनरूपमनोरथपूर्तिः कृता इति उक्तं, तदपि संगच्छते. तयोः भक्तयोः स्वरूपसेवां विना तथा भावयतोः पूर्वं व्यापकत्वं भावि, न तदनन्तरं यशोदोत्संगलालितत्वम् इति तथैव दर्शनं कारितम् इति ज्ञेयम्.

(न केवलं भगवतः किन्तु भक्तानामपि अनेकैः रूपैः प्राकट्यं भगवल्लीलायाम्)

भक्तानामपि रूपान्तरादिकं तथा धर्मादिकं च भूमविद्यायां **"तस्य ह वा एतस्य एवं पश्यतः"** (छान्दो.उप.७।२६।१) इत्यारभ्य **"सहस्राणि च विंशतिः"**(छान्दो.उप.७।२६।२) इत्यन्तेन उक्तम्. इदञ्च भाष्ये चतुर्थाध्यायचतुर्थपादेऽपि अंगीकृतमिति न अत्र मत्कल्पनालेशोऽपि. एवञ्च भक्तानामपि यत्र एवं भगवद्दत्तसामर्थ्यं तत्र साक्षाद् भगवति तथा सामर्थ्यम् अस्ति इति किं वाच्यम्! परं स्वस्य यादृशलीलासिद्धिः यथा भवति तथैव तत्तत्प्राकट्येन तथा लीलां करोति.

(अनेकविधरूपप्राकट्येऽपि कश्चन प्रकारविशेषो विद्यतएव इति प्रतिपादनम्)

सर्वोऽपि सर्वेषु रूपेषु वर्तते, सर्वाणि च रूपाणि तथाविधानि. तत्र यदा एकस्मिन्नेव रूपे अपेक्षितविद्यमानसर्वप्रदर्शनेन लीलासिद्धिः, तत्र तथैव करोति. यथा "**मल्लानाम् अशनिः...**" (भाग.पुरा.१०।४३।१७) इत्यत्र, मृत्स्नाभक्षणप्रसंगे च. यत्र पुनः प्रतिनियत-यावदपेक्षित-धर्मविशिष्ट-रूपेण लीलासिद्धिः प्रतिरूपं तादृशमेव न विरुद्धं किञ्चित् प्रदर्शयति यथा रासमण्डले "**कृत्वा तावन्तम् आत्मानम्**" (भाग.पुरा.१०।३०।२०) इति. यत्र पुनः प्रकारान्तरं तत्र तथैव "**तासां मध्ये द्वयो द्वयोः**" (भाग.पुरा.१०।३०।३) इति, द्वारकालीलायां नारदं प्रति च, प्रतिरूपं नियतं नियतगुणक्रियादियुक्तं च. भौमाहृताभिः विवाहे च तासां मनोरथाभिप्रायेण इति सर्वत्र ज्ञातव्यं, "**परा अस्य शक्तिः...**" (श्वेता.उप.६।८) इति श्रुतेः.

(सर्वत्र भगवतः सर्वरूपत्वे मूलांशावेशावतारविभूत्यादिरूपभेदांगीकारो अनर्थकः इति शंकानिरासः)

नच *एवं सर्वेषु रूपेषु सर्वसामर्थ्यादिसत्त्वे तुल्ये सति मूलरूपांशावताररूपयोः न कश्चिद् विशेषः सेत्स्यति. तथा सति सिद्धान्तविरोधइति न पूर्वोक्तं साधिय* इति चेद् मा एवं, अंशावतारत्वं नाम सत्त्वात्मके भगवद्धर्मरूपे अप्राकृते सच्चिदानन्दरूपे चिकीर्षिततत्तल्लीलानुरूपे मत्स्यकूर्मादिशरीरे पूर्णस्य आनन्दात्मकस्य भगवतो अयोगोलके वह्निरिव आवेशः. सच द्विविधः शुद्धाशुद्धभेदेन इति अवतारः आवेशः चेति तत्र अंशद्वयमिति अंशावतारत्वम्. मूलरूपन्तु निरुपधिस्नेहवद्भक्तार्थम् आविर्भूतम् आनन्दमात्रकरपादमुखोदरादिरूपं नतु सत्त्वादिशरीरविशिष्टम्. तथाच मूलरूपांशवताररूपयोः एतावानेव विशेषो मूलरूपे साक्षात्सम्बन्धः, अवताररूपे परम्परया इति महानेव भेदः. किञ्च अवताररूपस्यापि यत्र द्वारकालीलादौ सर्वसामर्थ्यप्रदर्शकत्वं यत् तदपि विचार्यमाणे अन्तःप्रविष्टमूलरूपसामर्थ्यमेव अयोगोलकप्रविष्टवह्नेरिवेति मूलरूपएव सर्वमाहात्म्यविश्रान्तिः इति. एवं विभूतिरूपेष्वपि द्रष्टव्यम्. तत्र विभूतित्वं नाम हीनाधिकारिणां तत्तत्फलदानार्थम् ऐश्वर्यादिरूपेण धर्मेण

तत्र-तत्र प्रसादमन्त्रादिना स्थितत्वम्. एवञ्च विभूतिरूपप्राकट्ये केवलमन्त्राधीनत्वम्, अंशावताररूपप्राकट्ये सोपाधिभक्तिविशिष्टमन्त्राधीनत्वम्. यथाविधभक्त्या भगवान् वशो भवति इति तथाविधया तया प्रकटीकृतं यद्रूपं तस्मै श्रेष्ठम्. अवतारेष्वपि अयोगोलकेवह्नेरिव तस्यैव सर्वसामर्थ्यात्. अतः स्तुतिः सर्वत्र सत्त्वात्मकशरीरे प्रविष्टस्य पूर्णस्यैव. तेन तयापि अंशावतारादौ न भ्रमितव्यम् "अयं पूर्णावतारः" इति. पूर्णावतारस्तु सर्वत्र अस्ति परं सत्त्वव्यवहितः तदव्यवहितः च केवलव्रजनाथस्वरूपः श्रीकृष्णएव नान्यः इति ज्ञातव्यम्.

(ग्रन्थोपसंहारः)

इदं सर्वं तृतीयाध्यायतृतीयपादे "**स्वाध्यायस्य...**" (ब्र.सू.३।३।३) इति सूत्रभाष्ये श्रीमत्प्रभुचरणैरेव विविच्य उक्तम् इति ततः उद्धृत्य परबोधनार्थम् अत्र प्रसंगाद् उक्तमिति न अत्र मत्कल्पनालेशोऽपि इति दिक्.

इति श्रीगोस्वामिपुरुषोत्तमान्तेवासितुलजारामकृतं
विरुद्धधर्माश्रयत्वविवेचनम्

वादावल्यां

।। आत्मवादः ।।

(मंगलाचरणेन विषयोपक्रमः)

प्रत्यक्षादिप्रमाणैः यदगम्यं श्रुतिवाक्यतः ।।
स्वतःप्रमाणभूताद् यद् गम्यं ब्रह्म समाश्रये ।।१।।

(ईश्वरस्य अनुमानगम्यतासाधनाय पूर्वपक्षः)

*ननु इदम् असाम्प्रतम्, ईश्वरस्य अनुमानगम्यत्वात्. तथाहि न तत्र चाक्षुषं प्रत्यक्षं रूपाभावाद्. नापि मानसं, परात्मनः परेण मनसा प्रत्यक्षवारणाय आत्मप्रत्यक्षं प्रति परात्मव्यावृत्तविजातीयमनःसंयोगत्वेन हेतुत्वस्य आवश्यकतया ईश्वरे तस्य अभावात्. नापि श्रुतिः तत्प्रामाण्यस्य ईश्वरसिध्यधीनत्वं तत्सिद्धेः तत्प्रामाण्याधीनत्वमिति अन्योन्याश्रयात्. नापि उपमानं, तत्सदृशाभावात्. तथाच परिशेषाद् अनुमानगम्यम् इति.

तद् उक्तं "**कार्यायोजनधृत्यादेः पदात् प्रत्ययतः श्रुतेः वाक्यात् संख्याविशेषात् च साध्यो विश्वविद् अव्ययः**" (न्या.कु.५।१) इति.

(तत्र ईश्वरास्तित्वसाधकानुमानानि)

अनुमानानितु : "क्षित्यंकुरादिकं कर्तृजन्यं कार्यत्वाद् घटवत्". अन्येतु जन्यत्वाद् इत्यपि प्रयुञ्जन्ते. "सर्गाद्यकालीनद्व्यणुकप्रयोजकं कर्म प्रयत्नजन्यं, कर्मत्वाद् अस्मदादिशरीरजन्यक्रियावत्". "गुरुत्ववतां ब्रह्माण्डादीनां पतनाभावः पतनप्रतिबन्धकप्रयत्नप्रयुक्तः, धृतित्वाद् वियति विहंगमधृतिवत्". "ब्रह्माण्डादि प्रयत्नवद्विनाश्यं, नाशित्वात् पाट्यमानपटवत्". "घटादिव्यवहारः स्वतन्त्रपुरुष-प्रयोज्यो, व्यवहारत्वाद् आधुनिककल्पितलिप्यादिव्यवहारवत्". "वेदजन्यप्रमा

वक्तृयथार्थवाक्यार्थज्ञानजन्या शाब्दप्रमात्वात् धर्मादिप्रमावत्". "पूर्वोक्तं ज्ञानं करणगुणजन्यं, प्रमात्वात् प्रत्यक्षादिप्रमावत्". "वेदो असंसारिपुरुषप्रणीतो वेदत्वाद्", "वेदः पौरुषेयो वाक्यत्वात्". "द्व्यणुकपरिमाणजनिका संख्यां अपेक्षाबुद्धिजन्या. एकत्वान्यसंख्यात्वात्". "द्व्यणुकपरिमाणं संख्याजन्यं परिमाणप्रचयाजन्यत्वे सति जन्यपरिमाणत्वात् तुल्यपरिमाणकपालद्वयारब्धघटप-रिमाणवद्" इति बोध्यानि. तस्माद् अनुमानमेव प्रमाणम् * इति प्राप्ते

(जगत्कर्तृतया ईश्वरस्य अनुमानगम्यत्वे शरीरवत्त्वस्यापि अंगीकर्तव्यतया श्रुत्येकगम्यत्वमेव इति उत्तरपक्षः)

उच्यते :

श्रुतिवृन्दैः सदा जुष्टं श्रुतिवृन्दैः सदाद्भुतम् ।।
श्रुतिवृन्दे सदा सन्तं श्रौतं श्रीकृष्णम् आश्रये ।।२।।

नहि तत्र अनुमानस्य प्रमाणता वक्तुं शक्या, त्वदंभिमतस्यापि असिद्धेः. कार्यत्वलिंगकानुमानेन ईश्वरसिद्धौ ज्ञानादिमत्त्वस्येव शरीरवत्त्वस्यापि अन्वयव्य-तिरेकसिद्धत्वात्. तथाहि यत्र कुलालादिषु कर्तृत्वं तत्र शरीरित्वं यत्रच मुक्तात्मसु अशरीरित्वं न तत्र कर्तृत्वम्. अतः "ईश्वरः शरीरी कर्तृत्वाद् अस्मदादिवत्. यद् न एवं तद् न एवं मुक्तात्मवद्" इति अनुमानेन ईश्वरस्यापि कर्तृत्वात् शरीरित्वम् अवश्यम् अंगीकर्तव्यम्. अन्यथा इच्छादिकमपि न सिध्येद् अविशेषात्. *ननु चेष्टां विनापि प्रयत्नमात्रेण कार्यकरणसमर्थत्वाद् ईश्वरस्य न चेष्टाधिकरणतदपेक्षा * इति चेद् न, ज्ञानमात्रेणैव सर्वकरणसमर्थस्य इच्छादिमत्त्वस्यापि असिद्धेः. *ननु "शरीरं परिच्छिन्नं शरीरत्वाद् अस्मदादिशरीरवत्. शरीरम् अनित्यं कार्यत्वात् पटवद्" इति अनुमानाभ्यां शरीरस्य परिच्छिन्नत्वेन अनित्यत्वेन च युगपत्सकलदेशगतकार्यानुत्पत्तिप्रसंगः ब्रह्मधर्मतानुपपत्तिः च * इति चेद् न, अन्यथानुपपत्तिबलात् सिध्यच्छरीरस्य यावता अनुपपत्तिपरिहारः तावतएव सिद्धेः. तथा "ईश्वरशरीरं नित्यं सर्गाद्यकालीनद्व्यणुकारम्भपूर्वकालीनद्रव्यत्वात् परमाण्वादिवद् यद् न एवं तद्

न एवम् अस्मदादिशरीरवद्'' इति प्रत्यनुमानेन पूर्वोक्तानुमानस्य सत्प्रतिपक्षत्वात्.

(शरीरादिमदीश्वरसाधकानुमाने तर्कानुकूल्यप्रदर्शनम्)

अनुकूलतर्कश्च : ''यदि शरीरित्वं न स्यात् कर्तृत्वमेव न स्याद्'' इत्याकारको बोध्यः. नच पूर्वोक्तेन अस्य सत्प्रतिपक्षत्वं शंक्यम् अप्रयोजकत्वात् पूर्वोक्तानुमानस्य. अन्यथा ईश्वरज्ञानादीनामपि अनित्यतापत्तेः.

ननु शरीरस्य महत्त्वेन उद्भूतरूपत्वेन च, ''ईश्वरशरीरं चाक्षुषं, महत्त्वे सति उद्भूतरूपत्वाद्'' इति अनुमानेन प्रत्यक्षं स्याद् इति चेद् न, ''ईश्वरशरीरम् अचाक्षुषं लौकिकप्रत्यक्षाविषयत्वाद् इन्द्रादिशरीरवद्'' इति प्रत्यनुमानात् पूर्वोक्तानुमानस्य लौकिकप्रत्यक्षविषयत्वरूपोपाधिग्रस्तत्वात्.

(ईश्वरशरीरस्य ईश्वरेण सह भेदाभेदविमर्शः)

स्याद् एतद् : ईश्वरस्य यत् शरीरं साध्यते तत् शरीरं किम् ईश्वराद् भिन्नम् अभिन्नं वा? न अन्त्यः, आत्माभिन्नस्यापि तस्य असिद्धत्वात्. अतो भिन्नं नित्यं नित्यसम्बद्धं च अंगीकार्यम्. तथा सति यथा कार्यत्वेन कर्तृपूर्वकत्वसाधनं कुर्वतः चेतनकार्यत्व-शरीरिजन्यत्व-साहचर्यस्य भूयोदर्शनेन शरीरजन्यत्वविशिष्टकार्यत्वस्य व्याप्यत्वात् साध्यतावच्छेदकशरीरनिविष्टकर्तरि ईश्वरे तादृशशरीरासिद्धिः, तदसिद्धौ च कर्तृत्वासिद्धिः. एवं ''वायुः अनित्यः कार्यत्वाद् घटवद्'' इति अनुमानेऽपि रूपसाहचर्यं लिंगस्य दृष्टमिति रूपविशिष्टस्य तस्य व्याप्यत्वेन रूपाभाववति वायौ कार्यत्वासिद्धिः, तत्सिद्धौ च रूपस्यापि सिद्धिः स्यात्. नतु एवं प्रत्यक्षबाधात्. तस्मात् साहचर्यमात्रम् अप्रयोजकम्. व्याप्तिरेव प्रयोजिका. साच कार्यत्वानित्यत्वयोरेवेति वायौ तत्सिद्धिः रूपासिद्धिः च. एवं प्रकृतेऽपि कर्तृत्वप्रयोजकं ज्ञानेच्छाप्रयत्नवत्त्वमेवेति शरीरित्वस्य तत्साहचर्येऽपि न तत्प्रयोजकत्वम्. अतो न ईश्वरे तत्सिद्धिः. अन्यथा दृष्टान्तीयाशेषधर्मापत्तिः पक्षे स्यात्.

तथाच घटदृष्टान्तेन जले अनित्यत्वसाधने पृथिवीत्वादिकमपि सिध्येदिति

न एवम्. किम् इदं 'साहचर्यमात्रम्' इत्यत्र 'मात्र'पदं यावत्-तत्परम् उत भूयोदृष्टतत्परम्? अन्त्येतु 'ओम्' इति ब्रूमः, ''लोहलेख्या पृथिवीत्वाद्'' इत्यादौ भूयःसाहचर्यस्यापि अप्रयोजकत्वदर्शनात् पूर्वोक्तदोषापत्तेः च. आद्येतु व्याप्तेरपि अप्रयोजकत्वापत्त्या अनुमानस्यैव उच्छेदाद् इच्छादेरपि असिद्धेः तन्मतस्यापि असिद्धेः. तस्मात् शंकानाम् अन्यथानुपपत्तिबलात् सिद्ध्यत्सर्वानुपपत्तिपरिहारपूर्वकं सच्चिदानन्दात्मकम् ईश्वराभिन्नमेव सिद्धमिति सिद्धिव्याहतत्वाद् न उदयः.

(अंकुरादौ शरीरादिमत्कर्तृकत्वादर्शनेन यत्र कार्यत्वं तत्र शरीरिजन्यत्वम् इति व्याप्तौ मीमांसकाक्षिप्तदोषनिरासः)

एतेनैव ''कार्यस्य शरीरादिमत्कर्तृपूर्वकत्वनियमः प्रत्यग्रजायमानांकुरादावेव शरीरिणः कर्तुः अनुपलम्भाद् निरस्तः'' इति मीमांसकमतमपि निरस्तम्.

(ईश्वरास्तित्वसाधकानुमानस्य जगद्व्यापकप्राणादिमत्कर्तृकास्तित्वसाधनपरत्वेन अन्यथोपपत्तिः)

किञ्च जीवसाधने प्राणधारणप्रयत्नवत्त्वेन प्राणसिद्धिवद् अत्रापि तादृशप्राणसाधकत्वेनापि अप्रयोजकत्वम् अस्य. कथं जीवस्य प्राणवत्त्वम्? इति चेद् इत्थं : तथाहि निरात्मवादिनां बाह्यानां मते चेतनायाः किण्वादिभ्यो मदशक्तिवत् पुञ्जधर्मत्वं, यथा केवलैः खदिरचूर्णताम्बूलपर्णपूगैः न मदः समुदितैस्तु मदः तथाच केवलपरमाणूनां न चेतनत्वं विविधपरमाणुपुञ्जेतु चेतनत्वम् इति. तत्र अन्ये वदन्ति *केन पुञ्जेन चेतनाधर्मो, बाह्येन उत आन्तरेण? तत्र अन्वयव्यतिरेकाभ्यां प्राणधारणप्रयत्नवत्त्वमेव जीवलक्षणत्वेन सिद्धः. तत्र ''बाह्यपुञ्जः आत्मा प्राणधारकत्वाद् यद् न एवं तद् न एवं घटवद्'' इति अनुमानेन शरीरावच्छिन्नबाह्यपुञ्जस्य प्राणधारणप्रयत्नवत्त्वसाधने ''न तद्धारको बाह्यत्वाद्, मृतशरीरवद्'' इति प्रत्यनुमानेन हेतोः सत्प्रतिपक्षत्वात्. नवा आन्तरः पुञ्जः तथा ''आन्तरपुञ्जो न तद्धारकः आन्तरत्वाद् मृतपश्वान्तरपिण्डवद्'' इति अनुमानेन हेतोः साधारणत्वात्.

नापि ''चक्षुः आत्मा, प्राणधारकत्वाद्, ज्ञानप्रयत्नाधारकत्वाद् वा

यद् एवं तद् एवं श्रोत्रादिवद्'' इत्येवं प्रत्येकम् इन्द्रियेषु आत्मत्वसाधनं युक्तं, विनिगमनाविरहाद् अन्धादिष्वपि प्राणधारणप्रयत्नदर्शनेन एकैकस्मिन् व्यतिरेकव्यभिचारात् च हेतोः स्वरूपासिद्धत्वात्.

ततः समुदायस्य आत्मत्वसाधनेऽपि यत्र सकलगोलकहीनत्वं तादृशे पिण्डे क्षुत्-तृट्-कार्यदर्शनात् तद्धारकत्वम् अन्तःकरणे पर्यवस्यति, नतु समुदाये, गोलकनाशे तन्नाशप्रसंगात्.

नापि त्वगिन्द्रिये अंशतः तस्यापि नाशादिति, अन्तःकरणे पुनः तेन अनुमानेन तथात्वसाधनेऽपि ''पुरितति नाडीमनःसंयोगः कर्मजन्यो, यावत्प्रतियोगिसत्त्वेऽपि कादाचित्कत्वात्. स्थाणुपुरुषसंयोगवद् यद् न एवं तद् न एवं स्थाण्वाकाशसंयोगवत्'', ''मनो मूर्तं क्रियावत्त्वाद् वायुवद्'' इति अनुमानेन अगुणत्वे ''न सुखसाक्षात्कारो अकरणको जन्यसाक्षाकारत्वात् चाक्षुषसाक्षात्कारवद्'' इत्यादिना करणत्वेन च सिद्धस्य मनसो ''ज्ञानादिकं न अणुगुणः, प्रत्यक्षत्वाद्. घटरूपादिवद् यद् न एवं तद् न एवं परमाणुरूपादिवद्'' इति अनुमानेन ज्ञानादेः तथात्वनिश्चयेन, ज्ञानाद्यनाधारत्वे सिद्धे तेन अनात्मत्वसिद्धिः.

ततः प्राणो अवशिष्यते. तस्य आत्मभिन्नत्वसाधनं दुर्घटं प्राणसत्त्वे जीवसत्त्वस्य, तदसत्त्वे तदभावस्य च दर्शनात्. ज्ञानप्रयत्नाधारत्वस्य तत्रैव पर्यवसानात्. नच *सुषुप्तौ ज्ञानाभावे तस्मिन् ज्ञानाद्यनाधारत्वे निश्चिते ''प्राणः आत्मभिन्नो ज्ञानाद्यनाधारत्वाद् देहादिवद्'' इति अनुमानेन आत्मभेदसिद्धिः* इति शंक्यं, श्वासोच्छ्वासक्रियादर्शनेन तदानीमपि तस्य प्रयत्नवत्तानिश्चयात्. ज्ञानाभावस्य मनःसंयोगाभावजन्यत्वेन ज्ञानाधारत्वयोग्यता-विघटनाभावात्. अतो ज्ञानाद्याधारत्वेन आत्मत्वसाधने तदभावस्य अदर्शनात् प्राणस्यैव आत्मत्वेन सिद्धिः, नतु ततो व्यतिरिक्तस्य आत्मनः. देहप्राणवियोगस्यैव मृत्युत्वेन जीवद्देहे तस्य आवश्यकत्वाद्, अतिरिक्तात्मानभ्युपगमेन पदार्थलाघवात् च. यदिच योगिनां श्वासनिरोधेऽपि जीवनज्ञानदर्शनात्

तदतिरिक्तएव आत्मा इति विभाव्यते, तदापि निरुद्धवृत्तिप्राणस्य तद्देहे सत्त्वाद् न तदतिरिक्ता आत्मसिद्धिः. यदिच निरोधजनकस्य प्राणातिरिक्तत्वं विभाव्यते तदापि चेतनाधर्मकस्य तस्यैव लाघवात् सिद्धिः इति, न कथमपि प्राणभिन्ना आत्मसिद्धिः इति.

एवं क्षित्यादिकर्तृत्वाद्याश्रयत्वेन व्यापकप्राणसिद्धेः न अनुमानस्य ईश्वरसाधकत्वम्. एतेन अहंवित्तेरपि अप्रयोजकत्वम् उक्तप्रायम् इति श्रुतिः अनुसरणीयैव.

(इह सांख्यमतेन ईश्वरसत्तासाधकानुमानस्य प्रकृतिरूपार्थान्तरसाधक-तया अन्यथोपपत्तिः)

अत्र सांख्यास्तु *प्रकृतेः कर्तृत्वम् अंगीकृत्य ईश्वरं न मन्यन्ते. तथाहि प्रत्यक्षेण अनवगम्यमानस्य ईश्वरस्य कार्यत्वादिलिंगकानुमानेन कर्तृतया साधने तादृशप्रकृतिसिद्ध्या अर्थान्तरत्वेन तदसिद्धिः. तस्य कर्तृतानिर्वाहकम् आदायैव सिद्ध्यंगीकारेतु तुल्ययोगक्षेमत्वात् शरीरस्यापि सिद्धिः. सशरीरेश्वरांगी-कारेतु शरीरवद् रागस्यापि अन्वयव्यतिरेकसिद्धत्वाद् रागिणः ईश्वरस्य सिद्ध्या तस्य जीवतुल्यतापत्तिः नित्यमुक्तत्वहानिः च.

नच *प्रकृतेः जडत्वेन कर्तृत्वानुपपत्तौ तदधिष्ठातृत्वेन विवक्षितस्यैव ईश्वरस्य सिद्धिः* इति शंक्यम्, अधिष्ठातृत्वस्यैव विचार्यत्वात्. तथाहि किंनाम अधिष्ठातृत्वं : प्रकृतिनियामकत्वं वा, तत्सन्निहितत्वं वा, तस्यां प्रतिबिम्बितत्वं वा ?

नाद्यः, चेष्टां विना ज्ञानादिमात्रेण तथा अंगीकारे जीवानामपि तथात्वापत्तेः. तथा सति अनेकेश्वरापत्तेः च. न द्वितीयः तदापि उक्तदोषापत्तेः तत्सन्निधानस्य सर्वेषु तौल्यात्. न तृतीयः प्रतिबिम्बिते शरीरे मणौ च चलति शरीरमणिचलनप्रतीतिवत् प्रकृतिकर्तृत्वेनैव तस्य तस्मिन् कर्तृत्वाभिमानात् स्वातन्त्र्यासिद्ध्या परिभाषिकत्वापत्तौ विवक्षितरूपेश्वरासिद्धेः.

किञ्च ज्ञानादिमात्रेण आत्मनो जडनियामकत्वांगीकारे मृतशरीरेऽपि आहारादिक्रियापत्तिः. तदभावात् तस्याः प्राणबुद्ध्यादिकार्यत्वेन, मृतशरीरे च तेषाम् अभावाद् जीवच्छरीरेऽपि तेषामेव नियामकत्वसिद्ध्या आत्मनि तदभावात्. अतः पुरुषच्छायापातेन चेतनत्वापन्नस्य बुद्ध्यादेः अन्तःकरणस्यैव अधिष्ठातृत्वं नतु तटस्थस्य आत्मनो अग्निसम्बन्धेन लोहस्य दाहकत्ववत्. अतो न एवमपि ईश्वरसिद्धिः.

किञ्च तस्य स्वातन्त्र्येण कर्तृत्वे अकृताभ्यागमादिप्रसक्तिः, कर्मसहकारित्वे अनीश्वरत्वापत्तिः; तथा स्वार्थं जगत्करणे अनाप्तकामत्वापत्तिः, परार्थं करणे वैषम्यनैर्घृण्यादिप्रसक्तिः. अतः प्रकृतिरेव कर्त्री. ''**प्रधानाद् जगद् जायते**'' (?) इति श्रुतेः. नच ''**स हि सर्ववित् सर्वकर्ता**'' (?) इति श्रुतेः ईश्वरस्य कर्तृत्वं शंक्यम्, एतस्य मुक्तात्मोपासा-सिद्धात्मा-ऽन्यतरप्रशंसा-परत्वाद् * इति आहुः.

(ईश्वरसत्तायाः अनुमानमूलकत्वे श्रीरामानुजाचार्योक्तदूषणानि)

रामानुजाचार्याश्च : * क्षित्यादिषु सावयवत्वेन कार्यत्वमपि न अनुमातुं शक्यम्, ''अकार्यम् अशक्यत्वाद् अशक्योपादानविज्ञानत्वात् 'महाभूत'शब्दवाच्यत्वात् च आकाशवद्'' इति भट्टभास्करोक्तैः प्रत्यनुमानैः तस्य सत्प्रतिपक्षत्वात्. यदिच आकाशे निरवयवत्वस्य अनुकूलतर्कस्य सत्त्वेन क्षित्यादिवायुपर्यन्तेषु तदभावेन उक्तहेतूनाम् अप्रयोजकत्वं विभाव्यते तदापि कार्यत्वेन हेतुना बुद्धिमत्कर्तृपूर्वकत्वमात्रसिद्ध्या तादृशक्षेत्रज्ञानामेव कर्तृत्वेन सिद्धिः इति हेतोः अर्थान्तरसाधकत्वाद् न तेन ईश्वरसिद्धिः. नच क्षित्यादिवायुपर्यन्तस्य पक्षीकरणेन तदुपादानगोचरापरोक्षज्ञानादिमत्त्वस्य क्षेत्रज्ञेषु अशक्यवचनतया पक्षधर्मताबलात् तत्सिद्धिः ''विवादाध्यासितं क्षित्यादिकं स्वोपादानगोचरापरोक्षज्ञानादिमदनेककर्तृपूर्वकं कार्यत्वाद् विचित्रसन्निवेशसार्वभौमसदनवद्'' इति दृष्टान्तेन अनेककर्तृसिद्ध्या पक्षधर्मतायाः दुर्बलत्वात्. महीमहार्णवादीनां कार्याणाम् अनेकत्वात् तेषां सर्वेषाम् एकदा एकेन निर्मितत्वे प्रमाणभूतस्य हेतोः अभावात् पृथग्भूतेषु कार्येषु कालभेदकर्तृभेदयोः प्रत्यक्षसिद्धत्वेन प्रत्युत बाधात्.

नच * जीवानां तादृशनिर्माणशक्त्यदर्शनेन तन्निवृत्तौ कार्यत्वबलेनैव तत्सिद्धिः * इति वाच्यं, पूर्वम् अशक्तानामपि पश्चात् पुण्यविशेषोपचयेन शक्तिदर्शनात्. पुण्यविशेषोपचयेन अतिशयितादृष्टसम्भावनया च तादृशविलक्षणकार्यकर्तृत्वस्यापि सम्भवात्.

इदमेव उक्तं कपिलाचार्यैः ''**मुक्तात्मनः प्रशंसावाक्यम् उपासा सिद्धस्य वा**'' (सांख्यसू.१।९५) इति सूत्रे. इदं योगमतस्यापि उपलक्षकम्.

किञ्च युगपत्सर्वोत्पत्तिस्थिती न प्रमाणपदवीं व्रजतो, लोके क्रमेणैव तयोः दर्शनाद् युगपत्तत्कल्पकस्य हेतोः अशक्यवचनत्वात् क्रमेण तत्कल्पने विरोधाभावात् च. अतः ''क्षित्यादिकं बुद्धिमदेककर्तृकं कार्यत्वाद् घटवद्'' इत्यत्र ''तद् न एककर्तृकं कार्यत्वाद् घटपटस्तम्भादिसमूहवद्'' इति दृष्टान्तेन हेतोः साधारणत्वम्. तथा ''भूभूधरादिनिष्ठं कार्यत्वं न बुद्धिमदेककर्तृकत्वसाधकं समूहनिष्ठत्वाद् घटपटस्तम्भादिसमूहनिष्ठकार्यत्ववद्'' इति अनुमानान्तरादपि तथा.

किञ्च इदं दिक्क्षित्यादिगतं कार्यत्वं युगपदुत्पद्यमानसर्वगतं वा, क्रमिकोत्पद्यमानसर्वगतं वा? आद्ये आश्रयासिद्धत्वम्. द्वितीयेतु विरुद्धत्वम्. तस्माद् न कार्यत्वलिंगकानुमानेन ईश्वरसिद्धिः. नापि ''जगद् एकचेतनाधीनम्, अचेतनारब्धत्वाद् नीरोगस्वशरीरवद्'' इति अनुमानात् सिद्धिः. तथाहि किम् इदम् एकचेतनाधीनत्वम्? एकचेतनायत्तोत्पत्तिस्थितिकत्वम् इति चेद् न, नीरोगस्यापि शरीरस्य पितृपुत्राद्यनेकचेतनादृष्टजन्यत्वेन तदुत्पत्तिस्थित्योः तदधीनत्वेन एकचेतनाधीनत्वाभावात्. दृष्टान्ते साध्यवैकल्येन हेतोः असाधारणत्वापत्तेः. किञ्च शरीरस्थितिरपि किं स्वावयवसमवेतता उत प्राणनम्? आद्ये अवयवाधीनत्वाद् न चेतनाधीनत्वं घटादिवत्. द्वितीये क्षित्यादीनां शरीरत्वाभावेन पक्षे असम्भवः इति पक्षसपक्षानुगतस्थित्यनुपलम्भः. नापि एकचेतनाधीनप्रवृत्तिकत्वं, पक्षान्तर्भूतेषु गुरुतर-रथशिलामहीमहीरुहादिषु अनेकचेतनाधीनप्रवृत्तिकत्वदर्शनेन व्यभिचारात्. नापि चेतनमात्राधीनत्वम्. सिद्धसाधन-

त्वाद् अर्थान्तरापत्तेः च.

किञ्च ''ईश्वरः कर्ता न भवति प्रयोजनशून्यत्वाद् अशरीरत्वात् च मुक्तात्मवद्'' इति बाधकानुमानादपि न ईश्वरे कर्तृत्वसिद्धिः. किञ्च अत्यन्तापरिदृष्टेश्वराख्यपुरुषस्य तस्मिन् सामर्थ्यविशेषस्य च कल्पने अत्यन्तगौरवात् क्लृप्तानां जीवानामेव तपोयोगयागादिलब्धसामर्थ्यानामेव कर्तृत्वेन कल्पनं लघीयः इति अचेतनारब्धत्वलिंगकानुमानेनापि न ईश्वरसिद्धिः * इति आहुः.

(''कार्यायोजनधृत्यादेः...'' कारिकायाः भवदेवमिश्रोक्तव्याख्या)

यत्तु *''**कार्यायोजन...**'' इत्यादिकारिकाव्युत्पादने भवदेवश्रिमः : अत्र प्रथमे प्रयोगे कर्तृजन्यत्वन्तु 'स्वोपादानगोचरापरोक्षज्ञानचिकीर्षाकृतिमददृष्टाद्वारकजन्यत्वम्'. अत्र 'अदृष्टद्वारक'-इति विशेषणाद् न जीवात्मनिरूपितादृष्टद्वारकजन्यत्वेन सिद्धसाधनम् अर्थान्तरम् वा. जीवानां क्षित्याद्युपादानीभूतपरमाण्वादिगोचरापरोक्षज्ञानाभावेन तज्जन्यत्वे बाधाद् न तैरपि तथा. नच * क्षितिघटादिसाधारणस्य एकस्य साध्यस्य अभावेन स्वपदार्थाननुगमात् कथम् व्याप्तिग्रहः * इति वाच्यं, स्वपदार्थाननुगमस्य अदोषत्वात्. अन्यथा इच्छादिना ज्ञानाद्यनुमानं न स्याद्, स्वविशेष्यकस्वत्वप्रकारकज्ञानत्वादिनैव तत्र कार्यकारणभावात्. अत्रच स्वकर्तृकत्वादिसाधकानुमाने कर्तृत्वेनैव कारणता, ज्ञानजन्यादिसाध्यके च ज्ञानत्वादिना. एवम् कार्यतापि कार्यत्वेन जन्यत्वेन च. नच शरीरगौरवेण अप्रयोजकत्वं शंक्यम्, अवच्छेदककोटौ घटत्वादीनां प्रवेशे आनन्त्यगौरवाद् ध्वंसस्य जन्यत्वेन तस्य च जन्याभावत्वेन अवच्छेदकतया प्रवेशे शरीरे गौरवात् च. एवन्तु विवक्षितविवेके जन्याभावत्वैकदेशस्य जन्यत्वस्यैव प्रवेशइति शरीरलाघवात् सामान्यलाघवाद् एकत्वलाघवात् कल्पनालाघवात् उपस्थितिलाघवात् च जन्यत्वेनैव कार्यता न घटत्वादिना. कार्यत्वञ्च स्वसमवायिजन्यताख्येन परम्परासम्बन्धेन कृतित्वमेवेति न तत्रापि गौरवम्. नच * विशिष्यान्वव्यतिरेकाभ्यां घटत्वकुलालत्वादिना विशेष्यकार्यकारणभावस्य आवश्यकत्वात् सर्वमेव तद् विरुद्धम् * इति वाच्यं,

कार्यमात्रवृत्तिजातीनां कार्यतावच्छेदकत्वम् इति सिद्धान्तसमुद्घोषात्. नच * अंकुरादौ हेतोः विपक्षगामित्वेन अनैकान्तिकत्वम् * शंक्यं, तत्र साध्यसन्देहस्य अनन्याहितत्वेन तस्य पक्षसमत्वात्. नच * शरीरजन्यत्वस्य उपाधेः विद्यमानत्वात् शरीरजन्यत्वस्य प्रतिसाधनस्य सत्त्वात् च साध्यसन्देहस्य अन्याहितत्वेन अनैकान्तिकत्वम् सिद्धम् * इति शंक्यं, कर्त्रादिजन्यतायामपि गुरुभूतस्य शरीरजन्यत्वस्य अनवच्छेदकत्वात् लघुभूतस्य जन्यत्वमात्रस्यैव अवच्छेदकत्वेन तस्यच साधनव्यापकत्वेन अनुपाधित्वे हेतोः अदुष्टत्वात्. एवञ्च कर्त्रादिजन्यतायामिव शरीरजन्यतायामपि जन्यत्वस्यैव अवच्छेदकत्वाद् ईश्वरे नित्यज्ञानादिकमिव नित्यशरीरत्वस्यापि अंगीकारेण प्रतिसाधनदोषस्यापि अभावात्. अनुमानञ्च ''क्षित्यादिकं शरीरजन्यं जन्यत्वाद् घटवद्'', ''ईश्वरः शरीरी कर्तृत्वात् कुलालवद्'' इति. अनुकूलतर्कः च अत्र कर्तृत्वजन्यत्वाभ्यामिव शरीरित्वजन्यत्वाभ्यामपि पूर्वोक्तयुक्तितुल्ययुक्तिकएव कार्यकारणभावः. श्रुतयश्च ''**यतो वा इमानि भूतानि जायन्ते**'' (तैत्ति.उप.३।१) इत्यादि, ''**सहस्रशीर्षा पुरुष**'' (पुरु.सू.१) इत्यादि, ''**आकाशशरीरं ब्रह्म**'' (तैत्ति.उप.१।६) इत्यादयः * उक्ताः.

(अत्र नवीनमतम्)

यदपि श्रुतीनां च अनुकूलतर्कविधया स्वतन्त्रतया च ब्रह्मणि प्रामाण्यम् इति नवीनमतं, साम्प्रदायिकमते शरीरस्य कुलालशरीरत्वादिनैव कारणत्वं नतु शरीरत्वेन, इति ईश्वरस्य नित्यशरीरम् लोकानुग्रहेण व्यवहारप्रवर्तनार्थम्. अतो अस्मदाद्यदृष्टजनिते रामकृष्णादिनामके शरीरे भूतावेशन्यायेन आवेशः कार्यकरणानन्तरं च त्यागः इति.

(ईश्वरसत्ताविषये अभिनवमतम्)

अभिनवमतेतु * महेश्वरस्य विश्वमेव शरीरम्. तच्च नित्यानित्यपुञ्जघटितमिति अनित्यांशविरामेऽपि नित्यांशम् आदाय नित्यमेव. आकाशात्मकञ्च नित्यमेव रामकृष्णादिनामकन्तु आविर्भावतिरोभावशालि भक्तानुग्रहेण कदाचित् क्वचिद् आविर्भवति तिरोभवति च.

(ईश्वरसत्ताविषये तत्त्ववादिमतम्)

अतएव तत्त्ववादिभिः मूर्तमपि तन्नित्यं विभु च इति अंगीक्रियते सर्वत्र सर्वदा तथाभूतभक्तभावनया भक्तेः साक्षात् क्रियमाणत्वात्. तादृशसाक्षात्कारस्य प्रमात्वे सम्भवति भ्रमत्वकल्पनस्य अन्याय्यत्वात्. तद् उक्तम् "**औत्सर्गिकं धियां प्रमात्वम्**" (?) इति विश्वात्मकन्तु योगिप्रत्यक्षगम्यमपि विश्वरूपदर्शनादौ श्रूयतएव सहस्रशः. एवं श्रुत्यादिभिः शरीरे अंगीकृते तदनुसारिसकर्तृकत्वानुमानं निर्दुष्टमेव. एवम् एकेन ईश्वरेण सकलक्षित्यादिकार्यसम्भवे सति प्रमाणाभावाद् गौरवात् च न अनेकेश्वरसिद्धिः.

किञ्च अनेकेश्वरांगीकारे तेषाम् ऐकमत्यं वैमत्यं वा स्याद्? तत्र आद्ये स्वातन्त्र्याभावेन ऐश्वर्यहानिः, द्वितीयेतु कार्यासिद्धिः इति कार्यदर्शनाद् "**एकमेव अद्वितीयं ब्रह्म**" (छान्दो.उप.६।२।१)इत्यादिश्रुतिभ्यः तादृशैः पुराणैः च एकत्वसिद्धिरिति न पूर्वोक्तं किमपि दूषणम्, एवम् एकेश्वरसिद्धौ कर्मत्वादिलिंगकानुमानान्यपि तम् एकमेव साधयन्ति इति न कोऽपि क्वापि दोषइति.

(ईश्वरसत्तानुमानेषु दूषणोपपादनम्)

तत् सर्वमपि अविचारचारु, रामानुजाचार्योक्तानां सार्वभौमसदनदृष्टान्तस्य महीमहार्णवेत्यादिपूर्वोक्तदोषाणाम् अनुद्धारेण सिद्धसाधनादिदोषाणां हेतोः आभासतायाः च अनिवृत्तेः. एवं शरीरित्वसाधकानुमानेऽपि कपिलोक्तानां रागादीनां दोषाणाम् अनपगमात् जीवतुल्यत्वापत्त्यनुद्धारएव. एवमेव जन्यलिंगकज्ञानजन्यत्वादिसाधकानुमानेऽपि द्रष्टव्यम्. अतः श्रुतिसाहाय्यं विना कथमपि न निर्वाहः. एवं कर्मत्वलिंगकानुमानमपि आश्रयासिद्धम् "**असतः सद् ये ततक्षुः**" (तैत्ति.आर.१।११।१) इत्यादिश्रुतिषु, "**तद् मायाफलरूपेण केवलं निर्विकल्पितं वाङ्मनोगोचरं सत्यं द्विधा समभवद् बृहत्**" (भाग.पुरा.११।२४।३) इत्यादि भगवद्वाक्येन. अत्रापि विभागादेव सृष्टिकथनेन पक्षतावच्छेदकस्य पक्षे अभावात्.

एवं धृतिपक्षकानुमानेऽपि धृतेः ब्रह्माण्डादिपतनात्यन्ताभावरूपत्वं वा

तत्प्रागभावरूपत्वं वा वक्तव्यं, तयोः उभयोः अनादित्वेन चेतनप्रयत्नपूर्वकत्वाभाद् बाधितत्वम्. अतः 'धृति'शब्दार्थो विष्टम्भात्मकसंयोगविशेषो वक्तव्यः. तदापि चेतनप्रयत्नपूर्वकत्वे साध्ये तादृशानेकजीवप्रयत्नेन सिद्धसाधनम् अर्थान्तरं वा, एकचेतनप्रयत्नपूर्वकत्वसाध्येतु गुरुतररथशिलादिदृष्टान्तेन हेतोः साधारणत्वम् दुरपोहम्. एवं ब्रह्माण्डादिपक्षकानुमानेऽपि सिद्धसाधनादिकम्. एकप्रयत्नवद्विनाश्यत्वसाधनेतु खन्यमानमहाभवनदृष्टान्तेन हेतोः साधारणत्वं द्रष्टव्यम्. एवं व्यवहारपक्षके अनुमानेऽपि लिप्यादिव्यवहारसांकेतिकप्रयोगदृष्टान्तेन उक्तदोषादिकं द्रष्टव्यम्. तथा धर्मादिज्ञानपक्षानुमानेऽपि वेदापौरुषेयवादिनं प्रति सिद्धसाधनादिदोषदुष्टत्वम्. एवं वेदत्वलिंगकानुमाने हेतोः साधारणत्वं, तथा वाक्यलिंगकानुमानेऽपि आकाशवाणीदृष्टान्तेन हेतोः असाधारणत्वम्. एवं द्व्यणुकपक्षकानुमानेऽपि तादृशसंख्याज्ञानस्य योगिनामपि सम्भवात् तैः अर्थान्तरम् इति सर्वाण्येव आभासरूपाणि.

एवं नवीनमते यद् ईश्वरस्य शरीरम् अंगीकृतं तदपि युक्तिमूलत्वे रागादिमत्त्वप्रयोजनवत्त्वाद्यापत्त्यपरिहारात् दुष्टमेव. श्रुतिमूलत्वेतु श्रुतिषु सच्चिदानन्दात्मकतदभिन्नशरीरांगीकारात् कर्तृत्वस्यापि तस्य उक्तत्वात्. आसां श्रुतित्वेनैव प्रामाण्यं तदनुगतत्वेन इति.

यदपि अभिनवमते *ईश्वरस्य विश्वात्मकं शरीरम् अंगीकृतं तत् च नित्यानित्यपुञ्जघटितत्वेऽपि नित्यांशम् आदाय नित्यम् आकाशादिरूपम् च नित्यमेव* इति उक्तं तदपि फल्गु, कर्तृत्वनिर्वाहकत्वेन अंगीक्रियमाणस्य तस्य विश्वपूर्वभावित्वस्य आवश्यकत्वेन विश्वात्मकत्वानुपपत्तेः. नित्यांशम् आदाय तस्य पूर्वभावित्वांगीकारे तस्य परमाण्वादिरूपत्वेन कर्तृतानिर्वाहकत्वविरहप्रसंगात्. नच नित्यानित्यपुञ्जात्मकमेव तद् इत्यपि युक्तं "**यस्य पृथिवी शरीरम्**" (बृह.उप.३।७।३) इत्यादि श्रुतिगतप्रत्येकपर्याप्तैकत्वविरोधप्रसंगात्. "**सर्वतः पाणिपादं तत् सर्वतोक्षि...**" (श्वेता.उप.३।१६) इत्यादिश्रुतिविरोधापत्तेः च. तस्माद् शास्त्रैकसमधिगम्यं ब्रह्म इति सिद्धम्.

तद् उक्तम् बृहदारण्यके शाकल्यब्राह्मणे याज्ञवल्क्येन "**सएष 'न' इति**

आत्मा, अगृह्यो नहि गृह्यते, अशीर्यो नहि शीर्यते, असंगो नहि सज्यते न व्यथते, इत्येतानि अष्टौ आयतनानि अष्टौ लोकाः अष्टौ पुरुषाः. स यः तान् पुरुषान् व्युदुह्य प्रत्युह्य आक्रामीत्. तं तु औपनिषदम् पुरुषम् पृच्छामि'' (बृह.उप.३।९।२६) इति वाक्ये मूर्तामूर्तब्राह्मणवदेव निषेधपूर्वकम् कर्णाद्यग्राह्यो नित्यो असंगो निर्दुःखः शारीरादीन् अष्टपुरुषान् पृथिव्याद्यायतनेषु तत्तल्लोकेषु च विशेषेण उच्चैः स्थापयित्वा ततः उपसंहृत्य यो अतिक्रान्तवान् एतादृशः उपनिषद्वेद्यः पुरुषः पृष्टः, तत्र यदि अनुमानवेद्यत्वं भवेत् तदा 'अग्राह्य'पदेन न सामान्यतो निषिध्येत, औपनिषदम् इतीव आनुमानिकमपि प्रतिप्रसूयेत.

(तस्माद् ब्रह्मणः श्रुत्येकवेद्यत्वोपपादनम्)

तस्माद् उपनिषदतिरिक्तप्रमाणागोचरत्वमेव श्रुत्यभिप्रेतम् इति ज्ञायते. नच *'अग्राह्य'पदेन इन्द्रियाग्राह्यत्वम् उच्यते* इति शंक्यं, तथा सति अनुमानादिनापि वेद्यत्वसिद्धौ 'औपनिषद'पदस्य अनतिप्रयोजनत्वापत्तेः. अतो 'अग्राह्य'पदेन यावत्प्रमाणागोचरत्वम् आवेदयद् 'औपनिषद'पदम् उपनिषत्प्रति-प्रसवं साधयत् केवलोपनिषद्वेद्यत्वम् आवेदयति.

स्याद् एतद् *''**सर्वे वेदाः यत्पदम् आमनन्ति**'' (कठोप.१।२।१५) इति श्रुत्युक्तम् अधिकवेद्यत्वं, ''**मनसैव अनुद्रष्टव्यम्**'' (बृह.उप.४।४।१९) इति श्रुत्युक्तं मनोवेद्यत्वं, तथा योगिप्रत्यक्षगम्यत्वम् ''**अनागतम् अतीतं च वर्तमानम् अतीन्द्रियं विप्रकृष्टं व्यवहितं सम्यक् पश्यन्ति योगिनः**'' (भाग.पुरा.१०।५८।२१) इति वाक्यात्, तथा विश्वरूपदर्शनम्. किञ्च ''**उपपत्तेः च**'' (ब्र.सू.३।२।३५) इत्यादिसूत्रे युक्त्युपन्यासः. ''**आचारदर्शनाद्**'' (ब्र.सू.३।४।३) इति सूत्रं विरुध्येत* इति

मा एवं, ''**सर्वे वेदाः...**'' इत्यस्य औपनिषदत्वेन सर्ववेदवेद्यत्वस्यापि उपनिषन्मात्रवेद्यत्वात्. एवं मनसोऽपि औपनिषदत्वेन अदोषात्. तथा योगिप्रत्यक्षविषयत्वमपि न, ''**विदूरकाष्ठाय मुहुः कुयोगिनाम्**'' (भाग.पुरा.२।४-

।१४) इति वाक्याद्, ''**यमेव एष वृणुते**''(मुण्ड.उप.३।२।३) ''**धातुः प्रसादाद्**'' (महाना.उप.१०।१) इति श्रुतेः च. एवञ्च ''**अनागतम्...**'' इत्यत्र 'ब्रह्मभिन्नम्' इति वाच्यम्. एवं विश्वरूपदर्शनमपि ''**मया प्रसन्नेन, तव अर्जुन! इदं रूपं परं दर्शितम् आत्मयोगाद्**'' (भग.गीता.११।४७) इति औपनिषदप्रसादादेव. ''**उपपत्तेः च**'' इत्यत्र यद् उपपत्त्युपन्यसनं तदपि न ब्रह्मस्वरूपज्ञापकतया किन्तु हेत्वाभासैः परान्तराशंकानिरासकतया. ''**आचारदर्शनाद्**'' इति सूत्रस्यतु कर्म विषयो न ब्रह्मेति न किञ्चिद् एतत्.

*ननु ''**मन्तव्यः...**'' (यथापूर्वं तत्रैव) इति श्रुत्या युक्तिभिः अनुचिन्तनरूपं मननं विहितं, युक्तयः च अनुमानरूपेति श्रुत्यनुकूलानुमानस्य प्रामाण्यं श्रुतिसूचितमिति कथम् अनुमानम् अप्रमाणम्?* इति चेद्, न वयम् अनुमानस्य अप्रामाण्यं वदामः किन्तु करणत्वं निषेधामइति, मननादेः श्रवणांगत्वेन अनुमानादेः सहकारित्वम् अनुमोदामहे.

एतेन अत्र ''**मां मार्गयन्ति अद्धा युक्ताः हेतुभिः ईश्वरं गृह्यमाणगुणैः लिंगैः अग्राह्यम् अनुमानतः**'' (भाग.पुरा.११।७।२३) इति श्रीभागवतवाक्यगतम् अनुमानमपि व्याख्यातं बोध्यम्.

(ग्रन्थोपसंहारः)

अतः श्रुतिम् अन्तरेण न अनुमानं ब्रह्मप्रमितिजननाय अलम् इति सुधीभिः अवधेयम्.

नच अन्योन्याश्रयस्य बाधकत्वं वक्तव्यम्, अनधिगतार्थगन्तृत्वेनैव प्रामाण्यस्वीकारात्. नैयायिकमतादरस्तु नास्तिकादिमतदूषकत्वेन शिष्टानां भूषणधारणार्थं लाक्षाधारणवत्. इदम् अभिसन्धाय उक्तम् आचार्यैः जन्मादिसूत्रभाष्ये ''**इतरमतम् अनूद्य 'तं तु औपनिषदं पुरुषं पृच्छामि' इति केवलोपनिषद्वेद्यत्वाद् उपेक्ष्यम्**'' (अणुभा.१।१।२) इति. तद् एतद्

निबन्धे निष्कृष्टं "वेदाः श्रीकृष्णवाक्यानि व्याससूत्राणि चैव हि समाधिभाषा व्यासस्य प्रमाणं तच्चतुष्टयम्. उत्तरं पूर्वसन्देहवारकं परिकीर्तितम्" (त.दी.नि.१।७) इत्यनेन. अतएव "नच वेदाद् ऋते किञ्चित् शास्त्रं ब्रह्माभिधायकम्" (कूर्मपुरा.१।११।२७१) इति कौर्म्ये उक्तम् इति सर्वं शुभम्.

सर्वसाधनहीनेन कृपामात्रावलम्बिना॥
कृतेनानेन प्रभवः तुष्यन्तु मयि ते सदा॥३॥

इति श्रीविद्वन्मण्डनगोकुलोत्सवात्मजगोपेश्वरविरचितो
अयं आत्मवादः सम्पूर्णः

वादावलीपरिशिष्टम्

(१)

॥ प्रश्नोत्तरसाहस्री*पर्यालोचनम्॥

(१००० संख्याके प्रश्नोत्तरे)

(प्र.) **"मायावादम् असच्छास्त्रं प्रच्छन्नं बौद्धम् उच्यते"** (पद्मपुरा. । ।) इति मायावादोऽपि पुराणेषु निन्दितइति कथम् औपनिषदम् अद्वैतदर्शनमपि? (उ.) ब्रह्ममीमांसायाम् अत्यन्तानपेक्ष्यदर्शननिरसनप्रकरणे प्रपञ्चमायामात्रत्ववादस्य अपरामर्शाद् "मायावादम् असच्छास्त्रम्" इति वाक्यं "नहि निन्दा..."न्यायेन अन्यस्तुत्यर्थम् इत्येव बादरायणाशयः. अतएव ब्रह्ममीमांसायामेव उत्तरत्र **"मायामात्रन्तु कात्स्न्र्येन अनभिव्यक्तस्वरूपत्वाद्"** (ब्र.सू.३।२।३) इति बादरायणाचार्यैरेव मायामात्रत्ववव्यवस्थापनम् उपपद्यते.

*'प्रश्नोत्तरसाहस्री' ग्रन्थके लेखक समादरणीय श्रीअनन्तकृष्ण शास्त्रीजी हमारे पितृचरणके केवलाद्वैतवेदान्तके विद्यागुरु थे. इन दोनों गुरुशिष्योंके बीच शास्त्रचर्चार्थ परस्पर गाढ़ स्नेह अतीव विलक्षण था! जबभी शास्त्रीजी वैष्णवमतकी आलोचनाके रूपमें कोई ग्रन्थ लेखबद्ध करते तो उसके प्रकाशनार्थ यथाशक्य आर्थिक सहयोग प्रदान करनेको पितृचरणको स्नेहानुरोध करते और कहते कि "दीक्षितजी केवल आर्थिक सहयोग ही नहीं, इसका प्रत्युत्तर भी लिखना पड़ेगा!". फिरतो उनके नगरनिवासकी अवधिमें गुरुशिष्यके बीच प्रतिदिन घमासान मौखिक शास्त्रार्थ चलता! दुर्भाग्यवश, किन्तु, वे सब लेखबद्ध हो नहीं पाये. केवल यही एक शास्त्रचर्चा स्वयं पितृचरणने लेखबद्ध की और प्रकाशित भी करवायी थी, अड़तालिस वर्षपूर्व, जिसे यहां पुनःप्रकाशित कर रहे हैं, प्रस्तुत वादसंकलनसे सम्बद्ध विषय होनेके कारण. प्रथम प्रकाशनमें मुद्रणाशुद्धिबाहुल्यके अलावा प्रश्नोत्तरीसन्दर्भ भी दिया नहीं गया था अतः पाठसंशोधनके साथ-साथ उन्हें यहां योजित किया गया है (गो.श्या.म.).

इदमेव अभिप्रेत्य आम्नातं ''**मायामात्रम् इदं द्वैतम् अद्वैतं परमार्थतः**'' (गौडपा.कारि.१।१७) इति. ब्रह्ममीमांसायां 'मायामात्रन्तु' इति यद्यपि स्वाप्निकान् अधिकृत्य प्रवृत्तं तथापि न्यायसाम्याद् द्वैतमात्रविषयकं मायामात्रत्वम् इत्यनेन आम्नानेन अवगम्यतइति निर्णीते द्वैतमात्रमिथ्यात्वे अद्वैतसिद्धिः अप्रत्यूहा इति सर्वं सुस्थम्.

(उक्तस्य उत्तरस्य पर्यालोचनाय मंगलाचरणम्)

प्रणम्य श्रीमदाचार्यान् कुमतध्वान्तनाशकान्।
अत्यसम्बद्धवादित्वं वादिनो वै प्रसाध्यते॥

(मंगलाचरणप्रतिज्ञातविषयोपक्रमः)

''**मायावादम् असच्छास्त्रं प्रच्छन्नं बौद्धम् उच्यते मयैव कथितं देवि कलौ ब्राह्मणरूपिणा**'' इत्यादिपुराणवाक्यैः बौद्धमतकल्पस्य मायावादस्य व्याहतार्थप्रतिपादकत्वम् आर्षवचनसिद्धमेवेति कृत्वा न अत्र विशेषतः साधनप्रयासावश्यकता श्रद्धावताम् आस्तिकानां पुरतो भाति. तथापि ''**प्रत्यक्षपरिकलितमपि अर्थं अनुमानेनैव तर्करसिकाः प्रतिबुध्यन्ते**'' इति अभियुक्तोक्तिम् अनुसृत्य वादरसिकानां कृते वादविधया मायावादिनो असम्बद्धवादित्वं प्रसाध्यते. *ननु अनेन पुराणवाक्येन बौद्धप्रायत्वमेव मायावादिनो अवगम्यते. बौद्धप्रायतामात्रप्रतिपादनेन व्याहतार्थभाषित्वं मायावादिनः कथं सेत्स्यति* इति चेद्, बौद्धस्यैव व्याहतार्थभाषित्वाद् इति ब्रूमः. *ननु बौद्धस्य व्याहतार्थभाषित्वे मायावादिनो व्याहतार्थभाषित्वं कथं सिध्यति?* इति चेत्, पुराणवाक्यद्वारा सादृश्यप्रतिपादनेनैव इति निभालय. यस्य येन सह सादृश्यादिकम् उच्यते, तन्न सर्वांशे, अपितु विवक्षितांशएव इति सर्वप्रेक्षावदनुभवगम्यम्. यथा 'चन्द्रवन्मुखम्' इत्यत्रापि आह्लादकत्वाद्यंशएव सादृश्यादिकं गृहीत्वा 'चन्द्रवद्' इति प्रयोगः क्रियते, तद्वद् अत्रापि व्याहतार्थभाषित्वाद्यंशएव सादृश्यं गृहीत्वा '**प्रच्छन्नबौद्ध**'पदप्रयोगः श्रीव्यासाचार्यैः कृतः. *ननु अत्र व्याहतार्थभाषित्वादिधर्माणामेव सादृश्यनियामकतया ग्रहणे किं विनिगमकम्?* इति चेद्, '**असच्छास्त्रम्**' इति उक्तिरेव.

यद्धि सम्बद्धवचनैः सम्बद्धरूपेण च पदार्थप्रतिपादकं, तदेव प्रेक्षावद्भिः '**सच्छास्त्रम्**' उच्यते. यत्रतु असम्बद्धवाचा असंबद्धतया च पदार्थानां निरूपणं भवति, तदेव '**असच्छास्त्रम्**' इत्येतत्तु अनुक्तसिद्धमेव. अत्र '**असच्छास्त्रम्**' इति उक्त्या बौद्धस्य मायावादिनः च उभयोरपि असम्बद्धवाचा असम्बद्धरूपेण च पदार्थप्रतिपादकत्वम् अस्ति इति ध्वन्यते.

''नहि प्रतिज्ञामात्रेण कार्यं सिध्यति'' इति न्यायाद्, यावता बौद्धमतस्य व्याहतार्थभाषित्वं तत्तुल्यरूपेण मायावादिनोऽपि व्याहतार्थभाषित्वं हेत्वाद्युपन्यासमुखेन न प्रसाध्यते, तावता पूर्वलिखितस्य सर्वस्यापि भागस्य नैरर्थक्यमेव भवतीत्यतः पूर्वं बौद्धस्य तदनुमायावादिनः च असम्बद्धवादित्वं प्रसाधयिष्यते. तत्र पूर्वं बौद्धानाम् असम्बद्धवादितायाः दिङ्मात्रप्रदर्शनं क्रियते :

''**उपायभूतं परमार्थसत्यम् उपेयभूतं परमार्थसत्यम्**'' (बो.च.पं.९।४) इति काचन कारिका बोधिचर्यावतारपञ्जिकायां प्रज्ञाकरभिक्षुणा उदाहृता, तत्र ''**उपेयभूतं परमार्थसत्यं**'' इति उक्तिस्तु तन्मतसमालोचने कृते असम्बद्धैव भाति. सर्वशून्यवादिमते सत्यस्य उपेयस्य कस्यापि अभावात्. यदि नाम शून्यतैव उपेयभूता सत्या अस्ति इति उच्यते चेद्, नहि शून्यतायाः उपेयत्वं केनापि बुद्धिमता वक्तुं पार्यते. भावरूपमेव वस्तु उपेयम् इति प्राप्यम् इति च संगिरन्ते पृथक् जनाः विद्वांसः च. यथा घटगेहादीनां प्राप्यत्वं न तथा तदभावस्य. यथा ''प्राप्तो घटः'' इति व्यपदेशो न तथा ''घटाभावः प्राप्तः'' इति व्यपदेशः केनचित् क्वचित् क्रियते. यदि नाम अनुभूतत्वमेव अत्र प्राप्यत्वम् उच्यते; उच्यतां नाम, नहि तद् युक्त्युपेतं भवति. अनुभव-प्राप्त्योः उभयोरपि विविक्ततयैव प्रतिपन्नत्वात्. यद्यत् प्राप्यते तत्तद् अनुभूयतएव इति कथं तयोः न संभिन्नत्वम्? वचनव्यक्तिविपर्यासेनैव तयोः भिन्नत्वं प्रत्यक्षसिद्धम् इति अवलोकय. यथा यद्यत् प्राप्यते तत्तद् अनुभूयते इति नियमः, न तथा ''यद् अनुभूयते तत् प्राप्यते'' इति नियमः. अतो येन सर्वशून्यत्वम् इति उच्यते तन्मते प्राप्तव्यस्य कस्यापि अभावाद् 'उपेयभूतम्' इति उक्तिस्तु वाच्यार्थहीनैव.

किञ्च माध्यमिकवृत्तौ बन्धमोक्षयोः कल्पितत्वप्रकाशनार्थं यद् ''**बद्धो न मुच्यते तावद् अबद्धो नैव मुच्यते. स्यातां बद्धे मुच्यमाने युगपद्बन्धमोक्षणे**'' (माध्य.कारि.१६।८) इत्यादिपद्यैः इह युक्तिनिकुरम्बोपन्यासो नागार्जुनेन कृतः, सोऽपि तत्समयविमर्शकानाम् अग्रे ''मम माता बन्ध्या'' इति वाक्यतुल्यएव प्रतिभाति. तथाहि बौद्धमतेऽपि निर्वाणम् अस्ति इत्येतत्तु पण्डितमारभ्य आऽजाविपालपर्यन्तं प्रसिद्धम् अस्ति. यदि मोक्षतया स्वीकृतः कश्चन 'निर्वाणा'भिधेयः पदार्थविशेषो अभ्युपगतः तर्हि तद् निर्वाणम् आलयविज्ञानरूपस्य चित्तसंततिप्रवाहस्य वा भवतु अथवा वैदिकाभिमतात्मनो भवतु, तत्र उभयत्रापि ''**बद्धो न मुच्यते**'' इत्याद्युक्तीनां बाधकत्वन्तु व्यक्तमेव अनुभूयते. स्वीकृतेऽपि निर्वाणे तद्बाधकयुक्त्युपन्यासमेव असम्बद्धवादः इति व्यक्तमेव. यथा बौद्धा असम्बद्धवादिनः तथैव मायावादिनोऽपि. एतत्तु ''**क्षणिकत्वात् च**'' (ब्र.सू.२।२।३१) इति सूत्राणुभाष्ये अस्मदाचार्यैः ''**माध्यमिकस्तु मायावादिवद् अत्यसम्बद्धवादित्वाद् उपेक्ष्यः**'' (अणुभा.२।२।३१) इति पंक्त्या प्रसाधितम्. तस्यैव भाष्यं प्रश्नोत्तरसाहस्रीगत-अद्वैतिभाष्यनिष्ठ-असमबद्धवादपरिहारपर-भागसमालोचनव्याजेन अस्माभिः एतस्मिन् ग्रन्थे क्रियते. यथा मायावादिनो असम्बद्धवादित्वं, तदपि ग्रन्थविचारावसरएव उपरिष्टाद् व्यक्तीभविष्यति.

यदपि बोधिचर्यावतारे ''**यदि नाम 'किञ्चिद् नास्ति' इति मनसिकाराभ्यासाद् भवति शून्यतावासनायाः प्रहाणं तथापि तदभ्यासात् पुनः अभावकल्पना प्रवर्तमाना निवर्तयितुम् अशक्या ततश्च गंडप्रवेशे अक्षितारानिर्गमो जातइति तदवस्थं तव दौष्ट्यम्**'' (बो.च.पं.९।३४) इति आशंक्य ''**यदा न लभ्यते भावो यो नास्ति इति प्रकल्प्यते**'' (बो.च.९।३४) इति उत्तरितम्. व्यक्ततया तत्र व्याहतार्थभाषित्वं दृष्यते. यदा निराश्रयो अभावो न तिष्ठति कथं तर्हि निराश्रया शून्यता तिष्ठति. निरालम्बनत्वस्य उभयत्रापि तुल्यत्वात्. किञ्च अभावस्य निरालम्बनस्थितिकत्वस्वभावेन एतद्दूषणस्य अनवसरपराहतत्वमेव. नहि अभावस्य सत्ताकाले प्रतियोगिसत्ता केनापि बुद्धिमता वक्तुं पार्यते. प्रतियोगिसत्त्वेतु अभावस्यैव अशक्यत्वात्. किञ्च तस्य सम्बन्धिनो अभावाद् इति पंक्त्या स्वयमेव अभावस्य

निरालम्बनस्थितिकत्वाभ्युपगमात्. नच *यो भावो नास्ति इति प्रकल्प्यते यस्य भावस्य प्रतिषेधः क्रियते स यदि विचार्यमाणो निःस्वभावतया न लभ्यते तैमिरिकोपलब्धकेशस्तबकवत्, तदा ''निराश्रयः...'' इति पंक्त्या यस्य भावस्य प्रतिषेधः तस्यैव निःस्वभावत्वप्रदर्शनेन निरालम्बनस्य निषेधस्य असम्भवग्रस्तत्वं प्रदर्शितम्* इति वाच्यम्, एवमपि ध्वंसस्यैव निषेधः स्यात्. ननु अत्यन्ताभावस्य अत्यन्ताभावाव्यतिरिक्तत्वात् शून्यतायाः. अन्यथा शून्यतायाअपि निषेधे निरस्ता शून्यवादाशापि. *ननु ''**न सद् न असद् न सदसद् न चापि अनुभयात्मकम्**'' (अद्वयवज्रसंग्र.१९) इति पद्येन शून्यताया असद्विलक्षणत्वप्रदर्शनेन अत्यन्ताभावस्य असत्कोटिनिविष्टत्वेन च न उक्तदोषाणां प्रसरः* इति चेद्, एतत् कथनस्यापि अभ्युपगममात्रैकशरणत्वाद् विद्वदुपेक्ष्यत्वमेव. तथाहि चतुष्कोटिविनिर्मुक्तस्य तत्त्वस्य कोटिद्वयविनिर्मुक्तस्य तत्त्वस्य च बौद्धगृहे अद्वैतिगृहएव सुप्रथितत्वन्तु अनुक्तसिद्धम्. लोकेतु सदसद्रूपपदार्थद्वयस्यैव प्रसिद्धिः 'असत्' 'शून्यं' 'तुच्छम्' 'असत्यम्' 'अनृतं' 'मिथ्या' 'मृषा' इत्यादिशब्दानां पर्यायत्वमेव कोषादिषु प्रसिद्धम् इति पूर्वोक्तदोषाणां स्थिरत्वमेव. असतएव प्रकारद्वयाभ्युपगमेन खपुष्पवन्ध्यापुत्रादीनाम् अप्रतीतिः मरुमरीचिकादीनां प्रतीतिरिति सर्वम् अनवद्यम्.

तस्माद् ''**यदा न लभ्यते भावो यो नास्ति इति प्रकल्प्यते तदा निराश्रयो अभावः कथं तिष्ठेद् मतेः पुरः. यदा न भावो नाभावो मतेः सन्तिष्ठते पुरः, तदा अन्यगत्यभावेन निरालम्बा प्रशाम्यति**'' (बो.च.९।३४-३५) इत्यादीनि वचनानि असम्बद्धवादबहुलानि इति सिद्धम्. *ननु सर्वम् एतद् असाधीयः ''**नच शून्यता भावाद् व्यतिरिक्ता, भावस्यैव तत्स्वभावत्वाद्. अन्यथा शून्यतायाः भावाद् व्यतिरेके धर्माणां निःस्वभावता न स्याद्**'' (बो.च.पं.९।३४) इति ग्रन्थभागेन शून्यतायाः भावस्वरूपत्वस्यैव अभ्युपगमात्, कथंवा अत्यन्ताभावाव्यतिरिक्तत्वं शून्यतायाः* इति चेत्, तन्मतेतु पदार्थानां संवृत्तिसत्वांगीकारेण संवृत्या भावरूपतायाः अभावएव पर्यवसितत्वेन तन्मतेऽपि परमार्थतो अभावस्यैव अंगीकारेण व्यावहारिकपदार्थे 'भावः' इति शब्दप्रयोगोऽपि असम्बद्धवादपोषकः किंवा ''**वञ्चनार्थम् उपन्यासो**

लालावक्त्रासवादिवद्''(श्लो.वा.निरा.वा.८) इति श्रीकुमारिलोक्त्यनुसारेण वञ्चनार्थएव.

(२९ संख्याके प्रश्नोत्तरे)

(प्र.)''**अन्योन्यधर्मान् च**'' (ब्र.सू.शां.भा.१।१।) इति बाधितमेव, सिद्धान्ते विषयिणो निर्धर्मकत्वात्. (उ.)''**जीव ईशो विशुद्धा चित् तथा जीवेशयोः भिदा अविद्या तच्चितोः योगः षड् अस्माकम् अनादयः**'' (?) इति सिद्धान्ते चैतन्ये शुद्धेऽपि अनादीनां धर्माणाम् अध्यस्तानां स्वीकारसम्भवाद् ''अन्योन्यधर्मान् च'' इति न विरुद्धम्. तद् उक्तम् ''**अक्षमा भवतः का इयं साधकत्वप्रकल्पने किं न पश्यसि संसारं तत्रैव अज्ञानकल्पितम्**'' (बृह.शां.भा.वा.१।४।१२१९) ''**आनन्दो विषयानुभवो नित्यत्वं च इति धर्माः अपृथक्त्वेऽपि चैतन्यात् पृथगिव अवभासन्ते**'' (ब्र.सू.शां.भा.पं.पा.१।१।१) इति विवरणमतानुसारेण समाधानम्. भामतीप्रस्थानेतु उपहितकारणतायाएव स्वीकारात् तस्यच निर्धर्मकत्वाभावाद् न उक्तायाः शंकायाः उत्थितिरपि.

(तत्पर्यालोचनम्)

शुद्धे यदि अध्यस्तधर्मस्वीकारः तर्हि शबले किं सत्यधर्मस्वीकारः? यदि शुद्धे शबले च अध्यस्तधर्मस्वीकारः तर्हि को वा विशेषः शुद्धस्य शबलस्य च? यदि शबले अध्यस्तधर्मसत्तया शुद्धत्वहानिः तर्हि कथं शुद्धे अध्यस्तधर्मसत्तया न शुद्धत्वहानिः? अध्यस्तधर्मसत्त्वेऽपि यदि शुद्धत्वं सुरक्षितम् अवतिष्ठते तर्हि शबलेनैव किम् अपराद्धम्? नहि अद्वैतिमते धर्मस्य सत्यत्वं कुत्रापि प्रसिद्धं, येन एकत्र सत्यधर्मसत्ता अपरत्र मिथ्याधर्मसत्ता इति विवेकप्रतिपादनं संगतं स्यात्. यदि उच्येत उपाध्यवच्छिन्नत्वमेव शबलत्वप्रयोजकं नतु अध्यस्तधर्मवत्त्वं, तेन अध्यस्तधर्मसत्त्वेऽपि उपाध्यवच्छिन्नत्वाभावात् शुद्धस्य न शबलत्वप्रसक्तिः. एतद् न क्षोदक्षमम्, उपाध्यवच्छिन्नत्वस्यापि अध्यस्तधर्मत्वरूपत्वेन सामान्यतो, अध्यस्तधर्मकूटे विशेषरूपेण एतस्यापि अन्तर्भावाद्, अस्यैव शबलत्वप्रयोजकत्वं न अध्यस्तधर्मवत्त्वस्य इति कथने विशेषविनिगमकाभावात्. किञ्च परस्परं

व्याप्यव्यापकभावसत्त्वेन यत्र उपाध्यवच्छिन्नत्वं तत्र अध्यस्तधर्मवत्त्वं यत्र अध्यस्तधर्मवत्त्वं तत्र उपाध्यवच्छिन्नत्वनियमेन साधनव्यापकतया उपाधिलक्षणा-लक्षितत्वाद् अस्य उपाधित्वाभावात्. वस्तुगत्या शास्त्रदृष्ट्या वा 'शुद्धत्व'व्यपदेशो यावत्सर्वमुक्तिपर्यन्तं, शुद्धत्वस्यैव असम्भवः इति पक्षेतु मुक्तेरेव उच्छेदप्रसंगः. मुक्तिप्राक्काले शुद्धज्ञानस्य अशक्यत्वेन, शुद्धस्यैव सत्यत्वेन शुद्धज्ञानेनैव भ्रमनिवृत्तिः न भ्रमात्मकशबलज्ञानेन इति असकृदावेदितम्.

(१४८ संख्याके प्रश्नोत्तरे)

(प्र.)यदि ब्रह्मण्यपि श्रुत्यादयएव न प्रमाणं, तर्हि कथं तस्य औपनिषदत्वाम्नानम्? (उ.)ब्रह्मणः औपनिषदत्वं हि प्राथमिकं ज्ञानं तस्य उपनिषन्मूलकम् इत्यभिप्रायकम्. तथाच अनुमानादिप्रमाणस्यापि श्रुतिमूलस्यापि तत्र प्रामाण्येऽपि न औपनिषदत्वस्य व्याघातः.

(तत्पर्यालोचनम्)

अनेन प्रश्नोत्तरेण ''**न धर्मजिज्ञासायामिव ब्रह्मणि श्रुत्यादयएव प्रमाणं किन्तु श्रुत्यादयो अनुभवादयः च यथासम्भवम् इह प्रमाणम्**'' (ब्र.सू.शा.भा.१।१।२) इत्यस्याः पंक्तेः सम्बद्धार्थप्रतिपादकत्वं निर्दुष्टत्वं च प्रतिपाद्यते किन्तु अस्याः पंक्तेः असम्बद्धार्थप्रतिपादकत्वाद्यनेकविधदोषदुष्टत्वाद् नैकेन असम्बद्धवादपरिहारेण सम्बद्धार्थप्रतिपादकत्वं निर्दुष्टत्वं वा समीहितं भवेत्. तथाहि द्वितीयाध्यायप्रथमपादस्य ''**दृश्यते तु**'' (ब्र.सू.२।१।६) इति सूत्रभाष्ये ''**आगममात्रसमधिगम्यएवतु अयम् अर्थो धर्मवद्**'' (शां.भा.तत्रैव) इति पंक्त्या ब्रह्मणः आगममात्रसमधिगम्यत्वं, धर्मस्यापि आगममात्रसमधिगम्यत्वं समानरूपेण अस्ति इति सिद्धान्तितं श्रीशंकराचार्यैः. ''**न धर्मजिज्ञासायाम्**'' इत्यत्रतु धर्मस्य आगममात्रसमधिगम्यत्वं ब्रह्मणस्तु इतरप्रमाणगम्यत्वमपि स्थाप्यतइत्ययं विरोधस्तु दुष्परिहरएव. ''ब्रह्मणः औपनिषदत्वाम्नानं उपनिषज्जन्यज्ञानस्य प्राथमिकत्वाभिप्रायेण तदनुश्रुत्यनुकूलानु-मानादीनामपि प्रवृत्तिः ब्रह्मणि सुखेन भवितुम् अर्हति, न तेन कथमपि औपनिषदत्वव्याघातः'' इत्यादि समाधानमपि तदैव संगतं स्याद् यदि न

''**धर्मजिज्ञासायामिव धर्मवद्**'' इति च सुस्पष्टविरुद्धपदद्वयास्तित्वम् अद्वैतिभाष्ये न स्यात्. यथा एतत्पदद्वयं विरुद्धं तथैव ''**आगममात्रसमधिगम्यएव**'' इति भागस्य ''**श्रुत्यादयएव न प्रमाणम्**'' इति भागस्यापि विरोधः स्पष्टएव अवगम्यते.

यदितु एवम् उच्यते : ''श्रुत्यादयो अनुभवादयः च'' इत्यत्र 'अनुभवादयश्च' इति पदेन उपनिषदनुकूलानुमानादीनामपि प्रवृत्तिः विवक्षितेति कथं ''**आगममात्रसमधिगम्य...**'' इति भागस्य ''**श्रुत्यादयएव न प्रमाणम्**'' इति भागस्य च मिथो विरोधः? तद् न चारु, श्रुत्यनुकूलानुमानादीनां प्रवृत्तिस्तु धर्मेऽपि अस्तीति ''**न धर्मजिज्ञासायामिव**'' इत्यनेन प्रतिपादितधर्मब्रह्मगतज्ञेयत्वांशवैलक्षण्यस्य नैरर्थक्यमेव स्यात्. धर्मेऽपि वेदानुकूलतर्कादिप्रवृत्त्यस्वीकारेतु पूर्वमीमांसायाः नैरर्थक्यमेव आयाति. मीमांसायाः तर्कस्य च भेदो अनुभूयते?* इति चेद्, न ''**मीमांसासंज्ञकः तर्कः सर्वो वेदसमुद्भवः**'' इति अभियुक्तोक्त्या भेदस्य बाधितत्वाद् अभेदएव वरीवर्ति. उभयमीमांसायां पादविशेषयोः 'तर्कपादः' इति अभिधानमपि श्रुत्यनुकूलतर्कस्य मीमांसायाः च तादात्म्यं प्रमाणयति. किञ्च उपक्रमन्यायापच्छेदन्यायादिष्वपि स्पष्टतया श्रुत्यनुकूलतर्कस्य उपजीवनं दृश्यते. तथाहि : अनुपसंजातविरोधित्वाद् उपक्रमस्यैव प्राबल्यम्, ''**पूर्वं परम् अजातत्वाद् अबाधेनैव जायते. परस्य अन्यथा उत्पादाद् न आद्याबाधेन सम्भवः**'' (मीमां.को.अपच्छे.न्या.). अपच्छेदस्थलेतु परस्यैव प्राबल्यं, अन्योन्यनिरपेक्षद्वये परस्यैव प्राबल्यम् इति नियमाद्, वचनमपि दृश्यते यथा ''**पूर्वात् परबलीयस्त्वं तत्र नाम प्रतीयताम् अन्योन्यनिरपेक्षाणां यत्र जन्म धियां भवेत्. पूर्वाबाधेन नोत्पत्तिः उत्तरस्य हि सिध्यति**'' (?) इति विभिन्नस्थलेषु विलक्षणरूपेण नियामकानाम् अनुपसञ्जातविरोधित्वान्योन्यनिरपेक्षद्वये पूर्वाबाधेन परस्य अनुत्पत्तिमत्त्वादीनां किं श्रुत्यनुकूलतर्करूपत्वं मीमांसकैः न स्वीक्रियते? तर्करूपत्वन्तु एतेषां प्रत्यक्षतया अवलोकनपथम् आयाति. नहि स्वानुभवापलापः सुधिभिः कर्तुं शक्यः. यत्तु मयूखमालिकायां सोमनाथेन उक्तम् '''**ऊहो वितर्के' इति धातुनिष्पन्न-'ऊह'शब्दस्य तर्कज्ञानार्थकत्वेन तस्यच**

अचोदनालक्षणत्वेन धर्माभावात् शास्त्रे व्युत्पाद्यत्वम् अयुक्तम्'' (शा.दी.म.-मा.९।१।१) इति तदपि श्रुतिप्रतिकूलतर्काद्यप्रामाण्याभिप्रायकमेव. ''**कृत्स्नशास्त्रस्यापि ऊह्यमानत्वेन नवमासाधारणत्वानुपपत्तेः**'' (तत्रैव) इति अग्रिमपंक्त्या अस्मदुक्ताभिप्रायस्यैव दृढीकरणात्.

(२००संख्याके प्रश्नोत्तरे)

(प्र.)अद्वैतमते प्रधानस्थानीयप्रकृतेरपि कारणत्वस्वीकारात् तत्कारणत्वेनैव ब्रह्मणोऽपि कारणत्वव्यवहारमात्रं इति सिद्धान्तस्यापि कौमुदीकारादिसम्मतत्वात् च किमर्थं प्रधानकारणवादनिरासः सूत्रकाराणां भाष्यकाराणां वा? (उ.)माया निमित्तकारणमेव न उपादानकारणम् इति भामतीसिद्धान्ते प्रकृतिकारणत्वेन न ब्रह्मकारणत्वं, विवरणमतेतु प्रकृतेः परिणामिकारणत्वं ब्रह्मणस्तु विवर्तोपादानकारणत्वं, संक्षेपशारीरकमतेऽपि भामतीमतमिव न मायायाः उपादानत्वं. ''ब्रह्माज्ञानाद् जगत् सर्वं ब्रह्मणो अकारणत्वतः'' इति वार्तिककानुसारिमतेतु मायामात्रकारणत्वेऽपि प्रपञ्चस्य ब्रह्माश्रिताज्ञानकार्यत्वस्यैव अंगीकारात् स्वतन्त्रतत्कारणत्वस्य अस्वीकारात् तत्तटस्थलक्षणत्वस्यैव स्वीकाराद् न सांख्यमतेन सामान्यम् इति सूत्रकाराणां भाष्यकाराणां च स्वतन्त्रप्रधानकारणतावादनिरासः शुद्धब्रह्मप्रतिपत्त्युपायो न निरर्थकः.

(तत्पर्यालोचनम्)

सांख्यमते जडायाः प्रकृतेरेव कर्तृत्वं, 'सत्'शब्दार्थमपि प्रधानमेव, ''**तद् ऐक्षत**'' (छान्दो.उप.६।२।३) इत्यादिना उक्तं ईक्षत्यादिकन्तु ''कूलं पिपतिषति'' इत्यादिवद् गौणमेव, ''मम आत्मा भद्रसेनः'' इतिवद् 'आत्म'शब्दोऽपि भाक्तएव. तथैव अद्वैतमतेऽपि कारणत्वकर्तृत्वादिधर्माणां शुद्धे स्थित्यसम्भवो अन्यथा शुद्धत्वभंगप्रसंगः. मायाप्रतिबिम्बितचैतन्यस्य तदवच्छिन्नचैतन्यस्य वा शबलत्वस्वीकारेऽपि चैतन्यांशेतु कर्तृत्वस्य बाधितत्वात् ''**सविशेषणे हि विधिनिषेधौ...**''(लौ.न्या.२/स) इति न्यायेन कर्तृत्वेक्षितृत्वादिधर्माणां मायायामेव पर्यवसानं वाच्यं, प्रकृतेः जडत्वस्य उभयत्रापि तुल्यत्वात्. मुख्येक्षितृत्वस्य प्रकृतौ बाधितत्वाद् ईक्षत्यादेरपि गौणत्वं तुल्यम्.

अतः एतस्मिन् अंशे अद्वैतमतस्य सांख्यमतस्यापि यदि तौल्यं तर्हि किमर्थं सूत्रकारैः भाष्यकारैः च ईक्षत्यधिकरणे सांख्यमतनिरासः क्रियते इति एषा शंका प्रदर्शिता? यद्वा अस्य प्रश्नस्य ब्रह्माधिष्ठिता प्रकृतिः जगत्कारणं उत अनधिष्ठिता? कारणत्वमपि निमित्तरूपम् उपादानरूपं वा? उपादानत्वमपि विवर्तरूपम् परिणामरूपं वा इत्याद्यंशेऽपि किं सांख्यमतेन सह साम्यम् अस्ति? प्रकृतिकारणत्वांशेतु कैश्चित् कौमुदीकारादिभिः साम्यं स्वीकृतमेव. ब्रह्मणस्तु कारणत्वं व्यवहारमात्रं भवतीति अद्वैतस्य सांख्यमतसमानयोगक्षेमत्वात् किमर्थं सूत्रकारैः भाष्यकारैः च सांख्यमतनिरासः क्रियते इति वा शंकाशयः.

यदि द्वितीयं प्रश्नाशयम् अंगीकृत्य एतदुत्तरं दत्तम् इति उच्यते चेत् कथञ्चिद् अस्य साधुत्वं भाति. यावता अद्वैतिमते ब्रह्माश्रिताज्ञानकार्यस्य अंगीकाराद् ब्रह्माश्रितैव प्रकृतिः जगत्कारणं न स्वतन्त्रा प्रकृतिः. तत्कारणत्वमपि विवर्तोपादानरूपमेव अतः सांख्यमताद् वैलक्षण्यस्य विद्यमानत्वेन न सांख्यमततुल्यत्वम्.

किञ्च भामतीकारविवरणकारसंक्षेपशारीरककारैः विवर्तोपादानरूपकारण-त्वस्य ब्रह्मण्यपि अभ्युपगतत्वाद् न सर्वेऽपि अद्वैतिनो ''**ब्रह्मणस्तु कारणत्वं व्यवहारमात्रम्**'' इति सिद्धान्तम् अंगीकुर्वन्ति इति किन्तु द्वितीयाशयस्वीकारे अस्य प्रश्नस्य एतदुत्तरस्य च ईक्षत्यधिकरणेन सह सम्बन्धो अस्ति न वा? एतावदेव आलोचनीयम्. नहि ईक्षत्यधिकरणं ब्रह्माधिष्ठितप्रकृतेः जगत्कारणं न स्वतंत्रायाः तत्कारणत्वमपि प्रस्थानान्तरभेदेन निमित्तोपादानान्यतररूपम् इत्यादि निरूपणार्थं प्रवृत्तम् अपितु ''**तत्तु समन्वयाद्**'' (ब्र.सू.१।१।३) इत्यादिना कारणवस्तुनिरूपकोपनिषद्वाक्यानां ब्रह्मणि समन्वितत्वप्रदर्शनेन समन्वये प्रतिज्ञाते, तादृशसमन्वयविघटनाय सद्विद्यायाः प्रधानपरत्वप्रतिपादनार्थं सद्विद्यायाः च प्रधानपरत्वप्रदर्शनेन उपलक्षणविधया सर्वेषां वेदवाक्यानां प्रधानएव पर्यवसानं न्याय्यमिति प्रधानएव कारणवस्तुनिरूपकाणि वाक्यानि समन्वितानि नतु ब्रह्मणि इत्येवंरीत्या कपिलानुयायिवर्गे पुरतः उपस्थिते स्वाभिमतसमन्वयसाधनाय ''**ईक्षतेः...आत्मशब्दात्...मोक्षोपदेशात्...स्वाप्य-**

यात्'' (ब्र.सू.१।१।४-८) इत्यादिहेतुकदम्बैः सच्चिदानन्दरूपस्यैव ब्रह्मणो जगत्कारणत्वं वेदे प्रतिपाद्यते इति निरूपणार्थम् ईक्षत्यधिकरणं भगवता वेदव्यासेन प्रारब्धं, नतु जडायाः प्रकृतेः जगत्कारणत्वं वेदेन सिद्ध्यति. तत्र ईक्षणात्मादिप्रयोगस्य मुख्यस्य बाधितत्वेन गौणस्यैव कल्पनीयतया शब्दप्रमाणके अर्थे गौणीकल्पनायाः अन्याय्यतया सर्वत्र उपचारकरणे शब्दप्रामाण्यस्यैव उच्छेदप्रसंगात्. न अत्र गौणी कल्पना न्याय्या, अपितु मुख्यार्थपरिग्रहएव युक्तो, अयमेव राद्धान्तः ईक्षत्यधिकरणस्य शांकराद्यनेकवेदा-न्तिसंमतः. * ननु अयमेव आशयः ईक्षत्यधिकरणस्य न पूर्वप्रतिपादित इत्यत्र किं विनिगमकम्? * इति चेद्, ''**ईक्षतेः न अशब्दम्**'' (ब्र.सू.१।१।४) इत्यादिसूत्रस्वारस्यमेव. तथाहि यदि प्रकृतेः परतन्त्रत्वप्रतिपादनं सूत्रकारसंमतं स्यात्, तर्हि ''**ईक्षतेः न अशब्दम्**'' इत्यादिसूत्रस्थाने ''अजा परतन्त्रा'' ''**अव्यक्तात् पुरुषः परः**'' (कठोप.१।३।११) इति श्रुतेः ''**संयुक्तम् एतद्**'' इत्यादिश्रुतेः च, ''स्मृतेश्च'' इत्यादिसूत्राणाम् उपन्यासः स्यात्. अपितु जडकारणत्वप्रतिक्षेपार्थमेव चैतन्यएव मुख्येक्षितृत्वादिधर्माणां स्थितिः इत्यादि सूचनार्थं च ईक्षत्यादिहेतुकदम्बोपन्यासो भगवता ज्ञानशक्त्यवतारेण कृतः.

अतः प्रश्नद्वितीयाशयपरिग्रहे कृतेतु अस्य उत्तरस्य प्रश्नस्य च साधुत्वम् आपाततो अवलोकने कृते भाति. तथापि एवम् आशयेन अस्य प्रश्नस्य अस्य उत्तरस्य च सूत्राक्षरासम्बद्धत्वात् सूत्रस्वारस्यसूत्रघटकहेतूक्तिस्वारस्यादीनां विघातकत्वात् च सर्वथा हेयत्वमेव प्रतिभाति. किञ्च प्रश्ने ''कौमुदीकारादिसंमतत्वात् च'' इति यद् उक्तं तस्य अयम् आशयः प्रतिभाति : यत् केचनैव अद्वैतिनः प्रकृतिकारणवादिनो नतु सर्वे इति, न एतद् उचितमिव भाति. सर्वेऽपि अद्वैतिनः प्रकृतिकारणवादिनएव, औपाधिकधर्मवादिनां मते धर्माणाम् उपाधावेव पर्यवसानात्. एतत्तु प्रथमप्रश्नाशयविचारावसरएव विवेचितम्.

यदि प्रथमप्रश्नाशयो अभ्युपेयते चेत्, तदा न अनुगुणम् एतदुत्तरं किन्तु ''आम्रान् पृष्टः कोविदारान् व्याचष्टे'' इति न्यायानुसरणम् एतत्. नहि भामतीकारेण विवरणकारेण विवर्तोपादानत्वं स्वीकृतम् इति उक्त्या

जडकारणत्वनिरसनं सम्भवदुक्तिकम्. अद्वैतिभिः भेरीघोषेण उद्घोषितस्य चैतन्यस्य सकलधर्मविधुरत्वम् इति सिद्धान्तस्य ''सविशेषणे हि'' इति न्यायस्य च जागरूकत्वेन अस्मिन् अंशे सांख्यमततौल्यस्य वज्रलेपायितत्वाद्, अद्वैतिमते ईक्षत्यधिकरणवैयर्थ्यरूपदोषप्रसक्तिः दुर्वारैव. शुद्धे अवच्छिन्नेऽपि चैतन्ये यथा ईक्षितृत्वादिधर्मस्थित्यसम्भवः तथा अस्माभिः ''अन्योन्यधर्मान् च...'' इति बाधितमेव इति प्रश्नोत्तरसमालोचनावसरे प्रकृतप्रश्नप्रथमाशयविमर्शकाले च निवेदितम् इति विशेषजिज्ञासायां ततो अवधेयम्. अतः ईक्षणादिधर्माणां प्रकृतिपर्यवसायित्वस्य उभयत्रापि तुल्यत्वात् साध्वेव अभिहितं श्रीनिगमान्तदेशिकैः ''**सांख्यसौगतचार्वाकसंकरात् शंकरोदयः**'' (न्या.सि.३।६८।) इति.

यत्तु ''**ब्रह्माज्ञानाद् जगत् सर्वं ब्रह्मणो अकारणत्वतः**''(?) इति वार्त्तिकानुसारिमते मायामात्रकारणत्वेऽपि प्रपञ्चस्य ब्रह्माश्रिताज्ञानकार्यत्वस्यैव अंगीकारात् स्वतन्त्रस्य तत्कारणत्वस्य अस्वीकाराद् न सांख्यमतेन सामान्यम्'' इति उक्तं, तद् न विचारक्षमम्. नहि अत्र अनाश्रितप्रकृतेः जगत्कारणत्वं, ब्रह्माश्रितप्रकृतेः जगत्कारणत्वं वा, इत्यस्य विचारस्य प्रसक्तिः; अपितु, ''न जडकारणकं जगत्, चेतनकार्यमेव, कारणे ईक्षणादिधर्माणां कथनाद्'' इत्यस्यैव विचारस्य अस्मिन् अधिकरणे उद्भवः इति अधस्तादेव आवेदितम्. अन्यथा सूत्रस्वारस्यादिभंगदोषो दुरुद्धरएव. अतः ईक्षत्यधिकरणस्य न कथमपि अद्वैतिमते निर्वाहः.

(२६६संख्याके प्रश्नोत्तरे)

(प्र.)नहि कारणनिष्ठस्य मोक्षोपदेशः, सगुणप्राधान्यापातादिति ''**तन्निष्ठस्य मोक्षोपदेशाद्**'' (ब्र.सू.१।४।६) इति अद्वैतमतस्य वज्रांकुशएव स्यात्. अखण्डनिष्ठस्य मोक्षोपदेशो नाम, न कारणनिष्ठस्य. (उ.)'तन्निष्ठत्वं' नाम तद्भावः. सच अनेकजीववादे जीवस्य मुक्त्यवस्थायाम् ईश्वरभावएवेति कारणनिष्ठैव मुक्तिरिति न अद्वैतमतविरुद्धम्.

(तत्पर्यालोचनम्)

यदपि ईक्षत्यधिकरणे ''नहि कारणनिष्ठस्य अद्वैतमतेऽपि मोक्षोपदेशः...''

इति प्रश्नेन, ''तन्निष्ठत्वं नाम तद्भावः'' इति उत्तरेण च आलोचितं तदपि अनालोचितप्रायमेव. तथाहि अद्वैतिमते शबलस्यैव कारणरूपत्वात् तत्रैव ईक्षितृत्वादीनां पर्यवसितत्वात्, तस्यैव ईक्षत्यधिकरणप्रतिपाद्यत्वम् अद्वैतिनोऽपि अंगीकुर्वन्ति. किन्तु ईक्षत्यधिकरणे '**तन्निष्ठस्य...**' इति सूत्रे 'तत्'पदेन तस्य ग्रहणं न सम्भवति तस्य अतात्त्विकत्वात्. तादृशवस्तुज्ञानस्य मुक्त्यसाधकतया तत्त्वज्ञानं मुक्त्यर्थम् आवश्यकम्. तत्त्वज्ञानन्तु अद्वैतिमते अखण्डज्ञानमेव न शबलज्ञानम्. यदि उच्येत अखण्डं ब्रह्मैव 'तत्'पदार्थतया अस्माभिः स्वीक्रियते, न एतद् युक्तम्, उपक्रान्तत्यागानुपक्रान्तग्रहणाद्यनेकदोषदुष्टत्वात्. अतः ''**तन्निष्ठस्य...**'' इति सूत्रं शांकरमते न कथमपि निर्वहति इति प्रश्नाशयः.

यद्वा शबलज्ञानस्य तात्त्विकाद्यंशे औदासीन्यम् अवलम्ब्य तन्निष्ठस्य तद्भावापत्तिः — सगुणेश्वरभावापत्तिः इति यावद् — इति अर्थम् अभ्युपगम्य यदि मुक्तस्य परममुक्तिदशायामपि सगुणभावप्राप्तिः, तर्हि सगुणस्यैव प्राधान्यसिद्ध्या अद्वैतराद्धान्तविरोधित्वं स्पष्टमेव अस्य सूत्रस्य. नहि अद्वैतिमते अखण्डचैतन्यरूपेण अवस्थानमिव सगुणेश्वररूपेण स्थितिः मुक्तितया अभ्युपेयते. अतः शांकरमते ''**तन्निष्ठस्य...**'' इति सूत्रस्य न कथमपि निर्वाहः इति आशयः.

यदि द्वितीयाशयेन अस्य प्रश्नोत्तरस्य उत्थितिः इति उच्यते, तदा कथञ्चिद् अस्य उत्तरस्य साधुत्वभ्रान्तिः भवति किन्तु ''**...मोक्षोपदेशाद्**'' इति सूत्रोत्तरार्धभागानुपपत्त्या न कथंचिदपि अस्य सदुत्तरत्वं सिध्यति. तथाहि अद्वैतिमते सगुणस्य मिथ्यात्वांगीकारेण, मिथ्यात्वस्य च बन्धनान्तरीयकत्वेन, बद्धावस्थायां 'मुक्ति'पदप्रयोगस्य शास्त्रे लोके च अदृष्टचरत्वेन, केवलस्वगोष्ठीसमयमात्रेण वादिहृदयसन्तोषानाधायकत्वात्. *ननु सिद्धान्तलेशे ईश्वरस्यापि निरञ्जनत्वोक्त्या सगुणस्य पारमार्थिकत्वमेव इति न पूर्वोक्तस्य साधुत्वम्* इति चेद् न, अद्वैतसिद्धिगतदृश्यत्वानुमानविचारे उपहितमिथ्यात्वस्य स्पष्टतया प्रतिपादितत्वेन उपहितसत्यत्वाशायाअपि दूरापेतत्वेन अस्मदुक्तार्थस्य

सर्वथा सुस्थिरत्वमेव. अन्यथा दृश्यत्वानुमानस्य अनैकान्तिकत्वं भामतीप्रस्थाने दुष्परिहरमेव स्यात्. यदि **'तन्निष्ठस्य'**इति पदस्य वार्त्तिकमतानुसार्यर्थम् अवलम्ब्य प्रश्नप्रथमाशयं परिगृह्य उत्तरितम् इति उच्यते, तदातु अस्य उत्तरस्य अनुत्तरत्वमेव. तथाहि समूलभ्रमनिवृत्तिं विना मुक्तेः अप्राप्यतया मुक्तिदशायां भ्रमनिवृत्तेः परमावश्यकत्वमेव, भ्रमनिवृत्तिस्तु तत्त्वज्ञानेनैव इति तु अद्वैतिनामपि अनुमतपन्थाः. अभियुक्तोक्तिनिकुरम्बोऽपि यथा —

''तत्त्वावधारणाभ्यासस्य हि स्वभावएव एतादृशो यद् अनादिमपि निरूढनिबिडवासनमपि मिथ्याप्रत्ययम् अपनयति'' (   ).

''आरोपितंहि रूपं तत्त्वज्ञानेन अपोद्यते'' (   ).

''मिथ्याज्ञानप्रसञ्जितं स्वरूपं शक्यं तत्त्वज्ञानेन अपवदितुम्'' (   ).

''तत्त्वविनिश्चयः तदभ्यासो वा सवासनं विपर्यासम् उन्मूलयेद् न संशयाभ्यासः सामान्यमात्रदर्शनाभ्यासो वा. नहि स्थाणुः वा पुरुषो वा इति आरोहपरिणामवद् द्रव्यम् इति वा शतशोऽपि ज्ञानम् अभ्यस्यमानं 'पुरुषएव' इति निश्चयाय पर्याप्तं, ऋते विशेषदर्शनात्'' (   ).

''समारोपितं च तत्त्वसाक्षात्कारः समूलघातम् उपहन्ति''(   ).

''ननु 'तरति शोकम् आत्मविद्' **(छान्दो.उप.७।१।३)** इत्यादौ शोकरूपाज्ञानस्य तरणरूपनिवृत्तिं प्रति साधनत्वेन उक्तायाः आत्मविद्यायाः न तावद् आत्मविषयकभ्रमत्वं युक्तं, भ्रमस्य अज्ञानानिवर्तकत्वात् किन्तु सा प्रमैव. प्रमात्वञ्च तस्याः शुद्धविषयकत्वेनैवेति वेदान्तानां शुद्धब्रह्मज्ञानजनकत्वम् आवश्यकमेवेति अस्वरसाद् आह 'वस्तुतस्तु' इति.(अद्वै.सि.-सिद्धिव्या.१।दृश्यत्वहेतु).

''लोकेऽपि तथैव अनुभवो रज्जुज्ञानेनैव सर्पज्ञाननिवृत्तिः

दृश्यते नान्येन ज्ञानेन. अतएव भामतीमतं दूषितमिति मत्वा विवरणानुयायिनां 'शब्दाजन्यवृत्तिविषयत्वं दृश्यत्वम्' इति दृश्यत्वहेतोः परिष्कारः'' (   )..

तस्मात् सगुणज्ञानस्य अपवर्गासाधकतया 'तत्'पदेन अखण्डब्रह्मणएव ग्रहणम् इति वक्तव्यं किन्तु एतत्कथनस्य उपक्रान्तत्यागाद्यनेकदोषस्पृष्टत्वेन प्रेक्षावदनुपादेयत्वमेव. * ननु सगुणस्यैव उपक्रान्तत्वम् इति कथं निर्णयः? * इति चेद्, भामत्याद्यनेकव्याख्यातृमतविमर्शेनैव इति ब्रूमः. तथाहि ईक्षत्यधिकरणे भामतीकारः —

''ब्रह्मैव ईक्षितृ अनाद्यनिर्वाच्याविद्यासचिवं जगदुपादानं, शुक्तिरिव समारोपितस्य रजतस्य, मरीचयइव जलस्य, एकः चन्द्रमाइव द्वितीयस्य चन्द्रमसो नतु अचेतनं प्रधानपरमाण्वादिः.''
(भाम.१।१।५) इति

अस्मिन्नेव अधिकरणे **''श्रुतत्वात् च''** (ब्र.सू.१।१।१०) इति सूत्रे उपसंहारमुखेनापि इममेव अर्थं दृढयन्ति भामतीकाराः —

'''तद् ऐक्षत' (छान्दो.उप.६।२।३) इत्यत्र ईक्षणमात्रं जगत्कारणस्य श्रुतं न सर्वविषयम्. जगत्कारणसम्बन्धितयातु तदर्थात् सर्वविषयम् अवगतं, श्वेताश्वतराणान्तु उपनिषदि सर्वज्ञः ईश्वरो जगत्कारणम् इति साक्षाद् उक्तम् इति विशेषः.''
(भाम.१।१।११).

आनन्दमयाधिकरणटीकायामपि —

'''ब्रह्म जिज्ञासितव्यम्' इति प्रतिज्ञातम्. तच्च शास्त्रैकसमधिगम्यं, शास्त्रं च सर्वज्ञे सर्वशक्तौ जगदुत्पत्तिस्थितिप्रलयकारणे ब्रह्मण्येव प्रमाणं न प्रधानादौ इति न्यायतो व्युत्पादितम्. नच अस्ति कश्चिद् वेदान्तभागो यः

तद्विपरीतमपि बोधयेद् इति च. 'गतिसामान्याद्' इति उक्तम्.''

(भाम.१।१।१२).

इत्येतद्भामतीभागावलोकने सगुणस्यैव अस्मिन् अधिकरणे उपक्रान्तत्वम् इति अध्यवसीयते. व्यक्ततया अनाद्यविद्यासचिवस्यैव ईक्षितृत्वोक्तेः आनन्दमयाधिकरणटीकाग्रन्थेनापि पूर्वोक्तएव अर्थः उपोद्बलितः.

रत्नप्रभायामपि ''**ननु मायोपाधिकबिम्बचिन्मात्रस्य ईश्वरस्य कथम् ईक्षणं प्रति मुख्यं कर्तृत्वं? कृत्यभावाद् इति चेद् न, कार्यानुकूलज्ञानवतएव कर्तृत्वाद् ईश्वरस्यापि ईक्षणानुकूलज्ञानवत्त्वाद्**'' (र.प्र.तत्रैव) इति पूर्वोत्तरपक्षग्रन्थेन मायोपाधिकबिम्बचिन्मात्रस्यैव ईक्षितृत्वस्थापनात् सगुणस्यैव ईक्षत्यधिकरणोपक्रान्तत्वम् इत्यस्मिन् अंशे रत्नप्रभानुकूल्यमपि विद्यते.

यदितु वार्तिकमतेन अस्मिन् अधिकरणे निर्गुणस्यैव उपक्रान्तत्वम् इति पक्षो अभ्युपेयते तदा प्रबलतरप्रामाण्योपेतश्रुतिवाक्योपन्यासेन शुद्धएव ईक्षितृत्वादिस्थापनं क्रियते तर्हि अनेकश्रुतिस्वरूपरक्षणार्थं प्राकृतधर्मानाश्रयाप्राकृतधर्मरूपाद्भुताचिन्त्य-दिव्य-विरुद्धधर्माश्रय-निगमप्रतिपाद्य-साकृतिब्रह्म-स्वीकारेण शुद्धाद्वैतिगोष्ठीप्रवेशएव किमर्थं न क्रियते इति विस्मयावहम् एतत्. यदितु सगुणस्यैव उपक्रान्तत्वम् इति पक्षांगीकारः तर्हि पूर्वोक्तदूषणरूपपर्णापाकरणं वार्त्तिकमतानुसारिणाम् आवश्यकम्.

श्रीयुतशास्त्रिचरणाअपि प्रदीपग्रन्थे श्रीभाष्योक्तदूषणपरिहारपरभागे सगुणस्यैव कारणत्वम् ईक्षितृत्वादिकं च स्वीकुर्वन्तीति न शास्त्रिचरणमतविरोधोऽपि अस्मन्मतेन साकम्.

यदपि ''**निर्विशेषकारणतायामपि पूर्वोक्तविधया सर्वतादात्म्यापन्न-चैतन्यरूपत्वस्य ईक्षितृत्वस्य अविरोधात् च न कोऽपि विरोधः**'' (ब्र.सू.

शां.भा.प्र.१।१।६) इत्यनया पंक्त्या शुद्धेक्षितृत्वादिव्यवस्थापनं तदपि चिन्त्यमेव, यतः शुद्धस्य ईक्षितृत्वम् इति पक्षस्य नैर्बल्यं व्यक्तमेव अनुभूयते, अस्याः पंक्तेः 'अपि'शब्दघटितत्वात्, सगुणेक्षितृत्वादिप्रतिपादकवाक्यस्य च अन्ययोगव्यवच्छेदार्थकैवकारघटितत्वात्. शुद्धेक्षितृत्वादिस्वीकारेतु शुद्धस्य निर्धर्मकत्वम् इति सिद्धान्तस्य दत्ततिलाञ्जलित्वमेव स्यात्. नहि सर्वतादात्म्यापन्नत्वेन साक्षित्वेन वा चैतन्यस्य ईक्षितृत्वं सिध्येत्. बाधार्थसामानाधिकरणस्यैव स्वीकारेण तादृशसामानाधिकरण्येन तादात्म्यभावमापन्नस्य ईक्षितृत्वं विद्यतएवेति व्याप्तेः अभावात्. प्रत्युत एतादृशानेकस्थले वैपरीत्यस्यैव दृष्टत्वात्. प्रकृतस्थलेतु चैतन्यस्य सकलधर्मविधुरत्वेन अकिञ्चित्करकल्पेन तेन ईक्षणं क्रियते इति वचनन्तु वन्ध्याभर्तुः पुत्रजन्महर्षोचितवाक्यतुल्यमेव. साक्षित्वस्यापि आरोपितवस्तुप्रकाशकत्वमात्ररूपत्वेन आरोपितवस्तुप्रकाशकशुक्त्यादेः अनीक्षितृत्वस्यैव प्रत्यक्षीकरणात्. एतादृशसाक्षित्वस्य अनीक्षितृत्वएव पर्यवसानात्. दृष्टान्तेतु साक्षिणः चैतन्यरूपत्वेऽपि सर्वधर्मशून्यत्वेन अकिञ्चित्करत्वमेव इति अधस्तादेव आवेदितम्. नहि स्वरूपतो चिद्रूपत्वम् ईक्षितृत्वम् उपकरोति. ईक्षणस्य धर्मभूतज्ञानकोटिनिविष्टत्वेन धर्मशून्येक्षितृत्वस्य अनुपपद्यमानत्वात्. अद्वैतिनोऽपि लोकव्यवस्थायां वृत्तिरूपज्ञानकोटिनिविष्टमेव इक्षणं मन्यन्ते. वृत्तिरूपज्ञानस्य मिथ्यात्वेन स्वरूपचिदतिरिक्तत्वेन धर्मभूतज्ञानसाम्यएव पर्यवसानात्. साम्यञ्च स्वरूपातिरिक्तत्वेनैव नतु मिथ्यात्वेन.

(२९० संख्याके प्रश्नोत्तरे)

(प्र.) कारणविज्ञानात् कार्यविज्ञानंहि स्वकार्यसर्वाभिप्रायमेव वक्तव्यमिति प्रधानमात्रकारणतावादएव तद् उपपद्यते न ब्रह्मकारणतावादे, यत्र तदतिरिक्तं मायादिकमपि कारणान्तरं स्वतन्त्रं स्वीक्रियते. नहि ब्रह्मज्ञानेन तदकार्यमायादीनामपि ज्ञानं भवितुम् अर्हतीति प्रतिज्ञाविरोधाभ्युच्चयार्थः 'च'शब्दोऽपि प्रधानवादे न विरुद्धः. (उ.) कारणविज्ञानात् कार्यविज्ञानं सत्यं सर्वस्वकार्यविज्ञानाभिप्रायमेव; तथापि तेन ज्ञेयव्यतिरिक्तस्य सर्वस्य तत्कार्यत्वमपि गम्यतइति प्रधानकारणतावादे स्वव्यतिरिक्तभोक्त्रादीनां कार्यत्वानुपगमाद् न उपपद्यते किन्तु अद्वैतवादएव

तद् उपपद्यते. तत्र कारणविज्ञानात् कार्यविज्ञानं=कारणविज्ञानेन कार्याणां तदतिरेकेण अभावएव. नतु सतएव कार्यस्य अविज्ञानं मतान्तरइव. इदञ्च ब्रह्मकार्यमायादीनामपि ब्रह्मज्ञानेन बाधे ब्रह्मव्यतिरेकेण अभावसामान्याद् ज्ञातप्रायत्वं गमयतीति स्वव्यतिरिक्तसर्वाभावत्वाभिप्रायप्रतिज्ञानुपरोधो अद्वैतवादएव संगच्छते न प्रधानवादे.

(तत्पर्यालोचनम्)

यदपि नवत्युत्तरद्विशततमे प्रश्ने ''कारणविज्ञानात् कार्यविज्ञानम् अद्वैतवादएव उपद्यते'' इति कथनं तत् चिन्त्यमेव, 'विज्ञान'पदस्य तदतिरेकेण अभावार्थकतायाः शास्त्रलोकातीतत्वाद् **''न अभाव उपलब्धेः''** (ब्र.सू.२।२।२८) इत्यादिसूत्रविरुद्धत्वात् च. एततु उक्तसूत्रसमालोचनावसरएव विशदीकरिष्यते. शुक्तिरजतादिभ्रमस्थलेतु बाधएव दृश्यते नैव विज्ञानं, ''रजतं विज्ञातम्'' इति व्यपदेशस्य व्यवहारस्य वा लोके अननुभूतत्वात्. 'विज्ञान'पदस्वारस्यमपि जगत्सत्यत्ववादएव, प्रपञ्चसत्यत्वस्वीकारएव सामान्यज्ञानेन विशेषरूपेण विज्ञानम् इति विवेकप्रतिपादनम् उपपद्येत. अन्यथा बाधज्ञानं भ्रमज्ञानम् इत्येव स्यात्. *ननु भ्रमभातपदार्थानां बाधज्ञानमेव विज्ञानम् इति अभ्युपगमे किं बाधकम्?* विषयाभावएव बाधकम् इति कथयामः. तथा हि सविषयमेव विज्ञानं स्वीकर्तव्यं विषयबाधस्वीकारेतु किञ्चिद्विषयकं विज्ञानम् इति उक्तेः बाधितत्वेन विज्ञानस्य अभावविषयकत्वमेव पर्यवसीयते, अभावज्ञाने सामान्यविशेषादिकथनस्य अनुपयोगित्वात्. एतेन कारणरूपाधिष्ठानविज्ञानमेव कार्यविज्ञानम् इति पक्षोऽपि अपास्तो, अद्वैतिमते कारणरूपाधिष्ठानस्यापि निर्विशेषत्वेन तत्रापि सामान्यविशेषचिन्तायाः अभावएव.

किञ्च 'विज्ञान'पदस्य ''तद्व्यतिरेकेण अभावः'' इति अर्थस्तु लाक्षणिकएव भाति किन्तु लक्षणायाः मूलन्तु न पश्यामः. यौक्तिकबाधो प्रत्यक्षबाधो वा श्रुतिबाधो वा मूलम्? प्राच्यपक्षस्वीकारेतु दृश्यत्वानुमानादियुक्तेरेव बाधकत्वम् अद्वैतिभिः वक्तुं शक्येत. दृश्यत्वानुमानादेः, किन्तु, अनेकदोषदुष्टत्वन्तु शतदूषणी-सहस्रकिरणीप्रभृतिषु दृश्यत्वानुमाननिरासकेषु

ग्रन्थेषु पूर्णतया प्रतिपादितमिति ततो अवधेयम्. अस्माभिरपि दृश्यत्वानुमानस्य 'अद्वैतालोचना'ख्यग्रन्थे अस्मिन्नपि ग्रन्थे च अग्रे निरसनीयत्वेन नात्र निरासः क्रियते. यदि प्रत्यक्षबाधस्य मूलत्वम् इति उच्येत तदापि प्रत्यक्षस्य अद्वैतिमते सर्वथा प्रातिकूल्येन गले पादुकान्यायस्यैव प्रसरः स्यात्. एतद्विशेषजिज्ञासायान्तु श्रीभाष्य-श्रुतप्रकाशिका-तत्त्वटीका -तत्त्वमुक्ताकलापादयो ग्रन्थाः अनुसन्धेयाः. श्रुतिबाधस्तु नास्त्येव इतितु घण्टाघोषेण कथयामः. **''अतो अन्यद् आर्तम्''** (बृह.उप.३।४।२) इत्यादिश्रुतिविचारोऽपि श्रीपुरुषोत्तमचरणैः प्रकाशे सृष्टिभेदवादे आवरणभंगे च कृतइति ततो अवधेयः.

व्याससिद्धान्तमार्तण्डे तदनन्यत्वाधिकरणालोचने अस्मद्गुरुचरणाः श्रीदेशिकाचार्याअपि पूर्वोक्तमेव अर्थं भिन्नरीत्या उपपादयन्ति **''अपिच 'यथा सौम्य'** इत्यारभ्य **''श्रुतौ तत्त्वपदाध्याहारप्रसंगात् च''** (व्या.सि.मा.२। पृ.१९८) इत्यन्तम्. यत्तु अद्वैतमार्तण्डे तदनन्यत्वाधिकरणालोचने उक्तं तत्रापि निर्बलतैव व्यक्ततया दृश्यते. दृष्टान्तास्वारस्यादिकं यद् दूषणतया उक्तं तस्य अद्वैतिमतएव विशेषरूपेण प्रसरः. विवर्तवादापेक्षया श्रीरामानुजमते विशेषतो दृष्टान्तस्वारस्यं सुरक्षितं तिष्ठति इति असकृद् वक्तुं पारयामः. नहि कारणव्यतिरेकेण कार्यस्य अभावो यथा अद्वैतिभिः अभ्युपगम्यते तथा मृद्दृष्टान्तेन सिध्यति किन्तु सूक्ष्मचिद्विशिष्टज्ञानेन स्थूलचिदचिद्विशिष्टवस्तुज्ञानं भविष्यत्येव, एवं शरीरशरीरिभावपोषकत्वमेव अस्य व्यक्तम् अनुभूयते. परिणामवादएव मृत्पिण्डदृष्टान्तेन सिध्यति. स परम्परया भवतु साक्षाद् वा भवतु अविकृतपरिणामस्वीकारेण, विवर्तपरिणामस्यतु मृत्पिण्डदृष्टान्तेन सिद्धिः अशक्यप्रायैव. यदि *अनुवर्तमानत्वादिसूचनद्वारा उपादानमात्रसत्यत्वसूचनार्थम् अयं दृष्टान्तः* इति चेद्, नहि उपादानस्य अनुवर्तमानतामात्रेण कार्यमिथ्यात्वम् उपपन्नं भवति, मृदो अनुवर्तमानत्वेऽपि घटमिथ्यात्वस्य अदर्शनात्. यदि *उच्येत उपादानस्य अनुवर्तमानतासूचनेन कार्यस्य व्यावर्तमानत्वम् अर्थादेव सिध्यति इतिकृत्वा न विशेषतो कार्यमिथ्यात्वप्रदर्शनावश्यकता* इति चेद् वार्तम् एतत्. श्रीनिगमान्तमहादेशिकैः अस्य अनुमानस्य तत्त्वमुक्ताकलापे **''व्यावृत्तं शुक्तिरूप्यं विदितम् इह मृषा, विश्वम् एवं**

न किं स्याद्? मा एवं हेतोः अयुक्तेः. स खलु भिदुरता बाध्यता नाशिता वा? आद्ये अनैकान्त्यम्. अन्त्ये स्वसमयविहतिः. मध्यमे स्याद् असिद्धिः. धीविच्छेदादिकल्पान्तरमपि कथितैः चूर्णितं दोषवृन्दैः'' (त.मु.क.३।५१) इत्यनेन पद्येन सर्वथा निरस्तत्वात्, शतदूषण्यामपि बहुधा खण्डितत्वात् च कोवा विशेषलाभो निरस्तनिरसनेन?

अतो ''**वाचारम्भण**''वाक्येन अनुमानद्वयं विवक्ष्यते इति कथनन्तु विलीनमेव. ''**मृत्तिका इत्येव सत्यम्**'' (छान्दो.उप.६।१।४) इति वाक्यशेषस्तु यथा शरीरद्वारकपरिणामवादे अविकृतपरिणामवादएव कथं संगच्छते इति तु तदनन्यत्वाधिकरणालोचने प्रकाशयिष्यामः. यत्तु ''इदमेव अत्र आलोचनीयं यद् मृद्घटयोरिव ब्रह्मप्रपञ्चयोः एकद्रव्यत्वं किं तन्मतम् उत न इति. आद्ये ब्रह्मविकार्यत्वापत्तिः, द्वितीये तच्छरीरसूक्ष्मचिदचितोः स्थूलचिदचितोः च एकद्रव्यत्वसाधनेन यदि तद्द्वारैकविज्ञानेन सर्वविज्ञानं साध्यते तर्हि न केवलं क्लिष्टकल्पना, अपितु दृष्टान्तास्वारस्यमपि'' इति उक्तम्. तत्र एतावदेव आलोचनीयं यद् ''ब्रह्मप्रपञ्चयोः एकद्रव्यत्वं किं तन्मतम् उत न'' इति कथनं (अद्वैतमार्तण्डग्रन्थगतम्) किं विशिष्टाद्वैतप्रक्रियाम् अवगत्य उक्तम् उत न? यदि अवगत्य उक्तम् इति उच्यते तदातु कथं वा विशिष्टाद्वैतप्रक्रियाम् अनुसरति अयं विकल्पः इति साधनीयमेव. नहि विशिष्टाद्वैतिनो ब्रह्मप्रपञ्चयोः एकद्रव्यत्वम् अभ्युपगच्छन्ति, अपितु सूक्ष्मचिदचिद्विशिष्टस्थूलचिदचिद्विशिष्टयोः इतितु निखिलवेदान्तिविदितमेव. *ननु एवं प्रतिज्ञोपपादनेतु क्लिष्टकल्पनादृष्टान्तास्वारस्यरूपदोषद्वयम् आयाति* इति चेद् एतद्दोषयुग्मन्तु विशेषतो अद्वैतमतएव. तथाहि सद्विद्यायाम् एकविज्ञानेन सर्वस्य विज्ञानम् इति मुख्यः प्रतिज्ञातो अंशः, प्रतिज्ञांश-दृष्टान्तांशयोः प्रतिज्ञातांशस्यैव प्राधान्यम्. एषः सिद्धान्तस्तु सर्वतन्त्रानुमोदितः. ''**प्रकृतिः च प्रतिज्ञादृष्टान्तानुपरोधाद्**'' (ब्र.सू.१।४।२३) इति सूत्रे श्रीव्यासाचार्यैरपि प्रतिज्ञातांशप्राधान्यद्योतनाय 'प्रतिज्ञा'पदस्यैव पूर्वं प्रयोगः कृतो नतु 'दृष्टान्त'पदस्य. प्रतिज्ञातांशे 'विज्ञान'पदस्य क्लिष्टकल्पनातु अद्वैतिमतएव. एतत्तु अधस्तादेव उदितम्. श्रीरामानुजमतेतु केवलदृष्टान्तांशस्यैव क्लिष्टकल्पना-

भाक्त्वम्. प्रधानांशे क्लिष्टकल्पनापेक्षया अप्रधानांशे तत्करणं ज्यायः इत्यत्रतु नास्त्येव विशेषोपपादनावश्यकता. एतत्तु कृत्वाचिन्तय उक्तम्. वस्तुतस्तु श्रीरामानुजमते तथा न दृष्टान्तास्वारस्यं यथा अद्वैतिमते. नहि मृत्पिण्डे विवर्तोपादानत्वं मृत्पिण्डाभिव्यक्तकार्यकलापस्य केनापि दृष्टम्. अद्वैताभिमतकार्यस्वरूपसाधनेतु शुक्तिरजतादिदृष्टान्तानामेव उपयोगित्वम् इति तु पाराशर्यविजये सुष्ठूपपादितम्.

(५४८ संख्याके प्रश्नोत्तरे)

(प्र.) अन्तर्यामीतु यदि सविशेषः तर्हि तज्ज्ञानेन सर्वज्ञानम् अनुपपन्नम्. (उ.) एतेन अन्तर्याम्यपि निर्गुणएव इति व्याख्यातम्. नहि अन्यथा तद्विज्ञानेन सर्वविज्ञानम् उपपद्यते. ''**स सर्वविद्**'' (मुण्ड.उप.१।१।९) इति सर्वविज्ञानफलनिर्देशेन हि सद्विद्याऽक्षरविद्ययोः अनैकार्थत्वं निर्धार्यते. तयोस्तु निर्विशेषविषयत्वं निश्चितमेव.

(तत्पर्यालोचनम्)

यत्तु अन्तर्याम्यधिकरणे ''एतेन अन्तर्याम्यपि निर्गुणएव इति व्याख्यातम्'' इति वचनं तद् आलोचनीयमेव, नियमनादिकार्यं कुर्वन्नपि निर्गुणः इति कल्पनस्य बाधितत्वात्. विश्वनियमनाद्यकर्तुरपि अन्तर्यामित्वस्वीकारे यस्य कस्यचिदपि अन्तर्यामित्वप्रसंगः. यापि ''नहि अन्यथा तद्विज्ञानेन सर्वविज्ञानम् उपपद्यते'' इति उक्तिः सापि चिन्त्यैव, अनया उक्त्या साधनीये अर्थे हेतुः उपस्थाप्यते. एवञ्च अत्र अयम् अनुमानप्रयोगोऽपि सूचितो भवति : ''अन्तर्यामी निर्गुणः तद्विज्ञानेन सर्वविज्ञानस्य श्रुत्युक्तत्वाद्'' इति. अत्र, किन्तु, एतावदेव चिन्त्यं यद् अयं सद्धेतुः उत हेत्वाभासः? अस्माभिस्तु अस्य हेतोः प्रतिपाद्यसिद्धत्वम् उच्यतइति कृत्वा न अनेन हेत्वाभासेन साध्यसिद्धिः भविता. उभयवाद्यभ्युपगतस्यैव हेतोः अनुमाने प्रयोगः कर्तव्यः इतितु सर्वसम्प्रतिपन्नम्.

किञ्च यत् सद्विद्याऽक्षरविद्ययोः निर्विशेषविषयत्वम् उक्तं तदपि अनुपपन्नमेव, कल्पितधर्मपुरस्कारेण ब्रह्मनिरूपणस्य सगुणविषयविद्यायां

निर्विशेषविषयविद्यायाम् उभयत्रापि सत्त्वेतु तयोः विवेकस्य विलुप्तत्वेन 'इयं सगुणविद्या'-'इयं निर्गुणविद्या' इति विवेकप्रतिपादनस्य अशक्यत्वात्. विवेकसाधकेतरविनिगमकस्य अनुपलब्धेः च. नच *क्रममुक्तिफलकत्वं सद्योमुक्तिफलकत्वम् इत्यादिविवेकविनिगमकम् उपलभ्यते इति कृत्वा इतरविनिगमकस्य अनुपलब्धेः च इति वचनम् असाधीयः* इति वाच्यं, तदपि न अद्वैतिदृष्ट्या क्रममुक्तिफलकत्वादीनामपि सगुणनिर्गुणविषयत्वाधीन्यस्य प्रसिद्धत्वेन अन्योन्याश्रयादीनाम् अनिवार्यतया विनिगमकानुपलब्धिस्तु स्थिरीभूतैव.

(५४९ संख्याके प्रश्नोत्तरे)

(प्र.) यदि निर्विशेषः तर्हि "...**तद्धर्मव्यपदेशाद्**" (ब्र.सू.१।२।१८) इति सूत्रांशविरोधः. (उ.) "...**तद्धर्मव्यपदेशाद्**" (ब्र.सू.१।२।१८) इति पदन्तु निर्विशेषोपदेशस्य सद्विद्याऽक्षरविद्ययोः अध्यारोपापवादविधया तटस्थलक्षणविधया कल्पितधर्मपुरस्कारेण प्रवृत्तत्वाद् निर्विशेषपरत्वेऽपि न अनुपपन्नम्. इयान् विशेषः : एतयोः कार्यकारणविधया धर्माद् वा निर्विशेषोपदेशो अत्रतु शरीरद्वारा इति. शरीरद्वारापि निर्विशेषोपदेशस्तु आनन्दमयविद्यायां दृष्टचरएव. तथाच आनन्दमयाधिकरणसिद्धान्तन्यायेन अत्रापि निर्विशेषपरत्वं तद् धर्मोपदेशेऽपि न दोषाय. तेनच कार्यकारणभावः शरीरशरीरिभावः च अनर्थान्तरम् इति सूच्यते.

(तत्पर्यालोचनम्)

यदपि एतदव्यवहितप्रश्नोत्तरे "'**तद्धर्मोपदेशाद्**' इतितु निर्विशेषोपदेशस्य... तद्धर्मोपदेशेऽपि न दोषाय" इति उक्तं तदपि चिन्त्यमेव. तथाहि "विद्यायाः निर्विशेषपरत्वम्" इत्यस्य को अर्थः ? किं सकलधर्मशून्यप्रतिपादकत्वम् उत कल्पितधर्मपुरस्कारेण ब्रह्मप्रतिपादकत्वम्? यद्वा यस्यां विद्यायां कतिपयवाक्यैः अध्यारोपन्यायेन धर्मयुक्तब्रह्मप्रतिपादकत्वं तस्यामेव अपरवाक्यैः अपवादन्यायेन धर्मरहितब्रह्मप्रतिपादकत्वम्? साक्षात् सधर्मकब्रह्मप्रतिपादकत्वेऽपि परम्परया निर्विशेषब्रह्मप्रतिपादकत्वं वा ? न तृतीयः, एतादृशनिर्विशेषपरविद्यायाएव अनुपलब्धेः. *ननु आनन्दमयविद्यायाएव एतादृशनिविशेषपरत्वम्

अस्ति* इति चेद् न, आनन्दमयविद्यायां कुत्रापि निर्विशेषपरत्वसाधकश्रुतिलिंगाद्यनुपलब्धेः निर्विशेषपरतायाएव अशक्यवचनत्वात्. *ननु "**यतो वाचो निवर्तन्ते**" (तैत्ति.उप.२।४) इति श्रुतिरेव आनन्दमयविद्यायाः निर्विशेषपरत्वसाधने प्रमाणम्* इति चेद् न, अस्याः श्रुतेः निर्विशेषसाधकत्वकल्पनायाअपि दूरनिरस्तत्वात्, श्रीपुरुषोत्तमचरणैः भाष्यप्रकाशतृतीयाध्यायद्वितीयपादे अस्याः श्रुतेः सविशेषपरत्वस्य बहुधा प्रपञ्चितत्वात् च. निगमान्तमहादेशिकैरपि तत्त्वमुक्ताकलापे —

"वाच्यत्वं वेद्यतां च स्वयम् अभिदधति ब्रह्मणो
अनुश्रवान्ता वाक्चित्तागोचरत्वश्रुतिरपि परिच्छित्त्यभावप्रयुक्ता.
नो चेत् पूर्वापरोक्तिस्ववचनकलहः सर्ववेदान्तबाधः. तत्सिद्धिः
हेतुभिः चेत् प्रसजति विहतिः धर्मिसाध्यादिशब्दैः."

(त.मु.क.३।३).

इति श्लोकेन अस्याः सविशेषपरत्वस्यैव स्थापितत्वात्. न्यायसिद्धाञ्जनेऽपि अवेद्यत्वनिराकरणेन वेद्यत्वप्रदर्शनेन च "**यतो वाचो...**" (तैत्ति.उप.२।४) इति वाक्यस्य निर्विशेषपरतायाः अनेकधा खण्डितत्वात्. तत्र निर्दिष्टे पद्ये यथा —

"अवाच्यं वाच्यम् इति वा वस्तुनि प्रतिपादिते, वाच्यमेव
भवेद् वस्तु, वाच्यावाच्यवचोऽन्वयात्."
"'अनुभूतिः अवेद्या' इति वचनं बोधकं नवा? आद्ये
तेनैव वेद्यत्वं नो चेत् किं क्व विधीयते."

(न्या.सि.३।४६,५७) इति.

चण्डमारुतनिर्दिष्टानि पद्यान्यपि अत्र उपयुक्तानि इतिकृत्वा उदाह्रियन्ते —

"ब्रह्मणि अशब्दवाच्ये स्याद् 'वचसां वाच्यम् उत्तमम्'
इत्यादिमानविद्वेषो, वाच्यतोपहितस्य चेत्, स्वरूपस्यापि

वाच्यत्वं तदन्तर्भावतो भवेत्. उपधानेन शून्यस्य अवाच्यत्वे व्याहतिः भवेत्. वाच्यत्वं ब्रह्मणो वाच्ये अनुपधानेन लक्षणा. समानसत्त्ववाच्यत्वाभावे तौल्यं घटादिना. निमित्तोपहिते शब्दस्वरूपं चेद् न गोचरः, 'यतो वाचो निवर्तन्ते' श्रुतिस्तु गुणगोचरा. स्वरूपगोचरत्वेऽपि कथं शक्तिः निवार्यते. अप्राप्य इति निषेधेतु कथं मृष्येत लक्षणाम्. निर्देश्यवृत्तिमात्रस्य निषेधव्याहतिः ततः. शक्तेः निषेधः चेत् तर्हि लक्षणा वा निषिध्यतां, लक्षणायाः निषेधे हि वाच्यत्वश्रुत्यनुग्रहः तात्पर्यम् अपरिच्छेदे, श्रुतेः प्रकरणात् ततः. मनसा समम् आम्नानाद् निवृत्तिः दुर्वचा गिरः. ईष्यतेहि मनोवृत्तिः परैरपि परात्मनि.''

(श.दू.च.मा.४५) इति.

अयम् अर्थो : ब्रह्मणः शब्दवाच्यत्वाभावे ''**वचसां वाच्यम् उत्तमम्**'' इत्यादि विरोधः. उपहितस्य वाच्यत्वे न विरोधः इति चेत्? किं तर्हि अवाच्यम्? अनुपहितम् इति चेत्? किम् तद् अनुपहितम्? किं स्वरूपमेव उत उपाधिशून्यं स्वरूपम्? किंवा उपधानाभावः? आद्ये उपहितस्य वाच्यत्वे स्वरूपस्यापि तत्प्रवेशेन वाच्यत्वम् अनिवार्यमेव. द्वितीयेऽपि किम् उपहितस्वरूपमेव उपधानशून्यं विवक्षितम्? किं वा ततो अन्यद्? आद्ये व्याघातः. यदिच उपहितस्य उपधानस्यापि अपारमार्थिकतया पामार्थिकोपधानशू-न्यत्वाद् न व्याघातः, एवमपि तादृशं ब्रह्म वाच्यमेवेति कथम् अवाच्यता? द्वितीयम् असिद्धम् अनंगीकृतं च. एतेन तृतीयमपि निरस्तं; ब्रह्मणो वाच्यत्वाविरोधात् च. यदिच उपहितान्तर्भावेन स्वरूपस्य वाच्यत्वेऽपि घटादिवद् धर्मिसमानसत्ताकवाच्यत्वाभावमात्रेण अवाच्यत्वसिद्धिं मन्यसे, तर्हि अवाच्यमिव ब्रह्म अलक्ष्यमपि स्याद् लक्षणावैयर्थ्यं च. यदिच *प्रवृत्तिनिमित्तोपहितप्रतीतेः शक्त्यधीनत्वेऽपि स्वरूपमात्रप्रतीतेः शक्त्यधीनत्वाभावात् स्वरूपम् अवाच्यं, प्रवृत्तिनिमित्तस्य मिथ्यात्वेन तद्विषयकप्रतीतेः अविद्यानिवर्तकत्वाभावात् शब्दजन्यस्वरूपमात्रविषयकापरोक्षवृत्तये स्वरूपलक्षणा* इति ब्रूषे, तर्हि घटाद्यविशेषः. नहि घटत्वाद्युपहिता शक्तिः तदनुपहितं बोधयति. नच वाच्यत्वे

ब्रह्मणो ''**यतो वाचो निवर्तन्ते**'' इति श्रुतिविरोधः तस्याः गुणापरिच्छेदतात्पर्यक-त्वात्. स्वरूपानन्दविषयत्वेऽपि वाङ्मात्रनिवृत्तिप्रतीत्या कथं शक्तिनिवृत्तिः? *ननु '**अप्राप्य निवर्तन्ते**' इति शक्तिरूपसम्बन्धाभावाद् वाङ्निवृत्तिः प्रतीयते* इति चेद् न, वृत्तिमात्रस्य शब्दार्थसम्बन्धतया लक्षणायाअपि निषेधप्रसंगात्. 'यतः' इति निर्दिश्य वृत्तिमात्रनिषेधे व्याघातात् शक्तिः निषिध्यते इति चेद् न, विपरीतस्य सुवचत्वात्. तथा सति हि ''**वचसां वाच्यम् उत्तमम्**'' इत्याद्यननुग्रहः च.

किञ्च एवं संकोचे प्रकरणानुसाराद् मानुषादीनां प्राजापत्यपर्यन्तानामिव आनन्दानां ब्रह्मानन्दस्य परिच्छेदाभावात् शब्दो न मानुषाद्यानन्दानिव प्राप्नोति - प्रकर्षेण सम्बध्यते, न तथा बोधनसमर्थो, अतो निवर्तते इत्येव श्रुत्यर्थः एष्टव्यः. किञ्च मनोवृत्तिनिषेधासम्भवेन तन्निषेधस्य उक्तार्थपरत्वे वाच्ये वाङ्निषेधस्यापि तत्परत्वमेव युक्तम् इति. न तुरीयः, ईदृशनिर्विशेषपरत्वस्य सगुणप्रतिपादकवाक्येऽपि सत्त्वेन सगुणपरत्वनिर्गुणपरत्वयोः विवेकविलयप्रसंगः तदवस्थएव. सर्वेषामपि वाक्यानाम् अध्यारोपापवादपरम्परया निर्विशेषपर्यवसायि-त्वस्य अद्वैतिसम्मतत्वात्. एतेन द्वितीयपक्षोऽपि अपास्तः, कल्पितधर्मपुरस्कारेण ब्रह्मप्रतिपादकत्वस्य उभयत्रापि समानत्वात्. न आद्यः, सद्विद्यायाः अक्षरविद्यायाः अन्तर्यामिब्राह्मणस्य च सकलधर्मशून्यप्रतिपादकत्वम् इति उक्तेः सर्वथा वक्तुम् अशक्यत्वेन ''अत्रापि निर्विशेषपरत्वम्'' इत्यस्य वचनस्य अनिर्वचनीयतैव पर्यवसिता. तस्मात् ''**तद्धर्मव्यपदेशाद्**'' इति सूत्रांशविरोधस्तु अद्वैतिभाष्ये स्थेमानम् आप्तएव. विवरणादिमतेन वृत्तिव्याप्यत्वरूपवाच्यत्वस्य स्वीकारेण, ब्रह्मणि लक्षणावृत्तेः प्रसरांगीकारेण वा, श्रीदेशिकोक्तदूषणानां परिहारप्रयासस्तु प्रबलशृंखलितांघ्रेः उत्प्लवनप्रागल्भ्य-तुल्यएव. तथाहि शुद्धस्यैव अवाच्यत्वसमर्थनं तावद् अद्वैतिनाम् आवश्यकं किन्तु वृत्त्यवच्छिन्नत्वे तस्य शुद्धत्वं कथम् इत्येतत्तु मायावादिभिरेव निरूपणीयम्. यदि अज्ञानस्य तत्परिणामरूपान्तःकरणादेरपि उपाधित्वम् अंगीक्रियते तर्हि अज्ञानपरिणामस्य वृत्तेः कथं न उपाधित्वम् इतितु विवरणाद्यनुयायिभिरेव वाच्यम्. नहि स्वपक्षसाधनानुकूल्यं प्रतिवादिनो भयावहं किन्तु

सर्वमान्यतर्काद्यानुकूल्यमेव इति व्यक्तम् एतत्. भामतीकारैस्तु **''नच अन्तःकरणवृत्तावपि अस्य साक्षात्कारे सर्वोपाधिविनिर्मोकः, तस्यैव तदुपाधेः विनश्यवदस्थस्य विद्यमानत्वाद्''** (भाम.१।२।१८) इत्यनया पंक्त्या सुस्पष्टं वृत्तेः उपाधित्वस्वीकारात्. किञ्च लक्ष्यत्वमपि सविशेषस्यैव निर्विशेषे लक्ष्यत्वस्यापि अभावात्. अतो लक्षणया निर्विशेषस्य वाच्यत्वम् इति पक्षोऽपि निरस्तएव.

(५८५-६ संख्याके प्रश्नोत्तरे)

(प्र.) भूमपदार्थः च यदि निर्विशेषं ब्रह्म तर्हि कथं ''... **धर्मोपपत्तेश्च**'' (ब्र.सू.१।३।९) इति सधर्मत्वोपपादनम्? यदि धर्मवत्त्वं कल्पितं मन्यते तर्हि 'तात्पर्यग्राहकोपपत्ति'पदम् अत्र कथम् उपपद्यते? (उ.) ''**धर्मोपपत्तेः...**'' इतितु सत्यत्वामृतत्वादिब्रह्मस्वरूपधर्माभिप्रायमेव. स्वरूपस्यापि लक्षणत्वम् अंगीकुर्वताम् अद्वैतिनां मते 'धर्म'शब्दोऽपि स्वरूपे भाक्तो वर्ततइति स्वरूपात्मकधर्मवत्त्वम् अत्र बोध्यमानं न निर्विशेषवादविरोधि, व्यावतर्कमात्रधर्मपरत्वाद् 'धर्म'शब्दस्य. सच धर्मो असत्यत्वाभावादिरूपब्रह्मस्वरूपत्वाद् मुख्यतात्पर्यविषयएवेति न 'उपपत्ति'पदायोगः.

(तत्पर्यालोचनम्)

यदपि ''भूमाधिकरणे भूमपदार्थश्च निर्विशेषं ब्रह्म, तर्हि कथं धर्मोपपत्तेः च'' इति सधर्मत्वोपपादनम्? तद् यदि धर्मवत्त्वं कल्पितम् इति मन्यते, तर्हि कथं 'तात्पर्यग्राहकोपपत्ति'पदम् अत्र उपपद्यते? इति प्रश्नद्वये '''**धर्मोपपत्तेः**' इति तु सत्यत्वामृतत्वादिब्रह्मस्वरूपाभिप्रायमेव... एवेति न 'उपपत्ति'पदायोगः'' इति उत्तरितं तदपि अविचारितरमणीयमेव, श्रीनारायणसरस्वतीकृतवार्त्तिकस्थेन **''लिंगन्तु धर्मोपपत्तेः इत्यनेन वक्ष्यमाणम्''** (ब्र.सू.शां.भा.वा.१।३।८) इति वाक्येन उक्तधर्माणां धर्मरूपतायाएव स्थिरीकरणात्. उत्तरमीमांसायान्तु विशेषणपदबोध्यस्य असाधारणधर्मस्यैव लिंगत्वाभ्युपगमात्. शास्त्रिचरणैरपि आकाशाधिकरणालोचने प्रश्नोत्तरसाहस्र्यां पूर्वोक्तस्यैव 'लिंग'पदनिर्वचनस्य स्वीकारात्. स्वरूपस्यैव व्यावर्तकत्वस्वीकारेतु

सविशेषकत्वप्रसक्तिः दुर्वारैव.

किञ्च स्वरूपस्यैव व्यावर्तकसामर्थ्येतु को वा विशेषलाभो विशेषणस्वीकारेण प्रत्युत गौरवमेव. अत्र विचारस्तु श्रीभाष्ये **''नच ते वस्तुमात्रम् इति शक्या उपपादना, वस्तुमात्राभ्युपगमे सत्यपि विधाभेदविवाददर्शनात्. स्वाभिमतविधाभेदैः स्वमतोपपादनाद्''** (ब्र.सू.रा.भा. । ।) इत्यत्र तु सुचारुरूपेण कृतइति न विशेषतो विस्तरः क्रियते. अत्रत्या श्रुतप्रकाशिकापि अवलोकनयोग्यैव. तत्रत्यो आवश्यकभागस्तु उदाह्रियते—

> **''तथाहि क्षणिकत्ववादिनं प्रति वस्तुनित्यत्वं साधयता त्वया स्वरूपमात्रातिरेकेण किञ्चित् साधितम् अस्ति न वा? अस्ति चेत् सधर्मत्वं, नो चेत् सिद्धसाधनता, स्वरूपमात्रस्य अभिमतत्वात् संविद् नित्या इति.''**
>
> ( ).

प्रतिज्ञावाक्यगतौ 'धर्म'-'धर्मि'शब्दौ पर्यायौ न वा? आद्ये तत्साधनायासो निष्फलः. द्वितीये स्वरूपातिरिक्तधर्मांगीकारः इति भावः. 'धर्म'शब्दस्य स्वरूपाभिप्रायेतु एकवचनेनैव धर्मजातम् उपदेष्टव्यम्, एकवचनस्यैव अद्वैतबोधकत्वात्. एतेन अक्षराधिकरणान्तर्गत-''...**प्रशासनाद्**'' इति सूत्रस्थाच अम्बरान्तधृतिः परमेश्वरस्यैव कर्मेति तेषां पंक्तिरपि आलोचितप्रायैव. नहि अम्बरान्तधृतेः प्रशासनात्मककर्मणोऽपि स्वरूपात्मकत्वं सम्भवति. प्रशासनादीनामपि स्वरूपात्मकत्वस्वीकारेतु पूर्वसूत्रेणैव चारितार्थ्यात् ''...**प्रशासनाद्**'' इति उत्तरसूत्रप्रणयनवैयर्थ्यमेव. तथाहि अम्बरान्तधृतेः प्रशासनस्यापि अभिन्नस्वरूपत्वेतु पूर्वहेतुनैव साध्यसिद्धिसम्भवेन 'प्रशासनाद्' इति उत्तरहेतोः पुनरुक्तिदोषरूपत्वमेव. नहि ''धूमाद्'-'धूमाद्' इति वारद्वयं हेतोः प्रयोगः कुत्रापि साध्यसाधकवाक्ये दृष्टः. अतः प्रशासनादिकर्मणः स्वरूपात्मकत्वकथनन्तु सर्वथा अशक्यमेव. तथा साधारणेऽपि जगदाधारलिंगे 'प्रशासनाद्' इति विशेषलिंगेन ब्रह्मपरत्वम् उन्नीतम्, इति शारीरिकन्यायसंग्रहपंक्त्या उभयोरपि

हेत्वोः सामान्यविशेषरूपत्वस्थापनेन निःसामान्यविशेषरूपस्वरूपात्मकतायाः सुव्यक्तम् अपाकृतत्वात्. अद्वैत्यभिमतब्रह्मस्वरूपे सामान्यविशेषादिकथनस्य असम्भवदुक्तिकत्वम् इत्येतत्तु अभियुक्तैः बहुधा प्रपञ्चितम्. विशेषजिज्ञासायां न्यायसिद्धाञ्जनस्थेश्वरपरिच्छेदः शतदूषणीगततिरोधानानुपपत्तिवादो निवर्तकानुपपत्तिवादोऽपि अवलोकनीयः. यदितु आग्रहिलतया भूमाधिकरणे अक्षराधिकरणे च सगुणस्यैव प्रतिपादनम् इति अंगीक्रियते, तर्हि न निर्विशेषे विशेषस्वीकाररूपो दोषः आयाति इति चेद् न, तृतीयपादस्यतु ज्ञेयब्रह्मनिरूपकतया अस्मिन् पादे सगुणनिरूपणस्य अप्रकृतत्वात्. तत्परिग्रहेतु प्रकृतहानाप्रकृतनिरूपकत्वादिदोषप्रसंगात्.

वाचस्पतिमिश्राअपि "**इह ज्ञेयत्वेन ब्रह्म उपक्षिप्यते**" (ब्र.सू.शां.भा.-भाम.१।३।१) इति वचनेन निर्धर्मकस्यैव प्रकृतत्वं मन्यन्ते. नच * न्यायनिर्णये "**सम्प्रति निर्विशेषप्रचुराणां तेषां तत्परतां वक्तुं पदान्तरम् आरभन्ते**" (ब्र.सू.शां.भा.न्या.नि.१।३।१) इति पंक्त्या 'प्रचुर'शब्दसत्त्वेन सगुणस्यापि ग्रहणं न दोषावहम् * वाच्यं, प्रकृताधिकरणद्वयेतु न 'प्रचुर'पदेनापि निर्वाहः इति तु कथायां वक्तुं पारयामः. तथाहि अक्षराधिकरणस्यतु निर्विशेषपरत्वम् अकामेनापि अद्वैतिना उररीकार्यमेव, अद्वैतिमते 'अक्षर'पदस्य अक्षरपरताया "**ये तु अक्षरम् अनिर्देश्यम्**" (भग.गीता.१२।३) इत्यादिस्थले दृष्टत्वाद् अविद्यापरस्यतु "**अक्षरादपि च उत्तमः**"(भग.गीता.१५।१८) "**द्वौ इमौ पुरुषौ लोके**" (भग.गीता.१५।१६) इत्यादिषु प्रसिद्धत्वाद् अविद्यापरत्वं निर्विशेषपरत्वं न वक्तुं शक्यते. नतु शबलपरत्वं तदर्थकतया 'अक्षर'शब्दस्य अद्वैतिनां मते सर्वथा अप्रसिद्धत्वात्.

(७७६ संख्याके प्रश्नोत्तरे)

(प्र.) प्रतिज्ञादृष्टान्तानुपरोधः प्रधानकारणतायामपि कथं विरुद्धः कार्यकारणयोः अभेदस्य तन्मतेऽपि स्वीकारात्? (उ.) नहि कार्यकारणयोः अभेदमात्रेण प्रतिज्ञान्तोपरोधः किन्तु कारणस्वरूपव्यतिरिक्तकार्याभावेनैवेति प्रधानव्यतिरिक्त-पदार्थाभावानंगीकाराद् न तन्मते प्रतिज्ञोपरोधः सम्भवति.

(तत्पर्यालोचनम्)

यत्तु प्रकृत्यधिकरणालोचने षट्सप्तत्युत्तरसप्तशततमे प्रश्नोत्तरे "नहि कार्यकारणयोः अभेदमात्रेण...कार्याभावेनैव" इति वचनं तदपि नवत्युत्तरद्विशततमप्रश्नसमालोचनेनैव आलोचितप्रायमिति न पुनः निरासः क्रियते.

(७७७ संख्याके प्रश्नोत्तरे)

(प्र.) यद्यपि "अविद्यैव कारणं, ब्रह्मतु न कारणमेव" इति सिद्धान्तस्यापि सिद्धान्तलेशसंग्रहे दर्शनात् किमिति ब्रह्मणोऽपि उपादानत्वं समर्थ्यते? (उ.) "अविद्यैव कारणं ब्रह्मतु न कारणमेव" इति मतस्य अयमेव आशयो : यत् शाखाचन्द्रमसन्यायेन तटस्थलक्षणविधयैव कारणत्वस्य ब्रह्मलक्षणतायाम् ईश्वरनिष्ठमिव अविद्यामात्रनिष्ठमपि लक्षणं निर्वोढुं शक्यतइति ईश्वरस्यापि व्यर्थं कारणत्वकल्पनम् इति. अत्रच अविद्यानिष्ठं कारणत्वमेव तदधिष्ठाने ब्रह्मण्यपि शुद्धे कल्पयित्वा 'ब्रह्मोपादानत्व'व्यपदेशः इत्येव मन्यते. तथाच कारणत्वं ब्रह्मविषमसत्ताकं ब्रह्मणो अत्र मते लक्षणम्. विवरणादिमतेतु ईश्वरकारणत्वस्वीकाराद् कारणत्वं कारणेश्वरसमसत्ताकमेव स्वीक्रियते इति विशेषः. प्रकृतित्वादिकन्तु स्वीक्रियतएवेति न दोषः.

(तत्पर्यालोचनम्)

"अविद्यैव कारणं ब्रह्मतु न कारणमेव" इति मतस्य अयमेव आशयः" इत्यादि यद् उत्तरं तदपि उपलब्ध्यतिरेकविभ्रममेव आविष्करोति. किं वरुणादिसदृशापरोक्षज्ञान्युक्तब्रह्मज्ञापकमुख्यधर्मस्य कन्दुकप्रायत्वं भवता अभ्युपगतं येन "ईश्वरनिष्ठमिव अविद्यानिष्ठमपि लक्षणं निर्वोढुं शक्यते" इति; "अविद्यानिष्ठं कारणत्वमेव तदधिष्ठाने ब्रह्मण्यपि शुद्धे कल्पयित्वा ब्रह्मोपादानत्वव्यपदेश इत्येव मन्यत" इति च पंक्तिद्वयेन कदाचित् कारणत्वस्य अविद्यायां कदाचिद् ब्रह्मण्यपि कल्पने स्वाच्छन्द्यं प्रदर्श्यते. * ननु न वयं कल्पयामः श्रुतिरेव कल्पने साहाय्यम् आवहति * इति चेद् एतत्कथनस्य परस्पराश्रयदोषग्रस्तत्वात्. धर्मनिषेधकवचनानां सर्वथा निर्विशेषपरत्वे सिद्धे सगुणप्रतिपादकवाक्यानां कल्पितधर्मप्रतिपादकत्वसिद्धिः, गुणाभिधायकवचनानां

कल्पितगुणप्रतिपादकत्वे सिद्धे विशेषनिषेधकवाक्यानां निर्गुणपरत्वसिद्धिः इति.

तथाहि **"यतो वा इमानि भूतानि जायन्ते"** (तैत्ति.उप.३।१), **"कर्तारम् ईशं पुरुषं ब्रह्मयोनिम्"** (मुण्डकोप.३।१।३), **"स विश्वकृद् विश्वविद् आत्मयोनिः"** (श्वेता.उप.६।१६), **"अन्तः प्रविष्टं कर्तारम् एतम्"** (चित्युप.११।३), **"अहं सर्वस्य जगतः प्रभवः प्रलयः तथा"** (भग.गीता.१०।८) इत्यादिवेदान्तेषु ब्रह्मासाधारणधर्मतया श्रुतस्य जगत्कारणत्वस्य व्यभिचरितत्वप्रदर्शनेन साधूपकृतं वेदान्तदर्शनस्य !

किञ्च अस्य प्रश्नोत्तरस्य अद्वैतमते प्रधानस्थानीयप्रकृतेरपि कारणत्वस्वीकारात् तत्कारणत्वेनैव ब्रह्मणोऽपि कारणत्वव्यवहारमात्रम् इति सिद्धान्तस्यापि कौमुदीकारादिसमत्वात् च इति प्रश्नोत्तरसमालोचनेनैव आलोचितत्वम् इति विशेषविस्तारेण न पुनः निरासः क्रियते.

(७७९ संख्याके प्रश्नोत्तरे)

(प्र.) विवर्तोपादानतापरत्वन्तु विवर्तोपादानस्यैव अप्रसिद्धत्वाद्, अत्रैव अधिकरणे **"...परिणामाद्"** (ब्र.सू.१।४।२६) इति 'परिणाम'पदस्यैव प्रयोगात् च न उपपद्यते. (उ.) विवर्तोपादानत्वन्तु **"शुक्तिका रजतवद् अवभासते"** (ब्र.सू.शां.भा.१।१।१) इति भाष्ये शुक्त्यादौ प्रसिद्धमिति निरूपितम्. अप्रसिद्धावपि लोके श्रुतिप्रामाण्यरक्षणार्थं **"श्रुतेस्तु शब्दमूलत्वाद्"** (ब्र.सू.२।१।२७) इति न्यायेन प्रसाधयितुं शक्यते. प्रकृत्यधिकरणे अत्र 'परिणाम'पदन्तु विवर्तपरम् इति शारीरकमीमांसाभाष्यवार्तिकादौ व्यक्तमेवेति न अनुपपत्तिलेशोऽपि.

(तत्पर्यालोचनम्)

यत्तु प्रकृत्यधिकरणे "विवर्तोपादानतापरत्वन्तु... प्रयोगात् च न उपपद्यते" इति पर्यनुयोज्य "विवर्तोपादानत्वन्तु 'शुक्तिका रजतवदवभासत' इति... न्यायेन प्रसाधयितुं शक्यते" इति समाहितं तद् न विचारपदवीम् अधिरोढुम्

अर्हति, **"श्रुतेस्तु शब्दमूलत्वाद्"** इति न्यायस्य अद्वैतिमते सर्वथा अनवकाशात्. व्यक्ततया विवर्तोपादानताबोधकश्रौतवचनस्य अनुपलभ्यमानत्वेन कथं वा विवर्तोपादानताबोधने अस्य न्यायस्य प्रसरः स्यात्? **"सैषा अविद्या जगत् सर्वम्"** (नृसिं.उ.ता.उप.९) इत्यादिवचनानाम् अन्यथा योजनस्य नृसिंहोत्तरतापनीयटीकायां सृष्टिभेदवादे च श्रीपुरुषोत्तमचरणैः प्रदर्शितत्वेन तादृशवचनैरपि भवन्मनोभिलषितसिद्ध्यभावात्. **"सदेव, सोम्य!, इदम् अग्रे आसीद् एकमेव अद्वितीयम्"** (छान्दो.उप.६।२।१) इत्यादिवाक्यानामपि प्रपञ्चसत्यत्वानुकूल्यस्य अभियुक्तैः बहुधा प्रपञ्चितत्वेन विवर्तोपादानत्वबोधकश्रुतिलेशस्यापि अनुपलब्धत्वात्. प्रायः सर्वत्र येन लोकसिद्धदृश्यत्वादितर्कोपजीवनं कृत्वा **"यदिदं किञ्च तत् 'सत्यम्' इति आचक्षते तदेतत् सत्यम्"** (तैत्ति.उप.२।६) इत्यादि श्रुतिवाक्यानां मुख्यार्थात् प्रच्यावनं क्रियते को वा अधिकारः तस्य एतन्न्यायोपजीवनस्यापि? भवन्मतेतु प्रायो बौद्धोच्छिष्टयुक्तेरेव प्राबल्यदर्शनेन, **"श्रुतेस्तु..."** इति न्यायस्थाने 'बौद्धोच्छिष्टतर्कमूलत्वाद्' इति न्यायस्यैव प्रसरो भवितुम् अर्हति.

किञ्च **"श्रुतेस्तु..."** इति सूत्रभाष्यप्रकाशे श्रीपुरुषोत्तमचरणैः अस्य न्यायस्य सर्वथा अद्वैतिमतविरोधित्वम् उपपादितमेवेति न इह प्रतन्यते. किञ्च अस्मिन् अधिकरणे यत् 'परिणाम'पदं प्रयुक्तं तेन विवर्तपरिणामस्यैव ग्रहणम् इत्यत्र विनिगमनाविरहएव, 'परिणाम'पदस्वारस्यमपि मृद्घटादिपरिणामस्थलएव. विवर्तपरिणामस्य अद्वैतिगृहएव प्रसिद्धत्वात्. अपिच **"....परिणामाद्"** इत्यस्य विवर्तपरिणामाद् इति अर्थाभ्युपगमेतु 'आत्मकृतेः' इति अंशस्य वैयर्थ्यात्. नहि विवर्तवादे आत्मकृतेः कश्चन उपयोगः. संक्षेपशारीरकविवरणमतेतु अधिष्ठानस्य निर्विशेषत्वेन तत्र कृतिलेशस्यापि वक्तुम् अशक्यत्वात्. अतो विर्वतवादाभ्युपगमेतु "उपाधिरूपदोषकृतेः परिणामाद्" एवमेव सूत्ररचना युज्येत. एवंहि अनुपन्यस्य **"आत्मकृतेः परिणामाद्"** इति सूत्रोपन्यासएव विवर्तपक्षं समूलम् उच्छिनत्ति. विवर्तपदाध्याहारप्रसंगात् च अयं पक्षो दुष्टः. परिणामवादे न एतेषां दोषाणाम् अवकाशः. निर्विशेषण'परिणाम'पदस्य तात्त्विकपरिणामबोधकत्वमेव बहुलम् उपलभ्यते. शांकरग्रन्थेष्वपि 'परिणाम्युपादानं'-'विवर्तोपादानम्'

इति प्रयोगद्वयम् उभयोपादानबोधकम् उपलभ्यते. तत्र 'तात्त्विका'दिविशेषणं विनैव 'परिणाम'पदस्य तात्त्विकपरिणामबोधकता प्रतीयतइति अस्मदुक्तमेव साधीयः.

(११६ संख्याके प्रश्नोत्तरे)

(प्र.) "अथातो ब्रह्मजिज्ञासा" (ब्र.सू.१।१।१) इति प्रक्रम्य **'सर्वधर्मोपपत्त्योपसंहारः'** कथं न निर्विशेषब्रह्मवादविरोधी ? (उ.) प्रक्रान्तं ज्ञेयं ब्रह्मैव जगत्कारणत्वादितटस्थलक्षणविधया लक्ष्यते इति अंगीकाराद् निर्विशेषत्वसविशेषत्वादिसर्वधर्मोपपत्तिः अद्वैमतएव. सगुणब्रह्मवादेतु 'सर्व'पदं वितथम्. अथवा जीवधर्माणां मुख्यप्राणाकाशादिधर्माणां निर्विशेषत्वसविशेषत्व-सत्त्वासत्त्वात्मत्व-सशरीरत्वाशरीरत्वादिविरुद्धधर्माणां च उपपत्तिः अद्वैतवादएव सम्भवति, कार्यात्मना स्वात्मना औपाधिकरूपेण अनौपाधिकरूपेण वा सर्वधर्मोपपत्तेः. मतान्तरेषुतु निर्विशेषवाक्यानामपि सविशेषपरतया योजनेन सर्वधर्मोपपत्तिः बोध्यतइति तत्रैव सर्वधर्मोपपत्त्योपसंहारो विरोधी भवति.

(तत्पर्यालोचनम्)

यदपि सर्वधर्मोपपत्त्यधिकरणपरीक्षायाम् "**'अथातो ब्रह्मजिज्ञासा'** (ब्र.सू.१।१।१) इति प्रक्रम्य सर्वधर्मोपपत्त्योपसंहारः कथं न निर्विशेषब्रह्मवाद-विरोधी?" इति प्रश्नस्य उत्तरे "प्रक्रान्तं ज्ञेयं बह्मैव जगत्कारणत्वादितटस्थलक्ष-णविधया लक्ष्यते इति अंगीकाराद् निर्विशेषत्वसविशेषत्वादिसर्वधर्मोपपत्तिः अद्वैतमतएव" इति यद् उक्तं तत्रापि व्याहतार्थवादितैव व्यक्ततया दृश्यते. तथाहि निर्विशेषत्वमपि यदि धर्मकोटिनिविष्टं तर्हि ब्रह्मणो निर्विशेषत्वं नष्टप्रायमेव. स्वरूपकोटिनिविष्टत्वस्वीकारेतु 'धर्मोपपत्तेः' इत्यत्र 'धर्म'पदेन निर्विशेषत्वरूपधर्मबोधनस्य अशक्यत्वेन निर्विशेषत्वसविशेषत्वरूप-सर्वधर्मोपपत्तिः अद्वैतमतएव इति कथनस्य स्वतोभग्नत्वमेव. किञ्च निर्विशेषत्वमपि यदि धर्मविशेषः तर्हितु **"ब्रह्मणो निर्विशेषत्वम् इति धर्मो अस्ति वा न वा? द्विधापि सविशेषत्वम् अतद्योगतदयोगजम्."** (न्या.सि.३।४३) इति न्यायसिद्धाञ्जनोक्तिरेव जयश्रीशालिनी स्यात्.

यदि उच्येत : स्वरूपस्यापि लक्षणत्वम् अंगीकुर्वताम् अद्वैतिनां मते 'धर्म'शब्दः स्वरूपेऽपि भाक्तः प्रवर्तते, व्यावर्तकमात्रपरत्वाद् 'धर्म'शब्दस्येति कथंवा न्यायसिद्धाञ्जनोक्तदूषणस्य अद्वैतमते प्रसरः? एतादृशधर्मस्वीकारेण अद्वैतमते सर्वधर्मोपपत्तिः इति कथनमपि निर्व्यलीकमेव तिष्ठति इति तर्हि व्यावर्तकत्वं किं स्वरूपेऽपि भवता अंगीकृतं येन व्यावर्तकत्वगुणयोगाभ्युपगमः? तथासति कया विधया निर्गुणत्वनिर्वाहः इतितु मायावादिभिरेव निरूपणीयम्.

किञ्च धर्मरहितकेवलस्वरूपमात्रेण इतरव्यावृत्तिः कुत्रापि अप्रसिद्धा, कथम् अद्वैतिमतएव भवति इति आश्चर्यावहम् एतत्. अत्र विशेषविस्तरस्तु भूमाधिकरणालोचने कृतइति विशेषज्ञानेच्छायां सोऽपि भागः अवलोकनीयः. यदपि "सगुणब्रह्मवादेतु 'सर्व'पदं वितथम्" इति कथनं तदपि बालविभीषिकामात्रमेव, 'सर्व'पदेन निर्विशेषत्वसविशेषत्वरूपधर्माणामेव ग्रहणम् इति एतादृशवैदिकवचनस्य वा राजाज्ञायाः वा अभावात्. 'सर्वधर्म'पदेन प्रकृतित्वा-ऽभिन्ननिमित्तोपादानत्व-सर्वकामत्व-सर्वज्ञत्वा-ऽचिन्त्याद्भूतानन्तश-क्तिमत्त्वादि-धर्माणामेव ग्रहणम् इति युक्तम् उत्पश्यामः. तेषामेव उपपत्तिः अस्मिन् सूत्रे प्रतिपाद्या इति कथनमेव उपपद्यतइति अनुपपत्तिलेशस्यापि अभावात्. निर्विशेषत्वसविशेषत्वरूपधर्मोपपत्तिपक्षस्तु सर्वथा अनुपपत्तिग्रस्तएव इतितु अधस्तादेव सूपपादितम्. यदि उपहितएव सर्वधर्मोपपत्तिः अनेन सूत्रेण पर्यवस्थाप्यते, तर्हितु घट्टकुटीप्रभातन्यायेन प्रकृतिकारणत्वांगीकारएव भिन्नमुखेन सिध्येत्. एवञ्च प्रकृतावेव सर्वधर्मोपपत्तिः अनेन सूत्रेण प्रदर्शिता भवेद् न ब्रह्मणि.

यत्तु अस्यैव प्रश्नोत्तरस्य "अथवा जीवधर्माणाम्" इत्यारभ्य "औपाधिकरूपेण अनौपाधिकरूपेण सर्वधर्मोपपत्तेः" इत्यन्तं द्वितीयं समाधानं तदपि स्वमनीषिकामात्रसमुत्प्रेक्षितमेव, औपाधिकरूपेण धर्मोपपत्तिस्तु अनुपपत्तिप्रायैवेति, औपाधिकधर्माणाम् उपाधावेव पर्यवसानस्य प्राक् प्रदर्शितत्वेन ब्रह्मणि सर्वधर्मोपपत्तेः असम्भवोक्तिकत्वात्.

किञ्च "जीवधर्माणां मुख्यप्राणधर्माणां सत्त्वासत्त्वात्मत्वादिविरुद्धधानाम्

उपपत्तिः अद्वैतवादएव'' इति उक्तिस्तु स्वभाष्यविरुद्धैव, ''**सर्वधर्मोपपत्तेः च**'' (ब्र.सू.२।१।३७) इति सूत्रे कारणधर्माणामेव उपपत्तिनिरूपणम् इतितु एतत्सूत्रभाष्यस्थया ''**यस्माद् अस्मिन् ब्रह्मणि कारणे परिगृह्यमाणे प्रदर्शितेन प्रकारेण सर्वे कारणधर्मा उपपद्यन्ते, सर्वज्ञं, सर्वशक्ति, महामायं च ब्रह्म**'' (ब्र.सू.शां.भा.२।१।३७) इति पंक्त्या सुस्पष्टं दृष्यते. 'सर्वज्ञं', 'सर्वशक्ति' इति विशेषणद्वयेन ''**सर्वधर्माणाम् उपपत्तिः उक्ता**'' (शां.भा.वा.इहैव) इत्यनया वार्तिकोक्त्यापि सर्वज्ञत्वसर्वशक्तिमत्वरूपकारण-त्वौपयिकधर्मद्वारा धर्मोपपत्तिप्रदर्शनेन उपलक्षणविधया कारणधर्माणाम् उपपत्तेरेव एतत्सूत्रप्रतिपाद्यत्वस्य सिद्धान्तितत्वात्..

किञ्च मायिकधर्मवादिमते 'उपपत्ति'पदप्रयोगोऽपि न उत्थानम् अर्हति अनुपपद्यमानार्थत्वाद् मायायाः. तद् उक्तं भवत्कूटस्थैः ''**दुर्घटत्वम् अविद्याया भूषणं नतु दूषणं कथञ्चिद् घटमानत्वे अविद्यात्वं दुर्घटं भवेत्**'' (इष्टसि.१।१४०) इति. भामतीवचनान्यपि यथा—

> ''**अस्तु वा अनुपपत्तिरेव कार्यकारणयोः मायात्मकत्वात्. अनुपपत्तिः हि मायाम् उपोद्बलयति, अनुपपद्यमानार्थत्वाद् मायायाः. परमार्थस्तु न विभ्रमो नाम कश्चित्. न संसारो नाम अपितु सर्वम् एतत् सर्वानुपपत्तिभाजनत्वेन अनिर्वचनीयम् इति युक्तम् उत्पश्यामः. अनिर्वाच्यात् च अनिर्वाच्योत्पत्तौ न अनुपपत्तिः, 'यादृशो यक्षः तादृशो बलिः' इति सर्वम् अवदातम्.**''
>
> (ब्र.सू.शां.भा.भाम.२।४।२२).

उदाहृतैः एतैः वचनैः मायिकपदार्थे अनुपपत्तेरेव भूषणत्वात् सूत्रगत-'उपपत्ति'पदनैरर्थक्यमेव मायावादिमते प्रसज्यते.

यदपि ''मतान्तरेषुतु...'' इत्यादिकथनं तदपि मन्दं, निर्विशेषवाक्यानां

सविशेषपरतया योजनएव सर्वधर्मोपपत्तिः न अन्यथा इतितु उपरि निवेदितम्. निर्विशेषब्रह्मस्वीकारेतु ''**सर्वधर्मोपपत्तेः च**''इति सूत्रस्य जरद्गववाक्यतुल्यत्वमेव स्यात्. तस्माद् निर्विशेषवादएव सर्वधर्मोपपत्त्युपसंहारो विरोधी इति सिद्धम्.

इति श्रीमद्गोकुलनाथाचार्यात्मजेन अनुकम्पास्वरूपश्रीकुसुमप्रभागर्भसम्भवेन भगवदीयदासदासेन गोस्वामिदीक्षितेन विरचितं प्रश्नोत्तरसाहस्रीपर्यालोचनम् समाप्तम्

वादावलीपरिशिष्टम्

(२)

।। प्रश्नोत्तरसाहस्रीचर्चितप्रकृत्यधिकरणसमालोचनम् ।।

(मंगलाचरणेन विषयोपक्रमः)

पुरा मत्कैशोर्ये गृहमधिगतैस्तातगुरुभिः
समाज्ञप्तो वक्तुं किमपि यदधीतं निजमते ।।
प्रशिक्षेऽहं चर्चां गहनगहने शास्त्रविषये
प्रभूयास्त्वं तेन स्वपितुरिव शास्त्रार्थकुशलः ।।१।।
समाश्वस्तोऽप्येवं गदितुमधिकं नाहमशकम्
तथाप्युक्तः कश्चित् स्वमतिबलबोधोत्थविषयः ।।
ततः सन्तुष्टाय प्रथितनिजवात्सल्यगुरवे
समर्प्याहं वन्दे तदुदितसमालोचनमिदम् ।।२।।
ब्रह्म प्रकृतिरविकृताऽऽविष्करोति नामरूपकर्माणि ।।
निखिलानि स्वात्मकानि जडजीवेशभेदभिन्नानि ।।३।।
सिद्धान्तोऽयं सौत्रः शब्दस्वारसिकार्थलब्धश्च ।।
स्वमतिकल्पितो ह्यन्यो व्यासाभिप्रायविषयो नो ।।४।।

(७७६ संख्याके प्रश्नोत्तरे)

(प्र.)प्रतिज्ञादृष्टान्तानुपरोधः प्रधानकारणतायामपि कथं विरुद्धः कार्यकारणयोः अभेदस्य तन्मतेऽपि स्वीकारात् ? (उ.)नहि कार्यकारणयोः अभेदमात्रेण प्रतिज्ञादृष्टान्तोपरोधः किन्तु कारणस्वरूपव्यतिरिक्तकार्याभावेनैव, इति, प्रधानव्यतिरिक्तकार्याभावानंगीकाराद् न तन्मते प्रतिज्ञोपरोधः सम्भवति.

(तत्समालोचनम्)

कारणस्वरूपव्यतिरिक्तकार्याभावएव श्रुतितात्पर्यांगीकारे न काञ्चिदपि शाब्दीं लैंगिकीं वा विनिगमनां पश्यामः.

*ननु विकारमात्रस्य वाचारम्भणतानिरूपणेन कारणस्य तु ''**'मृत्तिका' इत्येव सत्यम्**'' (छान्दो.उप.६।१।४) इति सत्यत्वेन निरूपणात् कारणस्वरूपव्यतिरिक्तकार्याभावएव द्योत्यते* इति चेद् न, श्रुतेः तात्पर्यानवधारणाद्, अयुक्तार्थकल्पनाद्, अश्रुतपदाध्याहारात् श्रुतपदापोहनात् च.

नहि अस्मिन् वचने मृत्तिकायाः सत्यत्वं प्रतिपिपादयिषितम्. किन्तर्हि? 'मृत्तिका'इति नामधेयस्यैव सत्यत्वप्रतिपादने श्रुतेः तात्पर्यम् उपलभामहे. मृदो जातस्य मृण्मयात्मकत्वाद् एकस्याः मृत्तिकायाः ज्ञानेन तज्जातानां सर्वेषामपि मृण्मयात्मकत्वाद् मृदभेदाद् 'मृत्तिका'इत्येव नामधेयं तेषां सत्यं न पुनः 'विकारः'इति. एतावदेव खलु श्रुतेः विवक्षितम्. अन्यत्तु श्रुत-'इति'-पदापोहनाद् अश्रुत-'वस्तु'-पदाध्याहारात् च हठात् कल्पितं तात्पर्यम् इति अवगम्यते. यथाच शांकरभाष्ये उक्तवचनस्य स्वकल्पिततात्पर्यारोपणम् उपलभ्यते ''**वागालम्बनमात्रं नामैव केवलं न विकारो नाम वस्तु अस्ति परमार्थतः. मृत्तिका इत्येवतु मृत्तिकैव सत्यं वस्तु अस्ति**'' (छान्दो.शां.भा.६।१।४) इति. संदृश्यते इह '**इति**'पदापोहनं विना '**वस्तु**'पदाध्याहारं च विना केवलाद्वैतवादिनां न स्वाभिलषितार्थसिद्धिः. किञ्च केवलाद्वैतसमये यथा न विकारनामा वस्तु परमार्थतो अस्ति, तथैव नहि मृत्तिका वा तत्सूचितं कारणं वा किमपि परमार्थतो अस्ति, शुद्धेच ब्रह्मणि कारणत्वधर्मानभ्युपगमात्. शबलस्यतु ब्रह्मणः कारणत्वाभ्युपगमेऽपि पारमार्थिकत्वानंगीकारात् च भक्षितेपि लशुने न शान्तो व्याधिः.

यदिच मृत्तिकायाः सत्यत्वं श्रुत्यभिलषितम् इह स्यात्, स्यात् च तदा वचनं ''**मृत्तिकैव सत्या**'' इति. प्रकृतशब्दस्वरूपद्योतनपरो हि '**इति**'शब्दो न जातु निरर्थकएवेति न युक्तं श्रुतस्य तस्य विस्मरणं वाक्यार्थघटनायाम्.

तस्मात् कार्यकारणभेदख्यापकेन कार्यकारणयोः भिन्ननामनिरासेन तयोः तादात्म्यएव, यत्र नात्यन्तो भेदो नापि अभेदो वा, इत्यत्रैव श्रुतेः तात्पर्यम् अवगच्छामः. अर्थापत्त्या 'मृद्विकारः' इति अभिधानमपि मृत्तिकायाः नामान्तराभिधायकत्वेन अंगीक्रियते चेत् तत्र बाधकाभावेन तस्यापि सत्यत्वम् अन्यथा वाचारम्भणतैव इति फलितम्. तस्मात् शाब्दविनिगमनायाः अभावः. लैंगिक्यपि सा न सम्भवतीति प्राप्तावसरेति तद्विमर्शाय प्रयतामहे.

तथाहि **''ईक्षतेः न अशब्दं...गौणः चेद् न 'आत्म'शब्दाद्''** (ब्र.सू.१।१।४-५) इत्यादिसूत्रैः प्रधानादिकारणतावादनिरसनाद् ब्रह्मण्येव सर्वासां श्रुतीनां तात्पर्यं नानुमानिके प्रधानादौ इति. प्रधानादिवादिभिश्च तत्तत्कारणस्वरूपव्यतिरिक्तकार्यसत्त्वाभ्युपगमाद् अद्वैतश्रुतिबाधाद् **''एकमेव अद्वितीयम्''** (छान्दो.उप.६।२।१) इति श्रुतिबोधिताद् ब्रह्मणः स्वरूपव्यतिरिक्त-निखिलद्वैतप्रपञ्चस्य अभावो अनया **''मृत्तिका इत्येव सत्यम्''** इति श्रुत्या बोध्यते.

बोध्यतएव तदा अनयैव श्रुत्या माया-मायिकेश्वर-शबलब्रह्मादिरूपाणां कल्पितानां पदार्थानामपि व्यावृत्तिः अनेनैव खलु **'एव'**कारेणापि. नहि प्रधानादिकारणतावादिषु कपिलादिषु भगवतो बादरायणस्य महान् विद्वेषः, ऋते अश्रौतप्रक्रियाकल्पनम्, येन निर्बन्धेन तदभिमतत्त्वादेव केवलं प्रधानादेः कारणत्वं खण्डनीयत्वं मन्येत. ब्रह्मव्यतिरेकस्तु उभयोः प्रधानाविद्ययोः समानः. शुद्धब्रह्मजिज्ञासायां प्रवृत्तायामेव **''जन्माद्यस्य''** (ब्र.सू.१।१।२) इति सूत्रोपन्यासात् शुद्धस्यैव ब्रह्मणः तल्लक्षणं न शबलस्य मायाविद्ययोः वा इति अवसीयते.

ननु प्रधानस्य पारमार्थिकत्वं सांख्यानाम् अभिमतं ब्रह्माद्वैतविघातकं श्रुतिविरुद्धं च. अस्माकं तु पुनः मायायाः सदसद्विलक्षणम् अनिर्वचनीयत्वमेव अभिप्रेतं, नच तच्छ्रोतेन अद्वैतेन विरुद्धमिति कथं तयोः तौल्यम्? इति चेद्

मायायाः अपारमार्थिकत्वे हि ब्रह्मणः तद्व्यतिरेकोऽपि अपारमार्थिको भवेद्. नच एतावता तयोः भेदएव नास्ति इति युक्तं वक्तुम्. एकेनैव पदार्थेन प्रपञ्चस्य जन्मादिव्याख्यानसम्भवाद् अभेदात् च तत्र अपरपदार्थकल्पनायाः अनौचित्यात्. ब्रह्मणश्च मिथ्यावस्तुनो भेदाभावे मिथ्यात्वापत्तिः च सर्वनाशकरी स्यात्.

स्याद् एतत् *सतएव भेदस्य अद्वैतबाधकत्वं न पुनः अनिवर्चनीयस्यापि तस्य* इति. तदा सतएव वस्तुनः कारणत्वं न पुनः अनिर्वचनीयस्यापि तस्य इति तुल्यम्. *ननु भवति खलु अनिर्वचनीयस्यापि अनिर्वचनीयैव कारणता, पारमार्थिकीतु सा न सम्भवति. मिथ्याभूतस्यापि स्वप्नदृष्टस्य स्वर्णस्य स्वप्नदृष्टानामेव कुण्डलादीनां प्रति कारणता मिथ्याभूतैव* इति चेत् तदेतद् अयुक्तं, यस्मात् तुल्यन्यायात् सदसद्विलक्षणस्य अनिर्वचनीयस्य पदार्थस्य अनिर्वचनीयमेव ब्रह्माद्वैतबाधकत्वं भवतु तदा. व्यभिचरति च क्वचिद् मिथ्यावस्तुनः मिथ्याकारणत्वनियमः स्वप्नदृष्टस्यापि मिथ्याभूतस्य कामिनीसुरतस्य पारमार्थिकं रेतस्खलनं प्रति पारमार्थिकमेव कारणत्वम् इति.

तस्माद् अनिर्वचनीयस्यापि मायायाः कारणत्वस्य ब्रह्माद्वैतबाधकता भवत्येव इति युक्तम् उत्पश्यामः. नच इष्टापत्तिः **''मृत्योः स मृत्युम् आप्नोति य इह नानेव पश्यति''** (कठोप.४।१०) इति श्रुतितात्पर्यविषयीभूतस्य द्वैतनिषेधस्य ब्रह्मणि द्वैतात्यन्ताभावप्रतिपादनपरत्वाभ्युपगमात्. अथ *द्वैतात्यन्ताभावस्य न अनिर्वचनीयेन मिथ्याद्वैतेन सह अवस्थानं विरुद्धम्* इति चेत्, तदा प्रकृत्यभिन्ननिमित्तोपादनकारणत्वेन साकं ब्रह्मकारणतायाअपि न विरोधः कश्चिद् इति समानोयोगक्षेमः. प्रकृतितादात्म्यसम्बन्धावच्छिन्नप्रतियोगिताक-ब्रह्मानुयोगिकाभावस्य ब्रह्मप्रकृत्योः तादात्म्यस्य च मिथो अविरोधेऽपि बाधाभावप्रसंगात्.

स्याद् एतत् *पारमार्थिकयोः भावाभावयोः हि विरोधः पारमार्थिको भवति, मिथ्यावस्तुप्रतियोगिकभेदोदाहरणेतु विरुद्धयोः एकतरस्य मिथ्यात्वेन

विरोधस्यापि मिथ्यात्वमेव, ततश्च तयोः सामानाधिकरण्यमपि निर्दुष्टम् इति न कापि क्षतिः, यथाच उच्यते "**स्वप्रतिपन्नोपाधौ त्रैकालिकनिषेधप्रतियोगित्वं मिथ्यात्वम्**" (अद्वै.सि.प्रपं.मिथ्या.) इति, सांख्यस्वीकृतायाः जगत्कारणभूतायाः प्रकृतेस्तु पारमार्थिककारत्वेन महद् वैषम्यम् * इति.

एतद् इह भवता वक्तव्यं यत् शुद्धस्य ब्रह्मणो मायोपाधिरहितस्य विवर्तोपादानत्वं जीवाविद्याकल्पितस्य ईश्वरस्य च परिणाम्युपादानत्वं वा किं पारमार्थिकम् उत अपारमार्थिकम् ?

तद्यदि प्रथमः पक्षः तदा शुद्धस्य सधर्मकत्वापत्तिः, द्वितीये तु ब्रह्मणि जीवाविद्याकल्पितेश्वरे वा विवर्तोपादानत्वपरिणाम्युपादानत्वयोः पारमार्थिकत्वा-स्वीकाराद् न तयोः कारणत्वलक्षणशपथेन अन्येषां प्रधानादीनां कारणत्ववारणं शक्यम्. नहि सर्पाद्यात्मना विवर्तन्ते रज्ज्वादयः इति अन्यत्र अण्डादौ सर्पादीनाम् अण्डजानाम् अनुपादानता भवति. सिद्धं हि तस्माद् न विरोधः प्रधानकारणतया साकं श्रौतस्य प्रतिज्ञादृष्टान्तानुपरोधबोधितस्य कार्यकारणयोः अभेदस्य. नच *श्रुतिमूलकं हि शुद्धस्य विवर्तोपादानत्वं, शबलस्य अभिन्ननिमित्तोपादानकारणत्वं वेति एतदुभयोरपि व्यवहारएव स्वीक्रियते न पुनः परमार्थतः तथा अभ्युपेयते, "**न तस्य कार्यं करणं च**" (श्वेता.उप.६।८) इति "**एकमेव अद्वितीयम्**" (छान्दो.उप.६।२।१) इति च श्रुत्यनुरोधादेव अवश्यम् अंगीकरणीयम्. सांख्याभिमतायाः प्रकृतेस्तु तैः पारमार्थिकं कारणत्वं स्वीकृतं तत्तु ब्रह्मणः श्रुतेन कार्यकारणतारहितेन अद्वैतेन विरुद्धचतइति व्यवहारेऽपि अस्वीकार्यमेव* इति वाच्यं, "**न तस्य कार्यं... परा अस्य शक्तिः विविधैव श्रूयते स्वाभाविकी ज्ञानबलक्रिया च... यस्तु उर्णनाभइव तन्तुभिः प्रधानजैः स्वभावतो देवः स्वम् आवृणोत्... तत्कारणं सांख्ययोगाधिगम्यं ज्ञात्वा देवं मुच्यते सर्वपाशैः**" (श्वेता.उप.६।८-१३) इति तस्य ब्रह्मणः कार्यकरणनिषेधिकायां श्रुतावेव जगत्कर्तृत्वौपयिकस्य स्वाभाविकस्य ज्ञानबलक्रि-यावत्त्वस्य उर्णनाभइव स्वान्तर्गतैः सांख्यमताभिमतैः च प्रधानजन्यैः सत्त्वरजोतमोगुणरूपतन्तुभिः कार्यत्व-कर्तृत्व-कारणत्वानां स्वभावतएवच

प्रतिपादनोपलम्भात् तस्य च श्रुतावपि सांख्ययोगगम्यत्वोपपादानात् च व्यवहारेऽपि ब्रह्मस्वभावान्तर्भूतप्रकृतिद्वारकजगत्कारणत्वाभ्युपगमस्य वेदान्तिभिः निराकर्तुम् अशक्यत्वमेव. नच एतवता अद्वैतश्रुतिविरोधः शंक्यो यस्मात् तद्वचनेऽपि "**कथम् असतः सद् जायेत? सत्त्वेव... इदम् अग्रे आसीद् एकमेव अद्वितीयम्. तद् ऐक्षत बहु स्यां प्रजायेय**" (छान्दो.उप.६।२।२-३) इति ब्रह्मैकत्वाद्वितीयत्वप्रतिपादिकायामेव श्रुतौ जननात् प्राग् अस्य जगतो ब्रह्मात्मनैव निजकारणे सद्भावः, तन्तूनाम् उर्णनाभइव, तस्माद् जगतो जननादपि प्राग् ब्रह्मणि सद्भावो यदा न ब्रह्माद्वैतविरोधी तदा कारणस्यैव कार्यात्मना आविर्भावे कथन्नु जगतो वा मध्ये द्वारभूततदुपादानरूपायाः प्रकृतेः वापि सद्भावे ब्रह्माद्वैते कस्याश्चन क्षतेः सम्भावना !

तस्माद् यद्यपि प्रकृतेःहि मूलकारणत्वं ब्रह्मभिन्नत्वं वा सांख्यसमयसन्दर्शि-तसरण्या शुद्धाद्वैतवादे न स्वीक्रियते, तथापि कालकर्मस्वभावप्रकृतिपुरुषात्मकतया अक्षरब्रह्मणः पञ्चविधत्वविधानाद् चिदानन्दांशतिरोधानेन च जडसृष्टेः हि सा सूक्ष्मा अव्यक्ता सदात्मिका अवस्था ब्रह्मणि 'प्रकृति'पदवाच्या भवति. तस्याश्च उपादानकारणत्वं ब्रह्मणएव सदंशे पर्यवसतीति ब्रह्मप्रकृत्योरपि तादात्म्यांगीकारेण सर्वं समञ्जसमेव स्याद्, न अव्याप्त्यतिव्याप्त्यादिदोषसम्भा-वनागन्धोऽपि "**जन्माद्यस्य यतः**" (ब्र.सू.१।१।२) इति श्रुतिसूत्रबोधिते ब्रह्मणः जगत्कारणत्वादिलक्षणे.

(७७७ संख्याके प्रश्नोत्तरे)

(प्र.)अविद्यैव कारणं ब्रह्मतु न कारणमेव इति सिद्धान्तस्यापि सिद्धान्तलेशसंग्रहे दर्शनात्. किमिति ब्रह्मणोऽपि उपादानत्वं समर्थ्यते? (उ.)अविद्यैव कारणं ब्रह्मतु न कारणमेव इति मतस्य अयमेव आशयो यत् शाखाचन्द्रमसन्यायेन तटस्थलक्षणाविधयैव कारणत्वस्य ब्रह्मलक्षणतायाम् ईश्वरनिष्ठमिव अविद्यामात्रनिष्ठमपि लक्षणं निर्वोढुं शक्यते इति ईश्वरस्यापि व्यर्थं कारणत्वकल्पनम् इति. अत्रच अविद्यानिष्ठं कारणत्वमेव तदधिष्ठाने ब्रह्मण्यपि शुद्धे कल्पयित्वा ब्रह्मोपादानत्वव्यपदेशः इत्येव मन्यते. तथाच

कारणत्वं ब्रह्मविषमसत्ताकं ब्रह्मणो अत्र मते लक्षणम्. विवरणादिमतेतु ईश्वरकारणत्वस्वीकारात् कारणत्वं कारणेश्वरसमसत्ताकमेव स्वीक्रियते इति विशेषः. प्रकृतित्वादिकन्तु स्वीक्रियतएव इति तु सर्वसम्मतमेव इति न दोषः.

(तत्समालोचनम्)

अत्र ब्रूमो : यद्धि शाखाचन्द्रमसन्यायेन तटस्थलक्षणविधया लिलक्षयिषितं, तत्र लक्ष्यलक्षणयोः अव्याप्त्यतिव्याप्तिरहितः सम्बन्धो न सम्भवति. याहि शाखा अद्य ताटस्थ्येन चन्द्रमसः लक्षणतां भजते सैव श्वो अरुन्धत्याः अपि लक्षणं भवितुम् अर्हति. नच अतिव्याप्तिदोषशंकालेशोऽपि तत्र अप्रसक्तत्वादेव. तस्माद् "**जन्माद्यस्य यतः**" इति च सूत्रेण यदि अतिव्याप्त्यादिदोषरहितं लक्षणं न प्रतिपिपादयिषितं, तदा प्रधानादिकारणतायामपि न बाधः. अथ तादृशं लक्षणं प्रतिपिपादयिषितं चेत् तदा मायाकारणतायामपि बाधः प्रसज्यतएव.

परस्परव्याहतप्रस्थानभेदेन यस्मिन् प्रस्थाने अविद्यैव जगतः कारणं, न खलु ब्रह्म, तस्मिन् प्रस्थाने शाखाचन्द्रमसन्यायेन तटस्थलक्षणविधया कारणत्वस्य ब्रह्मलक्षणतापि कथञ्चिद् निर्वोढुं शक्या इत्येतावता न अतिव्याप्तिदोषपरिहारोऽपि शक्यो निर्वोढुम्, अविद्याकारणतावादिनां मते. नच अतिव्याप्तौ भेदः कश्चित् प्रधानाविद्ययोः.

अथ यद् एतद् उक्तम् "**अविद्यानिष्ठं कारणत्वमेव तदधिष्ठाने ब्रह्मण्यपि शुद्धे कल्पयित्वा ब्रह्मोपादानकत्वव्यपदेशो भवितुम् अर्हति. तथाच ब्रह्मविषमसत्ताकं कारणत्वं ब्रह्मणो, अविद्यायास्तु कारणत्वं समसत्ताकमेव इति लक्षणनिवेशाद् न दोषः. विवरणादिमतेतु ईश्वरकारणत्वस्वीकारात् कारणेश्वरसमसत्ताकमेव कारणत्वं विवक्षितम्**" इति. तत्र अविद्यायाः जिज्ञास्यत्वापत्तिः एकविज्ञानेन सर्वविज्ञानप्रतिज्ञाबाधः च अत्र दूषणम्. किञ्च इदम् अत्र अवधेयं यत् प्रस्थानभेदेन तत्तदनुयायिभिः स्वस्वप्रस्थानानुरोधेन

स्वस्वमतोपपादने यद्यपि न कश्चन दोषः, तथापि परस्परव्याहतानां प्रस्थानानाम् एकेन केनचित् समर्थने तेषां विकल्पः समुच्चयो वा मुमुक्षुणां तत्त्वजिज्ञासायां स्वीकर्तव्यः स्यात्? न तावद् आद्यः यस्मात् श्रीशंकराचार्यैरेव वस्तुनि विकल्पकल्पनायाः निन्दनात्.

तथाहि :

"अपि च सम्यग् ज्ञानाद् मोक्षः इति सर्वेषां मोक्षवादिनाम् अभ्युपगमः. तच्च सम्यग् ज्ञानम् एकरूपं वस्तुतन्त्रत्वात्. एकरूपेण हि अवस्थितो यो अर्थः स परमार्थः. लोके तद्विषयं ज्ञानं सम्यज्ज्ञानम् इति उच्यते यथा "अग्निः उष्णः" इति. तत्र एवं सति सम्यज्ज्ञाने पुरुषाणां विप्रतिपत्तिः अनुपपन्नाः."

(ब्र.सू.शां.भा.२।१।११).

"अपिच बाह्यार्थविज्ञानशून्यवादत्रयम् इतरेतरविरुद्धम् उपदिशता सुगतेन स्पष्टीकृतम् आत्मनो असंबद्धप्रलापित्वं प्रद्वेषो वा प्रजासु विमुह्येयुः इमाः प्रजाः इति."

(ब्र.सू.शा.भा.२।२।३२).

"नतु वस्तु 'एवं'-'नैवम्' 'अस्ति'-'नास्ति' इति वा विकल्प्यते. विकल्पनास्तु पुरुषबुद्ध्यपेक्षा. न वस्तुयाथात्म्यज्ञानं पुरुषबुद्ध्यपेक्षम्. किन्तर्हि? वस्तुतन्त्रमेव. नहि स्थाणौ एकस्मिन् "स्थाणुः वा पुरुषो वा" इति तत्त्वज्ञानं भवति. तत्र "पुरुषो अन्यो वा" इति मिथ्याज्ञानं, "स्थाणुरेव..." इति तत्त्वज्ञानं वस्तुतन्त्रत्वात्. एवं भूतवस्तुविषयाणां प्रामाण्यं वस्तुतन्त्रम्."

(ब्र.सू.शां.भा.१।१।२).

यदितु "**अधिगतभिदा पूर्वाचार्यवचोक्तिसुधा सरिदिव महीभेदान्**

सम्प्राप्य शौरिपदोद्गता, जयति भगवत्पादश्रीमन्मुखाम्बुजनिर्गता जननहरणी सूक्तिः ब्रह्माद्वयैकपरायणा... प्राचीनैः व्यवहारसिद्धविषयेषु आत्म्यैकसिद्धौ परां संनह्यद्भिः अनादरात् सरणयो नानाविधाः दर्शिताः..." (सिद्धा.ले.सं.-मंग.) इत्येवमादिभिः हेतुभिः परस्परव्याहतानामपि प्रस्थानानां समुच्चयो न दोषाय इति द्वितीयः. तदातु बौद्धैरपि "अधिगतभिदा तथागतवचोक्तिसुधा सरिदिव महीभेदान् सम्प्राप्य हिमगिर्युद्गता जयति भगवद्बुद्धश्रीमन्मुखाम्बुजनिर्गता जननहरणी सूक्तिः निर्वाणतैकपरायणा...प्राचीनैः व्यवहारसिद्धविषये निर्वाण/शून्यत्वसिद्धौ परां सनह्यद्भिः अनादरात् सरणयोः नानाविधाः दर्शिताः" इत्येवम् इतरेतरविरुद्धप्रस्थानानां विरोधोपशमसम्पादनस्य कर्तुं शक्यत्वादेव समानो योगक्षेमः.

(७७८ संख्याके प्रश्नोत्तरे)

(प्र.)ब्रह्मणएव उपादानत्वम् इति सिद्धान्तेतु "चमसवद् अविशेषाद्" (ब्र.सू.१।४।२) इत्यत्र मायायाअपि कारणत्वं व्यवस्थापितम् अनुपपन्नं स्यात्. (उ.)ब्रह्मणएव उपादानत्वं न मायायाः इति भामतीमते तु "मायान्तु प्रकृतिं विद्याद्" (श्वेता.उप.४।१०) इत्यादिवाक्ये "यस्माद् मायी प्रकृतिः तस्माद् मायापि प्रकृतिः इति व्यपदिश्यते केवलम् इत्येव विवक्ष्यते. अत्रच मते 'चमसवद् अविशेषाद्' (ब्र.सू.१।४।२) इति सूत्रं गौणं, प्रकृतित्वमेव प्रधानस्य मायास्थानापन्नस्य मुख्यम् इति सांख्याभिमतप्रकृतिः न 'अजाम्' (महाना.उप.९।२) इति वाक्ये कथमपि विवक्षितुं शक्यते इति सूचनार्थमेव" इति तन्मते मायाकारणत्वस्य व्यवस्थापनेऽपि न कोपि विरोधः. अत्रच मते ब्रह्मणि विवर्तोपादानत्वमात्रेणैव निर्वाहो अत्रापि अधिकरणे इति मन्तव्यम्.

(तत्समालोचनम्)

"जनिकर्तुः प्रकृतिः" (पा.सू.१।४।३०) इति सूत्रम् अनुसृत्य भाष्यकारेणापि ब्रह्मणएव उपादानत्वं समर्थितम्. तथाहि

"'यतः' इति इयं पञ्चमी 'यतो वा इमानि भूतानि

जायन्ते' (तैत्ति.उप.३।१) इत्यत्र 'जनिकर्तुः प्रकृतिः' इति विशेषस्मरणात् प्रकृतिलक्षणएव उपादाने द्रष्टव्या. निमित्तत्वन्तु अधिष्ठानान्तराभावाद् अधिगन्तव्यम्. यथाहि लोके मृत्सुवर्णादिकम् उपादानकारणं कुलालसुवर्णकारादीन् अधिष्ठातृन् अपेक्ष्य प्रवर्तते, नैवं ब्रह्मणः सतो अन्यो अधिष्ठाता अपेक्ष्यो अस्ति. प्रागुत्पत्तेः 'एकमेव अद्वितीयम्' इति अवधारणात्. अधिष्ठात्रन्तराभावोऽपि प्रतिज्ञादृष्टान्तानुपरोधादेव उदितो वेदितव्यः. अधिष्ठातरि हि उपादानाद् अन्यस्मिन् अभ्युपगम्यमाने पुनरपि एकविज्ञानेन सर्वविज्ञानस्य असम्भवात् प्रतिज्ञादृष्टान्तोपरोधएव स्यात्. तस्माद् अधिष्ठत्रन्तराभावाद् आत्मनः कर्तृत्वम् उपादानान्तराभावात् च प्रकृतित्वम्."

(ब्र.सू.शां.भा.१।४।२३).

"यद्धि यस्मात् प्रभवति यस्मिन् च प्रलीयते तत् तस्य उपादानं प्रसिद्धम्. यथा व्रीहियवादीनां पृथिवी. 'साक्षाद्' इति च उपादानान्तरानुपादानं दर्शयति."

(ब्र.सू.शां.भा.१।४।२५).

"'तद् आत्मानं स्वयम् अकुरुत' (तैत्ति.उप.२।७) इति आत्मनः कर्मत्वं कर्तृत्वं च दर्शयति... आत्मानम् इति कर्मत्वं स्वयम् अकुरुत इति कर्तृत्वम्. कथं पुनः पूर्वसिद्धस्य सतः कर्तृत्वेन व्यवस्थितस्य क्रियमाणत्वं शक्यं सम्पादयितुम्? परिणामाद् इति ब्रूमः. पूर्वसिद्धोऽपि हि सन् आत्मा विशेषेण विकारात्मना परिणमयामास आत्मानम् इति. विकारात्मनाच परिणामो मृदाद्यासु प्रकृतिषु उपलब्धः."

(ब्र.सू.शां.भा.१।४।२६).

इत्येवमादिषु अनेकेषु वचनेषु स्पष्टंहि ब्रह्मणः परिणाम्युपादानत्वं निरूपितम् अस्ति. तदेतत् स्वारूढशाखासमुच्छेदनपराण्यपि भाष्यकाराणां वचनानि एतानि न पारमार्थिकत्वाभिप्रायेण अपितु व्यावहारिकत्वाभिप्रायेणैव

चेत् तदा न बह्वर्थवन्ति स्युः इति अन्यद् एतद्. ब्रह्मणो हि जगदुपादानतायै न अधिष्ठात्रन्तरापेक्षा नवा उपादानान्तरापेक्षा इतितु वचनबलादेव आयातम्. स्वीकृतेतु ब्रह्मणः उपादानत्वे मायिनो ईश्वरस्य मायायाः वापि उपादानत्वकल्पना प्रागुत्पत्तेः प्रपञ्चस्य ब्रह्मणः एकत्वाद्वितीयत्वबाधिकैव स्यात्. विवर्तोपादानकारणभावायापि यदि शुद्धस्य ब्रह्मणः मायायाः मायिकेश्वरस्य वा अपेक्षा तदापि अधिष्ठात्रन्तरापेक्षातु हठाद् आयाति. एकविज्ञानेन सर्वविज्ञानस्य प्रतिज्ञायाअपि उपरोधो भवेदेव.

स्याद् एतद् *मायिनः ईश्वरस्य शुद्धब्रह्मानतिरेकाद् न तस्य अपेक्षा अधिष्ठात्रन्तरापेक्षेति न दोषः* इति, तदा मायायाअपि प्रकृतेरपि शुद्धब्रह्मानतिरेकात् तस्याअपि उपादानत्वे मा भूद् दोषः कश्चनः. नच इष्टापत्तिः, मायाब्रह्मणोः ऐक्यापत्तेः. उपादानान्तर-निमित्तान्तरनिषेधपूर्वकं ब्रह्मण्येव अभिन्ननिमित्तोपादानत्वसाधने श्रुतिसूत्रयोः भरः. तत्र मायायाः उपादानत्वे तस्याअपि जिज्ञास्यत्वापत्तेः. तस्याएव एकस्याः ज्ञानेन सर्वविज्ञानोपपत्तेः. ब्रह्मजिज्ञासा अजागलस्तनप्रायैव स्यात्.

यत्तु उक्तं "**यस्माद् मायी प्रकृतिः. तस्माद् मायापि 'प्रकृतिः' इति व्यपदिश्यते केवलम् इत्येव विवक्ष्यते**" इति. तत्र मायायाअपि अभिमतेऽपि प्रकृतित्वे कुतः केवलं व्यपदिश्यतएव कुतो न तथा स्वीक्रियते अपि? तस्माद् यदि व्यपदिश्यते तदा मायायां प्रकृतित्वं वर्तताम्. अथ मायायां प्रकृतित्वं नो वर्तते चेत् तदा तद्व्यपदेशो मुधा कुतः? ब्रह्ममायोभयोः प्रकृतित्वेऽपि एकस्य विवर्तोपादानत्वम् अपरस्याः च परिणाम्युपादानत्वम् इति प्रतिपादनेऽपि ब्रह्मणो विवर्तोपादनता यदि स्वतएव न सम्भवति, ऋते मायां, तदा अधिष्ठात्रन्तरापेक्षासद्भावात् स्ववचनव्याहतिः. मायया हि अशबलितस्य शुद्धस्य विवर्तोपादानतापि न सम्भवति इति स्वीकृतत्वात्.

श्रूतिसूत्राभ्यां भाष्येणापि समसत्ताकमृद्घटोदाहरणोपादानाद् ब्रह्मजगतोः समसत्ताककारणविकारभावो युज्यते न पुनः विषमसत्ताको अधिष्ठानारोपभावः.

यदिच "'**मृत्तिका' इत्येव सत्यम्**" (छान्दो.उप.६।१।४) इति वचनात् तत्रापि विषमसत्ताककार्यकारणभावांगीकारः तदा परिणाम्युपादानविवर्ताधिष्ठानयोः स्वभावसांकर्याद् परिणाम्युपादानोदाहरणलोपापत्तिः. ततश्च मायायाअपि परिणाम्युपादानत्वासम्भवेन मायातत्कार्यजगतोरपि विषमसत्ताकत्वापत्तिः कारणद्वैविध्याभावाद् उभयोः मायाब्रह्मणोः च उपादानत्वाभ्युपगमेन लक्षणे अतिव्याप्तिदोषोऽपि दुरुद्धरः.

(७७९ संख्याके प्रश्नोत्तरे)

(प्र.)विवर्तोपादानपरत्वं विवर्तोपादानस्यैव अप्रसिद्धत्वाद् अत्रैव अधिकरणे "परिणामाद्..." इति 'परिणाम'पदस्यैव प्रयोगात् च न उपपद्यते. (उ.)विवर्तोपादानत्वन्तु "**शुक्तिकाहि रजतवद् अभासते**" (ब्र.सू.शां.भा.१।१।१) इति भाष्ये शुक्त्यादौ प्रसिद्धम् इति निरूपितम्. अप्रसिद्धावपि लोके श्रुतिप्रामाण्यरक्षणार्थं "**श्रुतेस्तु शब्दमूलकत्वाद्**" (ब्र.सू.२।१।२७) इति न्यायेन प्रसाधयितुं शक्यते. प्रकृत्यधिकरणे अत्र 'परिणाम'पदन्तु विवर्तपरम् इति शारीरकमीमांसाभाष्यवार्तिकादौ व्यक्तमेवेति न अनुपपत्तिलेशोऽपि.

(तत्समालोचनम्)

यदि शुक्तिकायां रजतभ्रमोदाहरणबलेन विवर्तोपादानताप्रसिद्धिः स्यात् स्याच्च तदा श्रुत्युक्तमृद्घटोदाहरणेन खलु असमन्वितो हि ब्रह्मविवर्तोपादानतावादः. श्रुतिसूत्रयोः उपादानपरिणामयोः उदाहरणाद्, एतस्यां श्रुतौ विवर्तोपादानोदाहरणानुपलम्भाभावात् च श्रुतिषु सर्वथैव अप्रसिद्धस्य विवर्तोपादानतावादस्य "**वाचारम्भणं विकारो...**" (छान्दो.उप.६।१।४) इति श्रुतिमूलकत्वप्रसाधनेऽपि स्पष्टा व्याहतिः प्रतिज्ञोदाहरणयोः. भाष्येऽपि प्रकृत्यधिकरण-भोक्त्रापत्तेरधिकरण-उपसंहारदर्शनाधिकरण- कृत्स्नप्रसक्त्यधिकरणेष्वपि परिणामवादप्रक्रिया-परिभाषासमाश्रयणात् च व्याहतिः. यथाच कण्ठतः उच्यते "**सूत्रकारोऽपि परमार्थाभिप्रायेण "तदनन्यत्वम्..." इति आह व्यवहाराभिप्रायेणतु "स्याद् लोकवद्" इति महासमुद्रस्थानीयतां ब्रह्मणः कथयति. अप्रत्याख्यायैव कार्यप्रपञ्चं परिणामप्रक्रियां च आश्रयति**"

(ब्र.सू.शां.भा.२।१।१४).

तस्माद् भाष्यकारेणापि सूत्रेषु एतेषु परिणामप्रक्रियैव आश्रिता सूत्राक्षराणां स्पष्टत्वात्. तत्र भाष्येऽपि हठाद् विवर्तवादारोपणं स्वभाष्यम् अतिक्रामति. निरूपितापि हि एषा परिणामप्रक्रिया न पारमार्थिकत्वाभिप्रायेण किन्तु उत्तरत्र उपासनासु उपयोक्ष्यते इति अध्यारोपापवादन्यायेन निरूपिता इति स्वयं भाष्यकारोऽपि आह **''अप्रत्याख्यायैव कार्यप्रपञ्चं परिणामप्रक्रिया च आश्रयति सगुणेषु उपासनेषु उपयोक्ष्यतइति''** (ब्र.सू.शां.भा.२।१।१४). सोऽयं हि वदतोव्याघातनिरसनप्रकारो भाष्यकाराणां, तमपि अविगणय्य हठात् परिणामप्रक्रियाखण्डनं तस्याः च पुनः विवर्तप्रक्रियायां योजनं न केवलः श्रुतिसूत्रविरोधाय अपितु स्वभाष्यविरोधायापि.

सति चैवं जिज्ञास्यब्रह्मलक्षणावसरे कारणत्वोक्तिः, कारणत्वस्य च अभिन्ननिमित्तोपादानत्वेन विवरणं, श्रौतप्रतिज्ञादृष्टान्तानुपरोधस्य आवश्यकत्वोक्तिः च विवर्तवादस्य अश्रौतत्वं स्पष्टं गमयति. जिज्ञास्योपास्यभेदे ब्रह्मजिज्ञासां प्रकृत्य उपास्यलक्षणदानस्य अप्रासंगिकत्वापत्तेः. तस्माद् अभेदो जिज्ञास्योपास्ययोः सिध्यति. ब्रह्मभेदकल्पनायां पुनः एकविज्ञानेन सर्वविज्ञानासम्भवश्च.

''श्रुतेस्तु शब्दमूलत्वाद्'' (ब्र.सू.२।१।२७) इति सूत्रभाष्येऽपि यत्र सूत्रार्थो वर्णितः तत्रतु परिणाम्युपादानत्वमेव प्रसाधितं सूत्रार्थानुसरणेन. उपसंहृतञ्च **''तस्मात् शब्दमूलएव अतीन्द्रियार्थयाथात्म्याधिगमः''** (तत्रैव भाष्ये) इत्यादिना. यत्रतु सूत्राशयातिक्रमणेन स्वाभिप्रायो वर्णितः तत्रतु **''श्रुतेस्तु शब्दमूलत्वाद्''** (ब्र.सू.शां.भा.२।१।२७) इत्यस्य सूत्रस्य खण्डनमेव भाष्यकारेण आरब्धं **''ननु शब्देनापि न शक्यते विरुद्धार्थः प्रत्याययितुम्''** इत्यादिना. तत्रैव विवर्तवादसमाश्रयेण अविरोधसम्पादनप्रयासो विहितः. सोऽयं सूत्रानारूढएव भाष्यभागः परिदृश्यते. न एतावदेव किन्तु वस्तुनि विकल्पकल्पनायाः स्वविनिन्दितायाः खलु स्वयमेव समाश्रयणं — परमार्थाभिप्रायेण विवर्तो व्यवहाराभिप्रायेण परिणामः — इति स्वयमेव करोति. वस्तुतस्तु विवर्तोपादानत्व-

मपि नहि पारमार्थिकतया अंगीक्रियते इतितु महत् चित्रम्!

''नहि इदम् अतिगम्भीरं भावयाथात्म्यम् आगममात्रेण उत्प्रेक्षितुमपि न शक्यम्'' (ब्र.सू.शां.भा.२।१।११) इति उक्त्वापि लौकिकोत्प्रेक्षामूलकं आगमनिरूपणे विरोधं कल्पयित्वा तत्समाधानार्थं प्रयतते भाष्यकारः सोऽयमिति सर्वम् एतद् असम्बद्धमिव प्रतिभाति.

यथाच प्रकृत्यधिकरणे अत्र 'परिणाम'पदं विवर्तपरं न सम्भवति तथा उपपादितम् अस्माभिः पूर्वत्र.

(७८० संख्याके प्रश्नोत्तरे)

(प्र.)**''वाचारम्भणं 'विकारो' नामधेयं 'मृत्तिका' इत्येव सत्यम्''** (छान्दो.उप.६।१।४) इति मृत्तिकादृष्टान्तः कथं विवर्तोपादानतापक्षं समर्थयति? (उ.)**''वाचारम्भणं 'विकारो' नामधेयं 'मृत्तिका' इत्येव सत्यम्''** इति 'मृत्तिका'पदन्तु विवर्तोपादानस्यापि 'प्रकृति'पदव्यवहार्यत्वम् उक्ताधिकरणसिद्धम् अभिप्रेत्यैव. अतएव प्रतिज्ञानुपरोधाद् इत्येव निर्वाहे दृष्टान्तानुपरोधस्यापि अत्र उपादानम्.

(तत्समालोचनम्)

शुक्तिकायां हि रजतं प्रतीयते इति सर्वजनमनःप्रत्ययः, नहि शुक्तिकातो रजतं जायेत इति कोऽपि प्रत्येति. सप्तमी भ्रमाधिष्ठाने हि प्रयुज्यते परिणाम्युपादानेतु प्रकृतिलक्षणे अपादाने 'यतः' इति पञ्चमीप्रयोगएव सूत्रसिद्धो भाष्यकारेणापि अनुमतः. तस्माद् रजतस्य प्रकृतिः शुक्तिका इति केवलाद्वैतिनां स्वगोष्ठ्यामेव प्रसिद्धम्. नोचेद् भाष्यकारेणापि **''अप्रत्याख्यायैव कार्यप्रपञ्चं... परिणामवादः उत्तरत्र सगुणेषु उपासनेषु उपयोक्ष्यते''** (यथापूर्वोक्तम्) इति न उक्तं स्यात्. भ्रमाधिष्ठानेऽपि 'प्रकृति'पदप्रयोगसम्भवे तेनैव कृतकृत्यतया सर्वम् अन्यद् विवेचनं निष्प्रयोजनमेव भवेद्. 'परिणाम'पदमपि यदि विवर्तपरं स्यात् तदा ज्ञानएव उपयोगाद् उत्तरोत्तरत्र उपासनासु उपयोगो अनावश्यकएव

भवेद्.

तस्माद् यथा भाष्यं श्रुतिसूत्रविरुद्धं तथा टीकाग्रन्थास्तु पुनः स्वभाष्यतोऽपि विरुद्धाइति किं केन सम्बद्ध्यते? इति अलम्.

(७८१ संख्याके प्रश्नोत्तरे)

(प्र.)(क) पादमध्ये वृत्तानुकीर्तनं किमर्थम्? (ख) केवलनिमित्तकारणत्व-पक्षे "**यतो वा...**" इत्यादि पञ्चमी कथम् उपपद्यते? (ग) निमित्तकारणत्वमात्र-पूर्वपक्षावसरे "**कार्यं चेद् जगत् सावयवम् अचेतनम् अशुद्धं च दृश्यते कारणेनापि तस्य सदृशेन भवितव्यं... पारिशेष्याद् ब्रह्मणो अन्यद् उपादानकारणम् अशुद्ध्यादिगुणकं स्मृतिप्रसिद्धम् अभ्युपगन्तव्यम्**" इति प्रधानकारणवादस्यापि उपसंहारः किमर्थः? (घ) प्रधानकारणवादस्यापि निरासार्थम् इति तु न युक्तं सिद्धान्तेऽपि तत्कारणतायाअपि स्वीकारात्.

(उ.)(क) गतिसामान्यस्य कारणे ब्रह्मण्येव पर्यवसानम् इति सूचयितुं पादमध्ये वृत्तानुकीर्तनम्. (ख) "यतो वा..." इति पञ्चमीश्रुतिस्तु हेतुमात्रपरा न प्रकृतित्वमात्रपरा तथाच अभिन्ननिमित्तोपादानत्वेऽपि न हानिः. (ग) निमित्तत्वं चेद् उपादानत्वसहितं ब्रह्मणि जगद्विलक्षणे न सम्भवितुम् अर्हति इति आक्षेपनिरासाय तु पुनः प्रधानकारणवादशंका (घ) सिद्धान्ताभिमता प्रधानकारण-तातु भामत्यभिमता, केवलनिमित्तकारणता विवरणाभिमता, प्रधानकारणता तु अभिन्ननिमित्तोपादनतापि. सातु परिणामवादमात्रानभिप्रायत्वात् प्रतिज्ञादृष्टा-न्तानुपरोधाच्च न सूत्रकारसम्मतेति तन्निरासइति सर्वं सुस्थम्.

(तत्समालोचनम्)

(क) "**गतिसामान्याद्**" (ब्र.सू.१।१।९) इति सूत्रभाष्ये सांख्यमतालोचना-वसरे पूर्वोत्तरपक्षविधया मायावादिभिः ये आक्षेपसमाधाने प्रदर्शिते तेएव तैरेव जगत्कारणविवेचनावसरे स्वमतप्रतिपादने नैव स्मर्येते. तथाहि—

"**यदि तार्किकसमयइव वेदान्तेष्वपि भिन्ना कारणावगतिः अभविष्यत् क्वचित् चेतनं ब्रह्म जगतः कारणं, क्वचिद् अचेतनं प्रधानं, क्वचिद् अन्यदेव इति, ततः प्रधानकारणवादानु-रोधेनापि ईक्षत्यादिश्रवणम् अकल्पयिष्यत. नतु एतदस्ति समानैव हि सर्वेषु वेदान्तेषु चेतनकारणावगतिः... इति च आत्मनः कारणत्वं दर्शयन्ति सर्वे वेदान्ताः. 'आत्म'शब्दश्च चेतनवचनः इति अवोचाम. महच्च प्रामाण्यकारणम् एतद् यद् वेदान्तवाक्यानां चेतनकारणत्वे समानगतित्वं चक्षुरादीनामिव रूपादिषु.**"

(ब्र.सू.शां.भा.१।१।१०).

इह तावद् गजस्य चर्वणप्रदर्शनाभ्यां कृते दन्तद्वयमिव मायिनामपि पूर्वपक्षनिरसन-स्वपक्षप्रक्रियाविरचनाभ्यां कृते प्रकारद्वयावलम्बनं कुतः! बौद्धानामपि यथा "**द्वे सत्ये समुपाश्रित्य धर्मदेशना**" भवति, भवति च मायावादिनामपि परपक्षनिराकरणे स्वपक्षस्थापने च द्वे सत्ये समुपाश्रित्य वेदान्तशास्त्रवचनविवेचना!!

प्रधानंहि यथा तार्किकसमये न चेतनं तथैव मायापि मायावादिनाम् अचेतना भवति. न भवति च प्रधानम् अचेतनत्वात् कारणं जगतो, मायातु पुनः अचेतनापि जगत्कारणत्वेन अंगीक्रियते. शब्दप्रामाण्यशपथेन गौण्या वृत्त्या ईक्षत्यादिचेतनगुणं पुरुषसंयोगविशिष्टे प्रधानेतु निवार्यते, न वार्यते च अविद्यायाम् अघटितघटनापटीयस्यां यया कयापि वृत्त्या चेतनात्मगुणम् ईक्षत्यादिकम्. बाध्यते हि तत्र सांख्यसमये एकविज्ञानेन सर्वविज्ञानप्रतिज्ञा श्रौती, प्रकृतिपुरुषरूपकारणद्वयाभ्युपगमाद्, न बाध्यते च पुनः ब्रह्माविद्ययोः उभयोः कारणत्वाभ्युपगमेऽपि सा प्रतिज्ञा इह. भिन्ना हि कारणावगतिः तार्किकसमये तस्य प्रामाण्यं भिनत्ति, महच्च प्रामाण्यकारणम् एतद् यत् क्वचिद् ब्रह्मैव जगतः प्रकृतिः न माया, क्वचिच्च प्रस्थाने मायैव जगतः प्रकृतिः न ब्रह्म. क्वचिद् उपादानकारणं हि ब्रह्म अविद्यातु निमित्तकारणत्वेन व्यपदिश्यतएव केवला, क्वचित्तु ब्रह्म न परिणाम्युपादानं नापि निमित्तं

केवलं विवर्तोपादानमेव. क्वचित् पुनः विवर्तोपादानमपि न भवति, निर्गुण-निधर्मक-निराकार-निर्विशेष-निरञ्जनत्वाद्. क्वचित् पुनः ब्रह्माविद्याभ्याम् अन्यएव अविद्याकल्पितः ईश्वरः शबलब्रह्मरूपो जगतः कारणं, तथापि तार्किकसमयस्तु कारणावगतिभेदापराधाद् दुष्टएव! मायावादस्तु भिन्नमपि कारणावगतिम् अभ्युपेत्य न दुष्यते! सिद्धा हि तस्माद् द्वे सत्यं समुपाश्रित्य मायावादिनां वेदान्तशास्त्रवचनविवेचना इति.

न चित्रं तस्मात् तत्र भवतां प्रश्नोत्तरसाहस्रीकाराणामपि स्वोक्तस्य "**गतिसामान्यस्य कारणे ब्रह्मण्येव पर्यवसानम् इति सूचयितुं पादमध्ये वृत्तानुकीर्तनम्**" इति वचनमध्यपातिनो हि 'एव'कारस्यापि ब्रह्मेतरसकलव्यावर्तकस्य विस्मरणं, ततश्च मायायाअपि कारणत्वानिवारणम् इति.

(ख)यत् पुनः इदम् उच्यते "**यतो वा...**" **इति पञ्चमीश्रुतिस्तु हेतुमात्रपरा न प्रकृतित्वमात्रपरा**" इति तदपि स्वाचार्यवचनवैपरीत्येनैव तथाहि "**यतः इति इयं पञ्चमी... जनिकर्तुः प्रकृतिरिति विशेषस्मरणात् प्रकृतिलक्षणएव अपादाने द्रष्टव्या**" (ब्र.सू.शां.भा.१।४।२३). अत्र 'एव'कारो व्यावर्त्याभावाद् निरर्थकएव स्यात्.

(ग)यच्चापि उक्तं "**निमित्तत्वं च इदम् उपादानत्वसहितं ब्रह्मणि जगद्विलक्षणे न सम्भवितुम् अर्हति इति** आक्षेपनिरासाय तु पुनः **प्रधानकारणवादाशंका**" इति. तदिदम् अत्र अवगन्तव्यं भवति यत् "**कार्यस्य प्रपञ्चस्य सावयवत्वम् अचेतनत्वम् अशुद्धत्वादिकं च सर्वं तस्य सदृशेन कारणेन अविद्यारूपेण सांख्याभिमतप्रधानस्थानापन्नेन भवितव्यम्** इत्यत्र हेतुः" इति अद्वैतिभिरपि स्वीक्रियते. तद्यदि परमार्थतः जगद्विलक्षणं ब्रह्म जगतः कारणं न भवति चेत् तदा प्रधानं वा भवतु माया वा भवतु "**जन्माद्यस्य**" (ब्र.सू.१।१।२) इत्यादिकस्य ब्रह्मलक्षणत्वं खण्डितमेव खण्डिता च प्रतिज्ञा - "एकविज्ञानेन सर्वविज्ञानस्य"

किञ्च यथाहि "**निष्कलं निष्क्रियम्**" (श्वेता.उप.६।१९) इत्यादिवचनैः

ब्रह्मणः परिणाम्युपादानत्वम् अद्वैतिभिः निषिध्यते, यथाच "**एकमेव अद्वितीयम्**" (छान्दो.उप.६।२।१) इत्यादि वचनैः ब्रह्मणो जगत्कारणत्वसद्भावाय प्रधानकारणवादो निराक्रियते, तथैव "**निरवद्यं निरञ्जनम्**" (श्वेता.उप.६।१९) इत्यादिवचनैः अद्वितीयब्रह्मणो जगत्कारणत्वसंरक्षणाय मायाकारणवादोऽपि निषेद्धव्यएव.

नच *सांख्यमते प्रधानस्य पारमार्थिकत्वेन ब्रह्माद्वैतविघातकत्वम् अविद्यायास्तु ब्रह्मज्ञानबाधितत्वेन मिथ्यात्वं, मिथ्यात्वं च सदसद्विलक्षणम् अनिर्वचनीयत्वमेवेति न ब्रह्माद्वैतविघातकं प्रत्युत निर्विशेषे ब्रह्मणि उपाधिभावेन कारणत्वसम्पादकमेव* इति वाच्यं, कारणत्वमेव यदि ब्रह्मणि पारमार्थिकं न भवति, तदा तटस्थलक्षणविधया ब्रह्मणः कारणत्वस्वीकृतौ शाखाचन्द्रमसन्यायेन शाखायाः कदाचित् चन्द्रमसः कदाचिद् अरुन्धत्याअपि लक्षणत्वसम्भवेन प्रधानस्यापि कदाचिद् जगत्कारणत्वे दोषापादनस्य असम्भवात्.

ननु *उक्तम् अद्वैतव्याहतिरेव दोषः तत्र* इति चेद् न, द्वैतस्य तुच्छत्वानंगीकाराद् मायिकद्वैतेन यथा न अद्वैतव्याहतिः तथा पारमार्थिकद्वैतेनापि न भवेद्. *ननु पारमार्थिकाद्वैतस्य मायिकेन द्वैतेन सह विरोधोऽपि मायिकएव न पारमार्थिकः; परन्तु पारमार्थिकाद्वैतस्य पारमार्थिकेन द्वैतेन सह विरोधोस्तु पारमार्थिकएव स्यादिति तन्निषेधः क्रियते* इत्यपि असाम्प्रतम्. अपारमार्थिकेन द्वैतेन साकम् अद्वैतस्य विरोधो यदि पारमार्थिको न भवति, भवति तदा अविरुद्धत्वादेव अद्वैतज्ञानेन द्वैतभ्रमस्य अनिवर्त्यत्वम्. अथ निवर्तनीयत्वादेव कथञ्चिद् अपारमार्थिको विरोधोऽपि अंगीक्रियते तदा विरोधाविरोधयोः एकत्र सहभावे अनेकान्तवादसमाश्रयणेन भेदाभेदयोरपि सहावस्थानम् अविरुद्धमेव अधिगन्तव्यम्.

ननु पारमार्थिकयोः हि द्वैताद्वैतयोः विरोधः सहानवस्थानरूपो, अपारमार्थिकेन द्वैतेन पारमार्थिकस्य अद्वैतस्य विरोधो न सहानवस्थानरूपः किन्तु बाध्यबाधकरूपः. बाध्यते हि परमार्थज्ञानेन अपारमार्थं भ्रमभातं वस्तु

तदेतद् न क्षोदक्षमं, तादात्म्यसम्बन्धावच्छिन्नप्रतियोगिताकयोः परस्पराभावरूपयोः पारमार्थिकयोरपि घटपटयोः एकत्र भूमौ सहावस्थानस्य अविरुद्धत्वात्. *ननु कथं तत्र पारमार्थिकद्वैताद्वैतयोः सहावस्थानं वक्तव्यम्* इति चेद्, एवं हि तद् ज्ञातव्यं तादात्म्यसम्बन्धेन घटः स्वस्माद् न भिद्यते इति अभेदात्मको घटः पटाद् भिन्नोऽपि पटेन सह एकत्र भूमौ सहावस्थानं प्राप्नोति. तस्मात् पारमार्थिकयोरपि द्वैताद्वैतयोः न सहावस्थानरूपो विरोधः कश्चित्.

(घ)यत्पुनः आह "**सिद्धान्ताभिमता प्रधानकारणतातु भामत्यभिमता केवलनिमित्तकारणता**" इति, तदपि भाष्यगतस्वव्याहतवचनदोषपरिजिहीर्षया पुनरपि भाष्यविरुद्धमेव अभिधानम्.

तथाहि "**निमित्तत्वन्तु अधिष्ठात्रन्तराभावाद् अधिगन्तव्यं, यथाहि लोके मृत्सुवर्णादिकम् उपादानं कारणं कुलालसुवर्णकारादीन् अधिष्ठातॄन् अपेक्ष्य प्रवर्तते. नैवं ब्रह्मणः उपादानस्य सतो अन्यो अधिष्ठाता अपेक्ष्यो अस्ति, प्राग् उत्पत्तेः 'एकमेव अद्वितीयम्' (छान्दो.उप.६।२।१) इति अवधारणात्. अधिष्ठात्रन्तराभावोऽपि प्रतिज्ञादृष्टान्तानुपरोधादेव उदितो वेदितव्यः. अधिष्ठातरि हि उपादानाद् अन्यस्मिन् अभ्युपगम्यमाने पुनरपि एकविज्ञानेन सर्वविज्ञानस्य असम्भवात् प्रतिज्ञादृष्टान्तोपरोधएव स्यात्. तस्माद् अधिष्ठात्रन्तराभावाद् आत्मनः कर्तृत्वम् उपादानान्तराभावात् च प्रकृतित्वम्**" (ब्र.सू.शां.भा.१।४।२३).

इह निमित्तान्तरस्य केवलस्य उपादानताविशिष्टस्यापि वा निषेधोपलम्भात्. यदि इह उपादानताविशिष्टनिमित्तत्वस्यैव निषेधो विवक्षितः चेत् तदा सांख्यादिसमये पुरुषस्य प्रधानस्य अन्येषां केषाञ्चिदपि उपादानताविशिष्ट-निमित्तत्वस्य अनभ्युपगमाद् निरनुयोज्यानुयोगएव स्यात्. पुरुषाणां सांनिध्यस्य प्रधानापेक्षितत्वात् च निमित्तकारणस्य पुरुषस्य उपादानकारणस्य प्रधानस्य जगत्कारणत्वे बाधाभावात् च. उपादानताविशिष्टनिमित्तत्वस्य अभ्युपगमात्.

विवरणमतेतु भाष्येन विरोधः करतलामलकायते.

यत्पुनः उक्तं "**सातु परिणामवादमात्रानभिप्रा यत्वात् प्रतिज्ञादृष्टान्तानुपरोधात् च न सूत्रकारसम्मतेति तन्निरासः इति सर्वं सुस्थम्**" इति. तत्र उपपादितमेव अस्माभिः यद् भाष्येऽपि अंशद्वयं प्रतीयते सूत्रारूढो तदनारूढः च इति. सर्वेष्वपि एतेषु एतदधिकरणस्थेषु वचनेषु योहि सूत्रारूढो अंशः तत्र परिणामवादप्रक्रियासमाश्रयणं दृश्यते. तस्मात् तस्य पुनः सूत्रकारासंमतत्वस्य दर्शयितुम् अशक्यत्वात्. यस्तु उत्सूत्रो भाष्यांशः तत्र सूत्रानारूढत्वादेव प्रतिवादिनाम् अनादरः.

तदेतद् उपलभ्यते "**श्रुतेस्तु शब्दमूलत्वाद्**" (ब्र.सू.२।१।२७) इति सूत्रभाष्ये. तथाहि "**शब्दश्च उभयमपि ब्रह्मणः प्रतिपादयति अकृत्स्नप्रसक्तिं निरवयवत्वं च**" (शां.भा.तत्रैव) सोऽयम् अंशः सूत्रारूढः परिणामवादसमर्थकः. उत्सूत्रस्तु पुनः "**ननु शब्देनापि न शक्यते विरुद्धार्थाः प्रत्याययितुं... निरवयवं च ब्रह्म परिणमते, नच कृत्स्नम् इति**" (शां.भा.तत्रैव) इत्यादिना विवर्तवादपोषकः. नच अयं केवलः सूत्रानारूढएव अपितु स्ववर्णितसूत्रार्थविरुद्धोऽपि, यस्माद् यदि विरुद्धार्थाः शब्देनापि प्रत्याययितुं न शक्येत तदा प्रत्यक्षविरुद्धत्वाद् अद्वैतमपि "**एकमेव अद्वितीयम्**" (छान्दो.उप.६।२।१) इत्येवमादिरूपेण शब्देन न शक्येत प्रत्याययितुम्. 'घटः सन्' 'पटः सन्' इत्यादि अनुभवेन सदिति गृहीतं द्वैतात्मकं जगत् केवलेन शब्देन "**न इह नाना अस्ति**" (बृह.उप.४।४।१९) इत्येवमादिरूपेण न शक्येत मिथ्यात्वेन प्रत्याययितुम्. यदि अत्र शक्येत तदातु निरवयवस्यापि ब्रह्मणः अकृत्स्नप्रसक्तिं परिणाममपि प्रत्याययितुं शक्येत शब्देन. यथाहि स्वयमेव भाष्यकारोऽपि आह - "**न लोकवद् इह भवितव्यं नहि अनुमानगम्यो अर्थः शब्दगम्यत्वात्तु अस्य अर्थस्य, यथाशब्दम् इह भवितव्यम्, शब्दश्च ईक्षितुः ईश्वरस्य प्रकृतित्वं प्रतिपादयति इति अवोचामः**" (ब्र.सू.शां.भा.१।४।२७). यथा उक्तं "**नहि इदम् अतिगम्भीरं भावयाथात्म्यम् आगमम् अन्तरेण उत्प्रेक्षितुमपि शक्यम्**" (ब्र.सू.शां.भा.२।१।११) इति.

नच *सन्मात्रप्रत्यक्षवादसमाश्रयाणात् प्रत्यक्षेणापि द्वैतं न प्रमीयते

तस्य विकल्पबुद्ध्येकगोचरत्वात्, खण्डनखण्डखाद्यचित्सुख्यादिग्रन्थेषु द्वैतस्य निर्वचनाशक्यत्वोपपादानात् च. तस्मात् न श्रुतिप्रत्यक्षयोः विरोधो येन श्रुत्युक्ताद्वैतस्य बाधः आशंक्येत! * वाच्यं, यस्माद् उभयोः अविरोधेतु भाष्यकाराणां "**रूपाद्यभावाच्च न अयम् अर्थः प्रत्यक्षस्य गोचरः**", "**नैव वाचा न मनसा न चक्षुषा न अन्यैरपि इन्द्रियैः प्राप्तुं शक्यते**" (ब्र.सू.शां.भा.२।१।६, कठोप.६।१२) इति स्वाभ्युपगतिविरोधात्, श्रुतीनाञ्च अनधिगतार्थज्ञापकत्वाभावेन अप्रामाण्यापत्तेः, सन्मात्रग्राहकेण ग्राह्यस्य सतो ब्रह्मत्वे "**यत् चक्षुषा न पश्यति... तदेव ब्रह्म न इदम्**" (केनोप.१।६) इति श्रुतेः बाधो अथ अब्रह्मत्वे चक्षुग्राह्यस्य सन्मात्रस्य तदग्राह्यस्य ब्राह्मिकसत्त्वस्य मिथो भेदे पारमार्थिके भेदे भेदापत्तिः. अपारमार्थिकेतु भेदे ब्रह्मभिन्नतया कल्पितस्य प्रत्यक्षविषयीभूतस्य सन्मात्रस्य मिथ्यात्वापत्तिः दुष्परिहरैव.

अतो नहि अस्माभिः उत्प्रेक्षितुं शक्यते ब्रह्म सांशं निरंशं वा आगमम् अन्तरेण, तद् ब्रह्म खलु जगदाकारेण परिणमते विवर्तते वा, तच्चापि कृत्स्नतया अकृत्स्नतया वा इति. तस्मात् श्रुतिरेव अत्र प्रमाणं, तस्यास्तु परिणामवादएव सूत्रभाष्याभ्यां तात्पर्यनिर्णयाद् असौत्रो विवर्तवादः इति सुधिभिः आकलनीयम्.

(७८५ संख्याके प्रश्नोत्तरे)

(प्र.) प्रागुत्पत्तेः यदि एकमेव अद्वितीयम् तर्हि कथं निमित्तकारणमपि ईक्षणाद्यसम्भवात्? (उ.) ईश्वरकारणतापक्षे प्रागुत्पत्तेः विविक्त नामरूपशून्यत्व-मेव. "**असदेव इदम् अग्र आसीद्**" (छान्दो.उप.६।२।१) इत्यादिवाक्यइव विवक्षितम्. इति तदानीं मायावृत्तिम् आदाय सर्वज्ञत्वपक्षेऽपि निमित्तकारणत्वं मायावृत्तिम् ईक्षणम् आदाय निर्वहत्येव. चिद्रूपत्वस्यैव सर्वज्ञत्वेतु शंकैव न उत्तिष्ठते.

(तत्समालोचनम्)

इदमा निर्दिश्यमानस्य जगतः स्वोत्पत्तेः पूर्वं सत्त्वम् आसीद् उत असत्त्वम्

इति भवति विचिकित्सा. तत्र "**तद्धैक आहुः असदेव इदम् अग्र आसीद् एकमेव अद्वितीयं तस्माद् असतः सद् जायते**" (छान्दो.उप.६।२।१) इति इदमा निर्दिष्टस्य सत्त्वेन अनुभूयमानस्य जगतः स्वोत्पत्तेः पूर्वम् असत्त्वम् आसीद् इति पराभिमतः प्रागभावो बोधितः. प्रागभावाच्च कारणादेव कार्यस्य सतः उत्पत्तिः इति वादः, "**कुतस्तु खलु, सौम्य!, एवं स्याद्? इति ह उवाच 'कथम् असतः सद् जायेत?' इति**" (छान्दो.उप.६।२।२) इति वचनेन निराकृतः. आभ्यां परपक्ष-तन्निराकरणाभ्यां जगतः इदानीं सत्त्वं उभयोः पूर्वोत्तरपक्षयोः निर्विचिकित्सतया अभिमतम् इति सिद्धम्. तत्र उत्पत्तेः पूर्वमपि सृष्टेः सत्त्वम् अद्वैतं च सिद्धान्तितम् अनेन वचनेन. तस्य सतो अद्वैतस्य अभिध्यानपूर्वकं बहुभवनं "**तद् ऐक्षत बहु स्यां प्रजायेय**" (छान्दो.उप.६।२।३) इत्यादिना वर्णितम्. तेनच सतोभिध्यानपूर्वकस्य बहुभवनेच्छासमुत्थितस्य द्वैतप्रपञ्चस्य सृष्टिकालइव प्रागपि सत्त्वं श्रुत्यभिप्रेतम् इति प्रतीयते. तच्च सत्त्वम् एकम् अद्वितीयम् च. तत्र '**एकमेव**' '**अद्वितीयम्**' च इति विशेषणद्वयेन सजातीय-विजातीय-स्वगत-द्वैतवर्जितं ब्रह्मणो रूपम् अवगमयति इति सिद्धान्तः. यथा पारमार्थिकं सजातीयं किञ्चिद् नास्ति तथा व्यावहारिकमपि विजातीयं किञ्चिद् नासीद् इति लभ्यते. तस्माद् ब्रह्मणि मिथ्याद्वैतरूप ईश्वरोऽपि व्यक्तनामरूपो अव्यक्तनामरूपो वा नासीद् इत्यपि अवगम्यते. सृष्टेः पूर्वम् "**एकमेव अद्वितीयम्...आसीद्**" (छान्दो.उप.६।२।१) इति वचनेन एकस्यैव अनितरसहायस्य ब्रह्मणः "**तद् ऐक्षत बहु स्यां प्रजायेय**" (छान्दो.उप.६।२।३) इति वचनेन बहुभवन-सामर्थ्य-संकल्पाभ्यां नानात्वमपि सिद्ध्यत्येव पारमार्थिकम्.

तदिह सृष्टिप्रक्रियायां मायायाः अजागलस्तनरूपायाः अनावश्यकत्वे सिद्धे मायावृत्तिरूपम् ईक्षणम् आदाय चिद्रूपत्वस्यैव वा सर्वज्ञत्वम् आदाय ईक्षणहेतुनिरूपणम् असंगतमेव. सांख्यसमयनिराकरणेऽपि पुनः तत्रैव पर्यवसानाद् घट्टकुट्यां प्रभातश्च.

(७८६ संख्याके प्रश्नोत्तरे)

(प्र.) अधिष्ठानान्तराभावोऽपि यदि प्रतिज्ञादृष्टान्तानुपरोधादेव वेदितव्यः

तर्हि तेनैव न्यायेन मायादिपरिणामिकारणान्तराद्यभावोऽपि कथं न अवगम्यते ? (उ.) कार्यकारणभावम् आदायैव विकारमात्रस्य एकविज्ञानेन सर्वविज्ञानप्रतिज्ञानाद् मायायास्तु ब्रह्मविज्ञानदशायां स्वरूपतो बाधेन अवस्थानस्यैव अयोगेन निर्वाहात् च वस्तुतो मायाया अभावो अर्थसिद्धएवेति कार्यकारणभावदशायां तदभावापादनं न सम्भवदुक्तिकम्. अधिष्ठानान्तरन्तु ब्रह्मज्ञाननाश्यं न वा तत्कार्यमिति तदभ्युपगमे प्रतिज्ञाविरोधो अपरिहरणीयः.

(तत्समालोचनम्)

यदिह उक्तं ''**कार्यकारणभावम् आदायैव विकारमात्रस्य एकविज्ञानेन सर्वविज्ञानप्रतिज्ञानाद्**'' इति तत्र न तावद् अधिष्ठानज्ञानेन तदुपरि जायमानानां सर्वेषां आरोपाणां ज्ञानं सिध्यति किमुत निवर्ततएव ? तस्मात् परिशिष्यते एकविज्ञानेन सर्वविज्ञानप्रतिज्ञानुरोधाद् मृज्ज्ञानेनैव परिणाम्युपादानभूतज्ञानेन सर्वेषां मृण्मयानामिव तद्विकाराणां ज्ञानम्. तथा सति ब्रह्मणः परिणाम्युपादानता अनंगीकारे '**एकविज्ञानेन**' इत्यस्य मायाविज्ञानेन इत्येव अर्थो लभ्येत ततश्च मायैव जिज्ञास्या भवेद्, न पुनः ब्रह्मापि. तच्च अनभीष्टम्. अभिलषितन्तु ब्रह्मविज्ञानं नच तेन सर्वविज्ञानं सम्भवतीति अवोचामः. नहि परिणामवादम् अनुसृत्य ब्रह्मजगतोः कार्यकारणभावो मायावादिभिः स्वीक्रियते.

यत् पुनः उक्तं ''**मायायास्तु ब्रह्मज्ञानदशायां स्वरूपतो बाधेन अवस्थानस्यैव अयोगेन निर्वाहात् च वस्तुतो मायायाः अभावो अर्थसिद्धएवेति कार्यकारणभावदशायां तदभावापादनं न सम्भवदुक्तिकम्**'' इति. तत्र मायायाः स्वरूपतो बाधेन अवस्थानस्यैव अयोगेन तस्या अभावस्य अर्थसिद्धत्वेऽपि सो भावः कीदृशः इति विमर्शः कर्तव्यः.

ब्रह्मज्ञानेन बाधितायाः मायायाः अभावो हि न जगतः उपादानकारणत्वेन अभावः किन्तु सदसदभ्यां निर्वचनीयत्वेनैव. तथा निर्वचनीयत्वेन यो अभावः सो यदि उपादानत्वेनापि स्यात्, स्यात् च तदा मायावादभंगः. तस्माद् ब्रह्मैव पारिशेष्याद् उपादानं स्यात्.

अथ *निर्विशेषस्य ब्रह्मणो मायोपाधिं विना स्वतः उपादानत्वं न सम्भवति* इति चेत् ततस्तु सिद्धं बाधज्ञानोत्तरएव तस्याः अभावः. ननु *बाधयोगस्य त्रैकालिकनिषेधप्रतियोगित्वं स्वीक्रियते* इति चेत् तया तेनैव हेतुना उपादानत्वनिषेधोऽपि भवेदेव. यदितु उपादानता न निषिध्यते किन्नाम सत्त्वासत्त्वाभ्यां निर्वचनीयतैव निषिध्यते तदा उपादानत्वेनैव स्वीकरणाद् अभावोऽपि न सिध्येत्. शास्त्रिचरणाअपि अतएव ''**कार्यकारणभावदशायां तदभावापादनं न सम्भवदुक्तिकम्**'' इति आहुः. कार्यकारणभावदशायामेव ब्रह्मणो विवर्तोपादनता, परिणाम्युपादानता आहोस्विद् निमित्तकारणतापि स्वीक्रियते न ब्रह्मज्ञानोत्तरदशायामपि. भाष्यकृतापि कार्यकारणभावदशायामेव उपादानान्तरस्य अभावापादनं क्रियते न पुनः ब्रह्मज्ञानदशायामपि अप्रसक्तत्वादेव - ''**साक्षादिति च उपादानान्तरानुपादानं दर्शयति**'' (शां.भा.१-।४।२५). आपादितेतु उपादानान्तराभावे तदुपादानं ब्रह्मज्ञाननाश्यम् अनाश्यं वा भवतु उभयमपि व्यावर्ततएव. तस्मात् समःसमाधिः उभयथा. यदि ब्रह्मणो अन्यद् उपादानं मायारूपं भवति, भवति तदा वदतोव्याघातः, प्रदत्तश्च अवकाशो प्रधानायापि ब्रह्मव्यतिरेकस्य तुल्यत्वात्. अन्यथा सर्वस्याअपि कार्यकारणभावप्रक्रियायाः ब्रह्मज्ञाननाश्यत्वेन स्वरूपतो अभावरूपायाः ब्रह्माद्वैताबाधकत्वेनैव उपपत्तिः प्रदर्श्यते चेद् मा भूद् निखिलस्य परिणाम्युपादानं माया, घटोऽपि हि निखिलस्य प्रपञ्चस्य कारणं कुतो न भवति ब्रह्मज्ञाननाश्यत्वसामान्यात्. यतो घटोऽपि परमार्थतो अभावरूपः तादृशस्य च समग्रजगदुपादानरूपत्वे बाधाभावात्.

ननु *व्यवहारे तथा अदर्शनाद् न सम्भवति* तदा मायापक्षेऽपि तथा अदर्शनाद् मायापि जगदुपादानं न भवितुम् अर्हति. ननु *व्यवहारे मायाकार्यत्वस्य अदर्शनेऽपि ''**अस्मान् मायी सृजते**'' (श्वेता.उप.४।९) ''**वाचारंभणं विकारो**'' (छान्दो.उप.६।१।४) ''**एकमेव अद्वितीयम्**'' (छान्दो.उप.६।२।१) इत्यादिश्रुतिभ्यः मायायाः कारणत्वसिद्धिः* इति चेद् न, एकविज्ञाने सर्वविज्ञानप्रतिज्ञानुरोधात् तत्र उपादानान्तराभावस्य सिद्धत्वेन मायामाय्यादिसर्वेषामपि ब्रह्मतादात्म्यं वा अभावो वा अंगीकरणीयो

विरुद्धश्रुतिसमन्वयार्थम्. अन्यथा तुल्यन्यायेन प्रधानादेरपि कारणत्ववारणं न सम्भवेत.

(७८७ संख्याके प्रश्नोत्तरे)

(प्र.) इष्टापत्तौतु ब्रह्मणोऽपि कथं विवर्तोपादानकत्वम्? (उ.) तथाच कार्यकारणभावदशायां मायाया अपि स्वीकाराद् न ब्रह्मणो विवर्तोपादनता विरुद्ध्यते.

(तत्समालोचनम्)

विवर्तोपादानत्वं परिणाम्युपादानत्वं वा निमित्तकारणत्वं वा कर्तृत्वं वा भवतु! भवतितु सर्वम् एतत् कार्यकारणभावदशायामेव. एतस्यामेव हि दशायां कस्य कर्तृत्वं कस्य निमित्तत्वं कस्य च पुनः उपादानत्वं वा भवति? इति भवति विचिकित्सा. कार्यकारणभावदशायामेव हि ब्रह्मणो व्यतिरिक्तस्य उपादानान्तरस्य निमित्तान्तरस्यापि वा व्यावर्तनार्हत्वम् भवति. अन्यथा एवकारप्रयोगवैयर्थ्यम् आपद्येत. ब्रह्मैव जगतः उपादानं निमित्तकारणञ्च तस्माद् भवति इति अध्यवसीयते.

ब्रह्मज्ञानदशायान्तु मायाब्रह्मणोः नैकतरस्यापि कारणत्वं सम्भवति ब्रह्मज्ञानविरोधात्. नच अतः प्रतिषेधोऽपि तत्र युज्येत. तस्माद् वदतोव्याघातो वा एवकारवैयर्थ्यापत्तिः वा इति दूषणं वज्रलेपायितम्.

(७८८ संख्याके प्रश्नोत्तरे)

(प्र.) अधिष्ठातरीव दोषविधया परिणामिकारणविधया वा ब्रह्मणो अन्यस्मिन् अभ्युपगम्यमानेऽपि कथं प्रतिज्ञादृष्टान्तानुपरोधः? (उ.) दोषविधया परिणामिकारणविधया वा अविद्यायाः अभ्युपगमेऽपि ब्रह्मसाक्षात्कारदशायां तस्याअपि पूर्वोक्तविधया बाधाद् न प्रतिज्ञादृष्टान्तोपरोधः.

(तत्समालोचनम्)

दत्तोत्तरप्रायत्वाद् इह न बहु वितन्यते. तथापि इदं तावद् वक्तव्यं

भवति यद् नहि ब्रह्मज्ञानदशायां बाधात् कार्यकारणभावदशायाम् अविद्यायाः अभावो भवति. भावेतु एकविज्ञानेन सर्वविज्ञाने जनितव्ये तदेकविज्ञानं ब्रह्मणो वा मायायाः वा? इति निर्धारणीयम्. यदि ब्रह्मणः तदा मायायाः कारणत्वानुपपत्तिः प्रतिज्ञाबाधः च. यदि मायायाः तदा प्रतिज्ञानुपरोधेऽपि प्रक्रान्तब्रह्मजिज्ञासायाः निष्प्रयोजनत्व-निष्फलत्वापत्तेः वैयर्थ्यापत्तिः.

(७८९ संख्याके प्रश्नोत्तरे)

(प्र.) मायाख्ये उपादाने विद्यमाने कथम् उपादानान्तराभावात् च प्रकृतित्वम् इति भाष्यम्? (उ.) मायातु न उपादानम् इति भामतीमतं, विवरणमतेतु विवर्तोपादानान्तराभ्युपगमएव प्रतिज्ञोपरोधः आपाद्यते, इति मायायाः परिणाम्युपादानान्तरत्वस्य स्वीकारेऽपि न विरोधः.

(तत्समालोचनम्)

"**भामतीमते न उपादानत्वम्**" इति निमित्तत्वम् अस्ति न वा? यदि आद्यः तदा.- "**अधिष्ठात्रन्तराभावोऽपि प्रतिज्ञादृष्टान्तानुपरोधादेव उदितो वेदितव्यः. अधिष्ठातरि हि उपादानाद् अन्यस्मिन् अभ्युपगम्यमाने पुनरपि एकविज्ञानेन सर्वविज्ञानस्य असम्भवात् प्रतिज्ञादृष्टान्तोपरोधएव स्यात्.**" (शां.भा.१।४।२३) इति वचनविरोधः. यदि द्वितीयः तदा उपादानत्वनिमित्तत्वाभ्याम् अन्यस्य कस्यचन अनभ्युपगमाद् अमायिकं जगद् आपद्येत्. माया हि जगतो नोपादानं नच निमित्तं तथापि मायिकं जगद् इति तु न सम्भवति.

ननु *उपादानत्वविशिष्ट-निमित्तत्वस्य अधिष्ठात्रन्तरोपाधौ निषेधः क्रियते. मायान्तु केवलां निमित्तकारणरूपामेव अवगच्छामः. अतो न दोषः कश्चिद्* इति चेद् न, एकविज्ञानेन सर्वविज्ञानप्रतिज्ञाबाधस्य इहापि तुल्यत्वात्. सांख्यैरपि प्रधानस्य पुरुषस्य वा कस्यचिदपि उपादानत्वविशिष्टनिमित्तत्वानभ्युपगमात् तदभिमतानामपि अनिषिद्धत्वापत्तिः निरनुयोज्यानुयोगः च.

"**विवरणमतेतु विवर्तोपादानान्तराभ्युपगमएव प्रतिज्ञोपरोधः**" इति यद्

उक्तं तत्र सांख्यमते प्रधानस्य विवर्तोपादानत्वानभ्युपगमात् तत्रापि अदुष्टत्वापत्तिः. भाष्यकारेण च "'**यतः**'**इति इयं पञ्चमी... प्रकृतित्वलक्षणएव अपादाने दृष्टव्या**" (शां.भा.१।४।२३). "**पूर्वसिद्धोऽपि हि सन् आत्मा विशेषेण विकारात्मना परिणमयामासः आत्मानम् इति. विकारात्मना च परिणामः मृदाद्यासु प्रकृतिषु उपलब्धः**" (शां.भा.१।४।२६) इति एवंजातीयकैः वचनैः ब्रह्मणः परिणाम्युपादानत्वस्यैव समर्थनाद् विवरणमपि भाष्याशये व्रणमिव आभाति. भाष्यस्य वा वदतोव्याघातदोषदुष्टत्वम् अवश्यम् अभ्युपेतव्यम्.

तस्माद् मायाया परिणाम्युपादानान्तरत्वस्य स्वीकारो नैव युक्तः.

(७९० संख्याके प्रश्नोत्तरे)

(प्र.) तेन साक्षादिति च उपादानान्तरानुपादानं दर्शयति इति भाष्यमपि व्याख्यातम्. मायोपादानस्यापि स्वीकारेण उक्तभाष्यानुपपत्तेः. (उ.) तथाच साक्षादिति च उपादानान्तरानुपादानं दर्शयतीति भाष्यं विवर्तोपादानान्तरानुपादानमेव गोचरयति इति न उक्तभाष्यम् अनुपपन्नम्. "**आत्मकृते परिणामाद्**" (ब्र.सू.१।४।२६) इत्यत्र परिणामशब्दस्यापि विवर्तपरत्वात्.

(तत्समालोचनम्)

तदेतत् पूर्वसमाधानेन दत्तोत्तरम् "**आत्मकृते परिणामाद्**" (ब्र.सू.१।४।२६) इत्यत्र यदि परिणामशब्दस्य विवर्तपरत्वं विकारशब्दस्यापि भ्रमपरत्वं "**मृदाद्यासु प्रकृतिषु**" इति शब्दयोरपि रजतारोपाधिष्ठानशुक्तिकापरत्वं, "**विकारात्मना च परिणामः**" इत्यस्य रजतसर्पादिपरत्वमपि स्यात् स्यात् च तदा आत्मशब्दस्यापि प्रधानपरत्वे निर्दोषत्वम् भाक्तप्रयोगस्य प्रधानकारणवादएव दोषावहत्वं न मायाकारणवादे न एतादृशीं राजाज्ञां काश्चिद् विद्महे.

(७९१ संख्याके प्रश्नोत्तरे)

(प्र.) 'परिणाम'शब्दस्यैव विवर्तः इति अर्थस्तु "**विकारात्मना च परिणामो मृदाद्यासु प्रकृतिषु उपलब्धः**" (ब्र.सू.शां.भा.१।४।२६) इति भाष्ये

मृदादिदृष्टान्तोपादानाद् वार्यते. (उ.) यत्तु "**विकारात्मना...उपलब्धः**" इति भाष्यं तदिदं स्वाभिन्नकार्यजनकत्वं विवर्तपरिणाम्युपादानसाधारणं लक्षणम् अभिप्रेत्यैव नतु विकारार्थम् अभिप्रेत्य. अतएव अत्र '**विकारात्मना**'इति 'आत्म'पदम्.

(तत्समालोचनम्)

नहि यादृशो अभेदो विकारपरिणामिनो दृष्टः तादृशएव अभेदो विवर्ताधिष्ठानयोः इष्यते. एकत्र भेदसहिष्णवभेदरूपः तादात्म्यरूपो अपरत्र द्वितीयात्यन्ताभावरूपः च इति अभ्युपगमात्. अन्यथा भास्करमतखण्डनस्य अकाण्डताण्डवतापत्तिः. नच अर्थावगाहनं विना 'अभेद'शब्दमात्रसाम्येन उभयत्र विवर्तपरिणामयोः लक्षणसाधारण्यं वक्तुम् उचितम्. 'आत्म'पदं हि स्वरूपवाचकम् इति यएव अर्थो विकारस्य भवति सएव अर्थो 'आत्म'पदस्यापि ज्ञेयः. अन्यथा "**शुक्तिका हि रजतात्मना अवभासते**" इत्यत्र 'रजतात्मना' इत्यस्यापि 'गजात्मना' इत्यर्थोऽपि स्यात्.

तस्मात् समर्थितं भवति यद् जगद्ब्रह्मणोः तादात्म्यं विना न श्रुतिसूत्रस्वारस्यसंरक्षणसम्भावना इति. प्रकृत्यधिकरणगतानां सूत्राणां पूर्वपक्षकक्षायामस्थापनात्, परिणामवादपरिभाषयैव हठाद् भाष्यरचनानैयत्यदर्शनात् च विवर्तवादस्य अप्रामाणिकत्वं ब्रह्मस्वरूपपरिणामवादस्य श्रुतिसूत्रादिशास्त्रसमर्थित्वञ्च इति सर्वं सुस्थम्.

प्रकृत्यादिसूत्रेऽनुपादानतोक्तिः
समारूढशाखां स्वयं ह्युच्छिनत्ति।
मुधातो विदग्धाः विवर्तादिवादान्
वदन्तीति वेद्यं श्रुतेः सारविद्भिः॥५॥

इति गोस्वामिश्रीदीक्षितात्मजेन श्याममनोहरेण विरचितं
श्रीमदनन्तकृष्णशास्त्रिविरचितप्रश्नोत्तरसाहस्र्यां

प्रकृत्यधिकरणगतानां कतिपयानां प्रश्नोत्तराणां
समालोचनम्
सम्पूर्णम्

वादावलीपरिशिष्टम्

(३)

।। केवलाद्वैतवादाभिमताविद्यास्वरूपविमर्शः ।।

विद्याविद्ये हि यच्छक्ती मुक्तिबन्धप्रदायिके।
वन्दे कृपानिधिं कृष्णं भजनानन्ददायकम्।।१।।

इदम् अत्र विचार्यते : निर्विशेषब्रह्मवादिनां मते ब्रह्मानन्दः संसारदशायां यद् न अवभासते, अन्यथा ब्रह्मानन्दानुभवेतु ब्रह्माज्ञानेऽपि संसारोच्छेदप्रसंगापत्तिः, सोऽयम् आनन्दानवभासः किम् अज्ञानावृतत्वेन हेतुना इतरेण वा? इति.

तत्र सच्चिदानन्दरूपब्रह्मणः सत्ताचैतन्यानन्दानां गुणधर्मत्वकल्पनाभावेऽपि चैतन्याकारायाः अविद्यावृत्तेः अंगीकाराद् सदानन्दयोः च आवरणप्रयोजनाभावात् चैतन्यावरणेनैव तदभानोपपत्त्या आनन्दाकारायाः च अविद्यावृत्तेः वक्तुम् अशक्यतयापि आनन्दानवभासः कथम् उपपादनीयः? सतिच एवम् आनन्दस्य ब्रह्मस्वरूपत्वेनैव 'चिदवभासः'-'आनन्दावभासः' च अनन्यार्थाकावेवेति चिदावरकवृत्तिसद्भावे आनन्दाकाराविद्यावृत्त्यभावे च विनिगमनाराहित्यं प्रतीयते.

नच *अविद्यायाएव तादृशो माहात्म्यविशेषः कल्पनीयः, स माहात्म्यविशेषोऽपि आनन्दांशम् अविषयीकृत्य चिदंशमेव विषयीकरोति इति अंशकल्पनया उत अन्यथैव. न तावद् अन्यथा, अंशकल्पनां विना निरंशस्य ब्रह्मणो अविद्यावृत्तौ अंशतो विषयीकरणाकरणे न उपपद्येयाताम्. अथ

अंशकल्पनयैव ते कल्प्येते * इति चेत् तदा किम् अंशकल्पनया चिदानन्दयोः आवरणानावरणे आहोस्विद् अंशावरणाभ्याम् अंशकल्पने? न उभयथापि सम्भवति. तथाहि प्रथमे तावत् कल्पे अनावृतयोः चिदानन्दयोः अंशत्वकल्पकाभावाद् अंशावरणकल्पनायाः सुतराम् असम्भवः. नहि मूलाविद्यायाः प्रवाहानादित्वं विवक्ष्यते येन पूर्वावरणकृतांशकल्पनया उत्तरावरणं वक्तुं शक्येत. द्वितीयेतु अन्योन्याश्रयदोषः. नापि अविद्यायाः अनादित्वाद् उक्तदोषाननुषंगः इति साम्प्रतम्, अनादित्वंहि तावद् तद्धेतुकावरणानुत्पत्तौ खलु प्रयोजकम्. नहि अत्र आवरणोत्पत्तौ तज्ज्ञप्तौ वा विवादः किन्तु आवरणप्रयोजकएव. स्वीकृतन्तु अंशावरणस्य अविद्याप्रयुक्तत्वम् अन्यथा अविद्यानिवृत्तावपि तत्प्रयुक्तम् आवरणं न निवर्तेत.

ततोहि तद् आवरणं कल्पितांशे उत आवृतेहि तस्मिन् अंशकल्पनम्? इत्येव आकारो जिज्ञासायाः.

* ननु अंशावरणमेव अविद्येति अंशावरणाविद्ययोः प्रयोज्यप्रयोजकभाव-जिज्ञासया न लाभः कश्चन * इति चेद् मा भूद् अंशावरणाविद्ययोः प्रयोज्यप्रयोजकभावो अंशकल्पनां-ऽशावरणयोस्तु कतरः प्रयोजकः स्याद् इत्येव तावद् विवेचनीयम्? यस्माद् अंशावरणस्य निरंशे ब्रह्मणि अंशकल्पनां विना असम्भवात्; तथैव अंशकल्पनायाअपि अंशावरणं विना अनुपपन्नत्वाद्, अन्योन्यसिद्धिसापेक्षसिद्धिकत्वन्तु दुर्वारमेव. तथाहि "यत्सत्त्वप्रयुक्ता यत्सत्त्वप्रसक्तिः यदभावप्रयुक्ता यदभावप्रसक्तिः" तयोः मिथो कश्चन प्रयोजकप्रयोज्यभावस्तु अंगीकरणीयएव. तस्माद् यथा उत्पत्तौ वा ज्ञप्तौ वा अन्योन्याश्रयस्य दोषरूपता तथा प्रयोज्यप्रयोजकभावेऽपि अन्योन्याश्रयो दोषरूपएव अवगन्तव्यः. तस्माद् उभयोः अंशावरणौपाधिकांशत्वयोः अनादित्वेन हेतुना उत्पत्तौ अन्योन्याश्रयदोषवारणेऽपि इतरेतरप्रयोज्यप्रयोजकभावे तयोः अन्योन्याश्रितत्वेन दोषतादवस्थ्यम्. तत्र अंशकल्पनासत्त्वप्रयुक्तायाः अंशावरणसम्भावनायाः शक्यत्वेऽपि अंशकल्पनाभावे अंशावरणाभावकल्पना अंशावरणेनैव अंशकल्पनायाः प्रसारेण दुर्भणत्वम् अभाति. एवं विपर्ययेऽपि.

नच *अंशावरणमेव अंशकल्पना* इति साम्प्रतं, तद् यदि अखण्डचैतन्यांशस्य आवरणं चेद् न निस्तारः. अथ अविद्यांशेन चिदावरणं तदा अविद्यायाः कीदृशेन अंशेन इति व्युत्पादनीयं. न तावद् मूलतूलादिप्रभेदकल्पितो अविद्यांशः, तस्य इह अनुपयोगात्. अथ *अविद्यैव खलु चित्प्रतिबिम्बग्राहिणी तदितराग्राहिणी* इति चेद् न, अनावृतायाः चितो हि आनन्दाद् अभिन्नत्वांगीकारेण चितो ग्रहणेन आनन्दादिकमपि गृहीतमेव. ततो न अविद्यायाः अंशेन आवरणम् इत्येव चिति अंशकल्पना वक्तुं युक्ता. नच *एष खलु आवरणस्यैव स्वभावो यद् आनन्दस्य आवरणेतु तदप्रकाशं घटयन्नपि चितस्तु आवरणे निजावृतत्वेन तत्प्रकाशनमपि घटयति इति. यथाच उच्यते "**आश्रयत्वविषयत्वभागिनी निर्विभागचितिरेव केवला**" (संक्षे.शारि.१।३१९) * इति वाच्यं, चितेर्हि अज्ञानविषयत्वांगीकारे तद्भेदाप्रतियोगिकस्य आनन्दस्यापि तथाविधएव आवृतत्वेन प्रकाशो अकामेनापि अंगीकरणीयएव.

नच *चिद्विषयकत्वम् अज्ञानस्य न तत्स्वप्रकाशत्वावरणाय अलम्, अज्ञानस्यापि तेनैव प्रकाश्यत्वेन भासमानत्वात्. अतोहि चिदपरिच्छिन्नत्वस्यैव आवरणायेति तत्र चिति देशकालस्वरूपतः परिच्छेदप्रतीतिः आवरणस्वभावप्रयुक्ता युक्तैव* इति वाच्यम्, अस्यापि विवादग्रस्तत्वादेव. तथाहि नहि चितेः स्वप्रकाशत्वापरिच्छिन्नत्वरूपौ द्वौ धर्मौ नाम कौचन, ययोः अन्यतरयोः आवरणानावरणे सम्भवेताम्.

किञ्च सविशेषत्वेनैव शुक्तिशकलस्य शुक्तित्वम् अज्ञानेन आव्रियते न खलु चाकचक्यादिकमिति तत्र प्रत्यक्षसिद्धत्वेन सुतराम् अंगीकर्तुं शक्यम्. निर्विशेषन्तु पुनः ब्रह्मेति तत्र आवरणस्वभावोऽपि न अकिञ्चित्करताम् अतिक्रामेत्. *ननु निर्विशेषेऽपि विशेषकल्पनापुरःसरैव आवरणकल्पना* इति चेद् न, विशेषकल्पनायाम् आवरणकल्पना आवरणकल्पनायां च विशेषकल्पना इति अत्रापि पूर्वोक्तदोषानतिलंघनात्. तथाहि ब्रह्मानन्दस्तु निखिलद्वैतप्रयुक्तदुःखनिवारकइति तस्य अनावृतत्वेतु, आवरणानभीभूतत्वेनैव हेतुना,

अज्ञानावरणविक्षेपप्रयुक्तानां निखिलानां दुःखानां निवारणं भवितव्यमेव. अथ आवृतत्वेतु चिदभेदरूपहेतुनैव तद्वदेव आनन्दस्यापि आवृततयैव प्रतिभासो वा भवितव्यः.

नच *नित्यशुद्धमुक्ताधिष्ठान-सर्वसाक्षिरूप-चैतन्यस्य सर्वावभासकस्य प्रमातृत्वं न स्वीक्रियते, येन आवरणात्मकम् अज्ञानं तेन साक्षिणा निवर्तेत. प्रमाऽज्ञानवृत्तीतु प्रमात्रुपहितचैतन्यगोचरेएवेति प्रमातृगतप्रमाणवृत्त्यैव अविद्यावृत्तिः निवर्तितुं योग्या* इति वाच्यं, तदा अलं प्रमाऽज्ञानभ्रमादिसर्वावभासकेन निर्विशेषब्रह्मणा, यस्मात् संसारदुःखनिवारकतया प्रमातुरेव आश्रयणं तदा श्रेयस्करं स्यात्. नच *प्रमातुरपि स्वविषयिणी प्रमातु न मुक्तिसाधिका किमुत निर्विशेषब्रह्मविषयिण्येवेति न प्रमात्राश्रयः श्रेयस्करः किन्तु निर्विकल्पकात्मचैतन्ये सम्प्रतिष्ठितैव बुद्धिः श्रेयस्करी* इति वाच्यं, निर्विकल्पकात्मचैतन्यस्य नित्यमुक्तत्वेन मुक्त्यपेक्षाभावात्. प्रमातुस्तु पुनः बद्धत्वेन मुक्त्यर्हता, तया च मुक्तेः मिथ्यात्वेऽपि, यक्षानुरूपो बलिन्यायेन, अपेक्षणीयत्वस्य शक्यत्वात्. *ननु मिथ्यापि अनुभूयमानं स्वाप्निकं दुःखं जागरणानन्तरन्तु अमिथ्याभूते द्रष्टरि न निवारणीयम् इति को वा मन्वीत?* इति चेद् न, दार्ष्टान्तिके हि जागरणस्थानीयं तावद् निखिलद्वैतबाधेन दुःखात्यन्ताभावोपलक्षितं निर्विकल्पकात्मचैतन्ये अवस्थानमेव. तत्र प्रमातुरपि बाधाद् न तस्य आत्यन्तिकदुःखोच्छेदज्ञानं नापि पारमार्थिकानन्दज्ञानं वेति तत्र प्रमातुः प्रवृत्त्यनुपपत्तेः. स्वप्नजागरणोभयावस्थानुगतस्य स्वप्नद्रष्टुस्तु जागरणेऽपि निजैक्यप्रत्यभिज्ञया स्वाप्निकमिथ्यादुःखनिवृत्तौ प्रवृत्तिः सुखेनैव उपपद्येत. प्रमातुस्तु पुनः शुद्धचिति आरोपितत्वेन आत्ममिथ्यात्वप्रतिपत्त्या स्वाधिष्ठानभूत-दुःखात्यन्ताभावाधिकरणतोपलक्षित-शुद्धचितस्तु पारमार्थिकत्व-विश्वासेनापि न आत्मीयदुःखनिवारणे प्रवृत्त्युपपत्तौ किञ्चित् प्रयोजनं कल्पयितुं शक्यते. नापि केवलाद्वैते प्रमातृ-शुद्धचैतन्ययोः तादात्म्यम् अंगीकृतं किमुत शुद्धचैतन्ये तद्व्यतिरिक्तसत्त्वस्य त्रैकालिकात्यन्ताभावएव. न खलु कस्मिंश्चिद् भवने देवदत्तो ''अहं नासम् नास्मि न भविष्यामि'' इति विज्ञायापि तद्भवनालंकरणाय समुत्सुको भवितुं प्रभवेत्!

ननु प्रमात्रवस्थाबाधात् पूर्वं तत्र आनन्दप्रकाशनस्य श्रुत्यादिशास्त्रैः वैषयिकसुखसंवादेनापि प्रमितत्वेन प्रवृत्तिरपि उपपद्यतएव इति चेद् न, बद्धावस्थायां लेशतः आनन्दावभासेऽपि अपरिच्छिन्नानन्दानवभासनात् प्रमात्राच अनुभवितुमपि अशक्यत्वात् च तथाप्रवृत्त्युपघातः कुतो न भवेत्? नच *परिच्छिन्नानन्दप्रकाशे तदपरिच्छिन्नतानुभवाय कुतो न प्रवृत्तिः शक्यते कल्पयितुम्* इति वाच्यं, यावद्धि प्रमात्रवस्था न तावद् अपरिच्छिन्नानन्दानुभवो यदा पुनः अपरिच्छिन्नानन्दानुभवो न तदा प्रमात्रवस्थानुगतिः इति विज्ञाते सति प्रमातुस्तु तत्र प्रवृत्तिः सुन्दरीपाणिग्रहकामिने वराय निजप्राणातिपातोत्तरं तच्छवेन सुन्दरीविवाहप्ररोचनावृत्तान्तमेव अनुसरति!

ननु उक्तमेव क्वचित्क्वचिद् यद् अज्ञानं चैतन्यानन्दादीन् आवृणाति नतु सत्त्वांशम् इति चैतन्यमपि आवृतमेवेति न असंमञ्जसं किञ्चिद् इति अत्र प्रष्टव्यो भवान् यत् चैतन्यमपि आवृतमेव सत्त्वांशस्तु न इति को अभिप्रायः? *ननु स्पष्टएव प्रपञ्चस्य स्वातन्त्र्येण सत्ताभावात् तत्र ब्रह्मसत्तैव अनुगता अवभाति, रजते शुक्तिकासत्तावदिति घटादौ जडविषये यथा चैतन्यानन्दौ न प्रकाशेते तथा प्रमातरि आनन्दापरिच्छेदो न प्रकाशते* इति चेद्, अहो चित्रम् एतत्! चैतन्यांशप्रकाशाभावे सत्त्वांशः केन प्रकाश्येत? यदि अविद्ययैव इति चेत्, कृतं तदा ब्रह्मणो सर्वावभासकत्वस्वरूपावगमेन. अथ आवृतोऽपि चैतन्यांशो प्रकाशतएव इति चेत्, किं तदा अपराद्धम् आवृत्तेन आनन्दांशेनेति कल्पनैव खलु इयं क्लिष्टा अवभाति.

किञ्च ब्रह्मानन्दस्तु निखिलसंसारोच्छेदकइति कुतो न पूर्वमेव स्वावरकाज्ञानं निवर्तयति? *ननु तस्य आवृतत्वाद् आवरणस्य च अनादित्वाद्, ''अहं ब्रह्म अस्मि'' इति प्रमावृत्यारूढस्यैव तस्य ब्रह्मानन्दस्य दुःखनिवर्तकत्वाभ्युपगमात् च* इति चेद् न, किम् ''नित्यनिर्दुःखानन्दस्वरूपं ब्रह्म अस्मि''इति शाब्दवृत्त्युपहितो ब्रह्मानन्दः तादृग्वृत्त्यनुपहिताद् ब्रह्मानन्दाद्—भिन्नो वा, भेदात्यन्ताभावोपलक्षितो वा, तादात्म्येन अभिन्नो वा, भेदाभेदाभ्याम् अनिर्वचनीयो वा?

तत्र न आद्यो, भिन्नत्वे द्वैतापत्तेः. न द्वितीयः, तथात्वे एकस्य मिथ्यात्वम् अपरस्य पारमार्थिकत्वमिति अपारमार्थिकेन हि तेन सम्पादितो अपारमार्थिकानां दुःखानाम् दुःखोच्छेदोऽपि अपारमार्थिकएव भवेदिति घट्टकुट्यां प्रभातः. न तृतीयः, तादात्म्यसम्बन्धेन तयोः अभेदेतु ''अहं ब्रह्म अस्मि'' इति वृत्त्युपहितब्रह्मानन्दस्य निखिलद्वैतरूपदुःखनिवारकस्य दुःखनिवारणोत्तरं कतकरेणुवत् स्वतोनिवृत्तिस्वभावेन तद्वृत्त्यनुपहितब्रह्मानन्दस्यापि निवृत्त्यापत्तिः दुर्वारा तादात्म्यात्. न चतुर्थो, भेदाभेदाभ्याम् अनिर्वचनीयत्वेतु एकस्य उपलब्धये अपराश्रयणे च निःशंकप्रवृत्तिविघातापत्तेः. अथ अन्यतरयोः पारमार्थिकत्वापारमार्थिकत्वेतु भेदकल्पकुक्षिनिविष्टतया पूर्वकल्पीयद्वैतापत्तिरेव पुनः आपतिता !

नच *''आनन्दो न प्रकाशते'' इत्येव तावद् न अंगीक्रियते माभूत् च संसारोच्छेदप्रसंगः, आनन्दावभासेऽपि अपरिच्छिन्नतया तस्य अनवभासनाद्* इति वाच्यं, यतः स परिच्छेदोऽपि अपरिच्छिन्नस्वभावे ब्रह्मणि अविद्यावरणपूर्वको अन्यथा वा? नहि अनावृते ब्रह्मणि परिच्छेदकल्पना, आवरणं च तस्मिन् परिच्छिन्ने वा स्याद् अपरिच्छिन्ने वा? न तावद् आद्यः अन्योन्याश्रयदोषात्. अपरिच्छिन्नेतु ब्रह्मणि आवरणं किम् अज्ञानपरिच्छेदेन अन्येनैव हेतुना वा? अज्ञानमपि न तावद् मूलाज्ञानरूपेण परिच्छिन्नं तस्य ज्ञानयावद्वृत्तित्वावगमात् तूलाज्ञानरूपेण तस्मिन् परिच्छेदकल्पनासम्भवेऽपि तदुपहिताद् अन्यत्र अपरिच्छिन्नानन्दप्रतीतिः अपरिहार्यैव. तूलाज्ञानोपहितेऽपि आनन्दावभासनक्षमयैव अन्तःकरणवृत्त्या जीवे परिच्छिन्नानन्दप्रतीतिः अन्यत्र च अन्तःकरणवृत्त्यभावादेव अप्रतीतिः इति अभ्युपगमात्. नैष दोषः इति चेद् न, अन्तःकरणएव आनन्दानुभूतिक्षमता किम् अन्तःकरणस्य तदाकारग्रहणसामर्थ्यहेतुना अन्येन वा? प्रथमेतु आनन्दाकारग्रहणसामर्थ्यवत्या आविद्यकवृत्त्यापि आनन्दो अवभासेत. नच *तदनवभासे तदसामर्थ्यएव हेतुः, अज्ञानानन्दयोः परस्परविरोधाद्* इति वाच्यं, चिदज्ञानयोरपि परस्परविरोधात् चैतन्यमपि न अवभासयेत. नच फलबलकल्पनयैव समाधानं युक्तं, परेषां मते फलस्यापि अन्यथोपपादनसम्भवात्.

ननु सर्वमपि विचित्रकार्योत्पादहेतुरूपेण अविद्यामाहात्म्येन निर्वोढुं शक्यम् इति चेद् न, शुद्धे ब्रह्मणि अविद्यासंसर्गानभ्युपगमात्. नच *अनाद्याविद्यकः खलु 'आश्रयाश्रयिभाव'-'विषयविषयिभावा'ख्यएव सम्बन्धः* इति वाच्यं, स आश्रयाश्रयिभावाख्यः सम्बन्धो अविद्याजन्यो वा तत्प्रयुक्तो वा? नाद्यः व्याघातात्. न द्वितीयो, अन्योन्याश्रयदोषानतिलंघनात् तथाहि आश्रयाश्रयिभावप्रयुक्ता ब्रह्मणि अविद्यायाः सिद्धिः, स्वरूपानादिभूतायाः अनाश्रितायाः तस्याः तुच्छवैलक्षण्यनिरूपणानर्हत्वात्, सम्बन्धस्य च अस्यहि अविद्याप्रयुक्तत्वात् च. प्रयुक्तत्वञ्च तत्सिद्धिसापेक्षसिद्धिकत्वमेव.

ननु उक्तं सर्वत्र अनादित्वाद् न उत्पत्तौ अन्योन्याश्रयो नापि ज्ञप्तौ नित्यज्ञानब्रह्मप्रकाश्यत्वाद् इति चेद्, हन्तः! कोहि एवं ब्रवीति ज्ञप्तौ उत्पत्तौ वा अन्योन्याश्रयः! इति. अपरिच्छिन्नज्ञानानन्दानवभासो हि निर्विशेषे ब्रह्मणि आवरणप्रयुक्तः उक्तः. तच्च आवरणं ब्रह्मणि 'आश्रयाश्रयिभाव-विषयविषयिभावा'ख्येन अनाद्यविद्यकसम्बन्धेन स्वीकृतम्. तत्र सम्बन्धस्य द्विनिष्ठत्वात् सम्बन्धिन्याः अविद्यायाः च पुनः तेनैव सम्बन्धेन ब्रह्मणि गृहीतस्वरूपत्वाद्, अन्यथा तुच्छत्वं तस्याः केन निवार्येत!, अतो अत्र हि अन्योन्याश्रयाभिधाने ज्ञप्त्युत्पत्त्योः अन्योन्याश्रदोषनिवारणम् अप्रसक्तानुचिन्तनमेव. तथैव विषयविषयिभावाख्यः सम्बन्धोऽपि दुर्निरूपएव आश्रयानिरूपणात्, पूर्वोक्तदोषानतिलंघनात् च.

किञ्च चितो अज्ञानविषयत्वं नाम किं [य] ''ब्रह्म न प्रकाशते'' इति सर्वजनानुभवसाक्षिकं ब्रह्मणो अज्ञानविषयत्वम्? इति, यद्वा [र] अविद्याकल्पित-निखिलघटपटादि-विषयाधिष्ठानभूते चैतन्ये ''घटम् अहं न जानामि'' इति प्रत्यक्षसिद्धम् अज्ञानविषयत्वम्? इति, उत [ल] ''सुखम् अस्वाप्सं न किञ्चिद् अदवेदिषम्'' इति सौषुप्तिकस्मृतिसिद्धाज्ञानविषयत्वं वा? इति, अथवा [व] ''अहम् अज्ञो माम् अन्यं च न जानामि'' इति जाग्रत्कालिकानुभवसिद्धाज्ञानविषयत्वं वा स्याद्? इति.

न [य] आद्यः कल्पो योग्यो, वेदान्ताध्ययनात् प्राग् बालादीनां वा

सुखादिवद् ''ब्रह्म न प्रकाशते'' इति अपरोक्षप्रत्ययाभावात् प्रत्यक्षादिप्रमाणानां च ब्रह्माननुभावकत्वेन सुतरां ब्रह्मविषयकाज्ञानसमर्पणेऽपि असमर्थतैव मन्तव्या. इतरप्रमाणज्ञाते ब्रह्मणि अज्ञानसाधनेतु ज्ञातत्वादेव न तावद् ब्रह्माज्ञानसिद्धिः. प्रमाणेन प्रमितोऽपि अर्थो अज्ञातः इतितु ''मम माता वन्ध्या''वद् विरुद्धमेव. केनचित् प्रमाणेन प्रमितत्वेऽपि इतरप्रमाणाप्रमितत्वेन अज्ञातत्वेतु मोक्षदशायामपि स्वप्रकाशनरूपसाक्षात्कारसत्त्वेऽपि, सिद्धसाधनत्वेन अनुमितेः उदयाभावाद्, अनुमितिप्रमाणाप्रमितत्वेन अज्ञानविषयत्वसिद्धौ अनिर्मोक्षप्रसंगः च. महावाक्यादिप्रमितन्तु सर्वथा भेदरहितम् असंकीर्णम् स्वरूपचैतन्यमेवेति न तत्र अज्ञानमपि प्रमातुं शक्येत. तत्र ''इदानीं ज्ञातम्'' इत्यपि न पूर्वकालिकम् अज्ञानं गमयेद्, यतः तथात्वेतु **''तत् त्वम् असि''** (छान्दो.उप.६।८।७) **''अहं ब्रह्म अस्मि''** (बृह.उप.१।४।१०) इत्यादिमहावाक्यानामपि न निखिलद्वैतबाधकशाब्दप्रमारूपत्वं स्यात् किन्तु श्रुतार्थापत्तावेव पर्यवसानं स्यात्. नच इष्टापत्तिः वाच्या, अर्थापत्तिरूपप्रमावृत्तेः निर्विकल्पकस्वप्रकाशने अनुवृत्तेः अवश्यमभ्युपेयत्वेन तत्र प्रमात्रबाधापत्तेः दुष्परिहत्वात्, पूर्वानधिगतोत्तराबाधिताज्ञाननिवृत्तेः प्रमापकत्वादेव. अतो महावाक्यार्थरूपं शाब्दप्रमाणमपि न अज्ञानसाधनाय अलम्. **''भूयश्च अन्ते विश्वमायानिवृत्तिः''** (श्वेता.उप.१।१०) इत्यादिरूपाणि वेदान्तवाक्यान्यपि अनधिगतविषयकत्वादेव अज्ञानज्ञापनाय न समर्थानि.

नापि (र) — अविद्याकल्पित-निखिलघटपटादि-विषयाधिष्ठानभूते चैतन्ये ''घटम् अहं न जानामि'' प्रात्यक्षिकम् अज्ञानविषयत्वम् — इति द्वितीयः पक्षोऽपि उचितः, तस्य शुद्धचैतन्यविषयकत्वे पूर्वोक्तान्येव दूषणानि.

नचापि (ल) ''सुखम् अस्वाप्सं न किञ्चिद् अवेदिषम्'' इति तृतीयः पक्षः, तस्य प्राज्ञविषयकत्वेतु अन्योन्याश्रयः. तथाहि सुषुप्तौ अज्ञानविषयत्वेन प्राज्ञसिद्धिः, तत्सिद्धेः च तद्विषयकम् अज्ञानम् इति. सुषुप्तौच अन्तःकरणरूपोपाधेः अभावादेव तदुपहितत्वेन साक्षिणोऽपि अभावाद् न तत्र अज्ञानस्य न साक्षिप्रत्ययवेद्यत्वमपि, अन्तःकरणविशिष्टस्य प्रमातुरपि

अभावाद् न प्रमाणवेद्यत्वमपि. *ननु प्राज्ञएव साक्षी इतिवादिनां मते कुतो न अज्ञानसिद्धिः? इति चेद् न, तस्यापि शुद्धत्वे पूर्वोक्तएव दोषः, सौषुप्तिकस्य आत्मनो अज्ञानस्मरणवत् सर्वाभेदस्मरणापत्तेः च शुद्धस्य सर्वाभिन्नत्वात्. नच *भेदकाज्ञानोपाधेः सत्त्वाद् न सर्वाभेदस्मरणम्* इति साम्प्रतं, भेदकोपाधिसत्त्वे शुद्धत्वाभावात्. *ननु इष्टापत्तिः* इति चेद् न, तद् अज्ञानं पुनः शुद्धचैतन्यविषयकं वा, प्राज्ञापरपर्यायसाक्षिविषयकं वा स्याद्? नाद्यः ''गाढं मूढो अहम् आसं, सुखम् अहम् अस्वाप्सं, न किञ्चिद् अवेदिषम्'' इति ज्ञाने ''नित्यानन्दज्ञानं न प्रतिभातम्'' इति प्रतीत्यभावात्. न अन्त्यः उपहितचैतन्यविषयकत्वे अज्ञानस्य शुद्धचैतन्यविषयकं ज्ञानं वा अज्ञानम् आस्थेयम्? न उभयथापि सम्भवति, सुषुप्त्युच्छेदापत्तेः व्याघातप्रसंगात् च. नच अज्ञानद्वयकल्पनयापि निर्वाहः, तथा स्मरणाभावात् प्रतीत्यभावात् च. एतेन शुद्धचैतन्यविषयकन्तु अज्ञानं स्मृतौ अतथा अवभातम् इत्यपि निरस्तम्.

ननु मास्तु सुषुप्त्योच्छेदो अज्ञानन्तु शुद्धस्यैव भवतु, यतो वृत्त्यारूढस्यैव तस्य निखिलदोषनिवर्तकत्वाभ्युपगमाद् इति चेद् न, सौषुप्तिकाज्ञानसहितं ज्ञानं शुद्धचैतन्यरूपं चेत् कृतं तदा मोक्षेण, शुद्धचितो अपरिच्छिन्नज्ञानानन्दस्वरूपत्वात्. *ननु अज्ञानोपहितस्य असंगोदासीनस्वरूपस्य स्वप्रकाशस्य साक्षिणः परिच्छेदाद् नैष दोषः* इति चेद् न, अज्ञानोपहितत्वमेव अशुद्धत्वम् अन्यस्य अनिरूपणीयत्वात्.

किञ्च शुद्धचैतन्यं तावद् असंगोदासीनं स्वप्रकाशस्वरूपम् अज्ञानं च चित्संसर्गप्रकाश्यम् इति सुषुप्तौ जागरणे च ज्ञानाज्ञानयोः उभयोरपि सत्त्वात् किमिति ''ज्ञानमेव न ज्ञायते'' इति सामान्येन ज्ञानाज्ञाने भासेते? कुतोहि ''ज्ञानविरोधि तत्प्रकाश्यं भावरूपम् अज्ञानम्'' इति वदतां वादिनां मते ज्ञानाज्ञाने उभेअपि साक्षिगोचरे न भवतः? यदितु *तत्र मतभेदेन प्राज्ञावस्थोपगमाद् न साक्षिचैतन्यगोचरे ते ज्ञानाज्ञाने, यद्वा उभयोः ऐक्याभ्युपगमेतु तत् सम्भवत्येव* इति उच्येत, तदा सुषुप्तावपि अज्ञाततयेव ज्ञाततयापि

सर्वविषयाणाम् अवभासनप्रसक्तेः सुषुप्तिभंगप्रसंगः.

एतेन अन्येऽपि पक्षाः : शुद्धमेव अन्तःकरणगतचित्प्रतिबिम्बात्मकसर्व-जीवाधिष्ठानत्वेन प्राप्तभेदं, देहद्वयावच्छिन्नं चिदाभासविशिष्टाहंकाररूपजीवं जीवभ्रमाधिष्ठानादिरूपं साक्षिस्वरूपं प्रतिपादयन्तः, सुषुप्तौ उपाध्यभावादेव साक्षिप्रत्ययवेद्यत्वम् अज्ञानस्य सिसाधयिषवः तत्र अज्ञानप्रतीतिम् असाधयन्तः पक्षाः व्याख्याताः वेदितव्याः.

अथ [व] जाग्रत्कालीनेहि ''अहम् अज्ञो माम् अन्यं न जानामि''-''घटम् अहं न जानामि'' इति चतुर्थपक्षोक्तानुभवे विषयावरकाज्ञानं प्रतिपिपादयिषतम्. तत्र विषयद्वैतं ब्रह्मणि अज्ञानावरणहेतुकं, अनावृते चिति द्वैतप्रतीत्यभावाद् इति तदभिमतप्रकारः. अत्र आवरणाभिभवार्थवादिनस्तु चिदध्यस्तविषयस्य सर्वदा प्रतीतिप्रसञ्जनपरिहाराय विषयावच्छिन्नायां चिति अज्ञानावरणं कल्पयन्ति. तस्यतु न साक्षिवेद्यत्वं सम्भवति, विच्छिन्नदेशस्थत्वाद्. अन्यथा अशेषाणां प्रमातॄणाम् अशेषज्ञत्वप्रसंगः.

तस्माद् विषयावच्छिन्नचिन्निष्ठावरणतदभिभावके हि विषयावच्छिन्नचि-द्ग्राहिणा प्रमाणेनैव ग्रहीतव्ये चेत्, तर्हि अपसिद्धान्तः. न इति चेत् किं नाम इदम् आवरणं? किं प्रमाणकम्? इति निरूपणीयम्.

तथाहि अद्वैतिनां मते अज्ञानावृते ब्रह्मणि जगदध्यासाद् यद् मूलावरणं तदेव विषयावच्छिन्नचिन्निष्ठावरणम् आहोस्विद् अन्यदेव? प्रथमेतु प्रमाणज्ञानेन आवरणनिवृत्तौ सद्योमुक्तिप्रसंगः. अन्यदेव तदंशभूतम् अज्ञानावरणं चेत्, तन्निवृत्तावपि मूलाज्ञानकृतस्य आवरणस्य सद्भावाद् विषयस्य चित्संसर्गएव न स्यात्.

किञ्च मूलाज्ञानस्य समष्टिरूपत्वात् तेन आवरणांगीकारे अंशिनैव आवरणकल्पना युक्ता नच अंशेन. अस्तु कथञ्चिज्ज्ञानकालं यावद्

निवृत्ताज्ञानान्याज्ञानानां भीतभटवद् अपसरणम् इति पक्षम् आश्रित्य उपपत्तिः. वस्तुतस्तु मूलाज्ञानस्य न कथमपि अपसरणं सम्भवति, नापि ब्रह्मोपाधिरूपमूलाज्ञानस्य विषयावच्छिन्नचितः आवरकत्वम्. न खलु अज्ञानावरणं नाम तदुपधानाद् अन्यत् किञ्चिद्.

अथ परिच्छिन्नविषयावच्छिन्नचैतन्यस्यापि समष्टिभूतव्यापकाज्ञानम् उपाधिः चेद्, विषयावच्छिन्नचैतन्यमपि तेनैव रूपेण अनवच्छिन्नं व्यापकं च स्यात्, तदुपाधेः समष्टिरूपत्वादिति विषयावच्छिन्नचैतन्यस्य आवरणमेव यदा न सम्भवति किमु वाच्यं तदा तदपसरणे! तथापि कृत्वाचिन्तय किञ्चिद् उच्यते.

तथाहि ''देवदत्तो अहम् अज्ञो स्वात्मना अभिन्नं ब्रह्म वा, भिन्नं वा ब्रह्मदत्तं, गवयं वा ब्रह्मत्वेन ब्रह्मदत्तत्वेन गवयत्वेन वा न जानामि'' इत्येवं हि अनुभवति अननुभवति वा देवदत्ते सति तदीयव्यवहारलिंगेन ''ब्रह्मादिविषयकाज्ञानवान् देवदत्तः'' इति यज्ञदत्तेनतु अनुमातुं शक्यमेव. अतोहि एवम्भूते उदाहरणेऽपि देवदत्तवर्ति अज्ञानन्तु अवश्यमेव स्वीकार्यं, यतः स्वतः कदाचित् तादृशानुभवाभावेऽपि ब्रह्मादिविषयकज्ञानवता यज्ञदत्तेनतु अनुमातुं शक्यत्वाद्, ज्ञानस्य अभावस्तु अद्वैतिभिः अनंगीकृतत्वात् च. नच *लेशतो ज्ञाते विशेषतः च अज्ञातेतु भावरूपाज्ञानस्वीकारेऽपि सर्वथैव अप्रकाशितेतु ज्ञानाभावएव अस्तु* इति साम्प्रतं, यतोहि ज्ञानाभावस्य सत्त्वे द्वैतापत्तिः, असत्त्वे अज्ञानस्य अभावरूपतापत्तिः, मिथ्यात्वेतु अविद्याकार्यत्वेन परिणाम्युपादानाद् अभेदहेतुनैव भावरूपाज्ञानाद् न भेदेन ज्ञानाभावसिद्धिः. सतिच एवं प्रतीत्यभावे का वा उपपत्तिः अद्वैतवादिभिः दीयेत? असञ्जातपरिचयादेव न ज्ञानं वक्तुं शक्यम्, अज्ञानन्तु विषयनिष्ठं चेद्, विच्छिन्नदेशस्थत्वेन विषयवदेव अज्ञातसत्ताकं स्यात्. तथात्वेतु ''विमतम् अज्ञानं प्रमाणग्राह्यम् अज्ञातसत्ताकत्वे सति भावत्वाद् घटवद्'' इति प्रमाणनिवर्त्यस्य अज्ञानस्य विषमा प्रमाणवेद्यत्वापत्तिरपि!.

तच्च अज्ञानं खलु आत्मनिष्ठं चेत्, साक्षिभास्यं सत् प्रतीयादेव.

प्रमाणाभास्यत्वेतु तत्साधकप्रमाणव्याहतिः सुस्थिरैव.

नच *विषयावच्छिन्नचिद्विषयिण्या प्रमाणवृत्त्या भास्यन्तु तदवच्छिन्नचिदधिष्ठानकं विषयमेव, न पुनः तद्विषयावरकम् अज्ञानमपि, तन्निवर्त्यत्वादेव. तस्माद् देवदत्तावच्छिन्नचिद्विषयिण्या प्रमाणवृत्त्या देवदत्तावच्छिन्नचिदधिष्ठानकस्य देवदत्तस्यैव भानं नतु देवदत्तनिष्ठस्वपरविषयकानाम् अज्ञानानामपि. तेषां यज्ञदत्तनिष्ठप्रमाणवृत्त्या भास्यत्वेऽपि न स्वयं देवदत्ते तथाभूताज्ञानानां भाननियतिः* इति साधु, यदा यज्ञदत्तेन देवदत्तं प्रति परार्थानुमानप्रयोगः क्रियते तदा स देवदत्तोऽपि स्वस्मिन् ब्रह्मादिविषयकम् अज्ञानम् अनुभवति, अनुभवति च ''एतावत्कालपर्यन्तं हि मम ब्रह्मादिरूपं विषयम् अज्ञातं ब्रह्मादिविषयकं मदीयम् अज्ञानमपि मम अभातमेव आसीद्'' इति स्पष्टम् अज्ञानस्यापि साक्ष्यभास्यत्वं प्रमाणभास्यत्वं चेति व्याघातः. अज्ञानसाधकानुमानादिकम् आकरेष्वपि बहुधा उपलब्धमेवेति कुतो न अज्ञानस्य प्रमाणभास्यत्वम्?

परोक्षप्रमाणेन अज्ञानसाधने हि अज्ञानविषयकम् असत्त्वापादकावरणं निवर्तते उत अभानापादाकावरणम्? उभयथापि ज्ञेयाज्ञानावरकाज्ञानयोःहि ऐक्येतु विषयानवभासो अनैक्ये अन्योन्याश्रयानवस्थादिदोषाः.

तच्च आवरणात्मकं हि अज्ञानं पुनः अज्ञातसत्ताकत्वेन अभ्युपगम्यते चेत् तत्रापि आवरणान्तरेण भवितव्यं तच्चापि ज्ञातं वा अज्ञातं वा? ज्ञातं चेद्, अज्ञातत्वधर्मविशिष्टं प्रथमाज्ञानमपि ''एतावत्कालपर्यन्तं मया मदज्ञानं न ज्ञातमेव'' इति प्रतीयादेव. अज्ञातं चेत् तत्रापि आवरणान्तरम् इति अनवस्थादौस्थ्यमपि सुस्थमेव.

सर्वथाच इमौ स्मृत्यनुभवौ सर्वत्र (अ) ज्ञातसत्ताकौ साक्षिप्रत्ययवेद्यौ (आ) अज्ञातसत्ताकौ प्रमाणवेद्यौ वा स्याताम्? प्रमाणमपि (आ/१) आत्मविषयकम् (आ-२) अनात्मविषयकं वा? आत्मविषयकमपि प्रमाणं शुद्धचैतन्यविषयकं (आ/१/क) महावाक्यादिरूपं शाब्दम् अथवा (आ/१/ख) ''**भूयश्च अन्ते विश्वमाया-**

निवृत्तिः'' (यथापूर्वोक्तम्) इत्यादिवाक्यरूपं वा? (आ/२) अनात्मविषयकत्वेऽपि (आ/२/क) 'अनात्म'पदेन घटपदादेः ग्रहणम् अथवा (आ/२/ख) घटादिविषयावच्छिन्नचैतन्यस्य वा अभिप्रेतम्?

प्रकारान्तरेणापि किञ्चिद् उच्यते : तथाहि मूलाज्ञानेन आवरणम् इति किम् अंशिरूपेण वा अंशरूपेण वा? तदन्यतरस्यापि च अशेषावरणनिवृत्तिः उत अभिभूततया भीतभटवद् अपसरणमेव वा?

तत्र अंशिनोहि आवरणस्य अशेषनिवृत्तिः इति आद्याद्यपक्षे सद्योमुक्तिप्रसक्तिः. अथ अंशिनः आवरणस्य अभिभवेन भीतभटवद् अपसरणरूपे आद्यद्वितीयपक्षे विषयविक्षेपस्य आवरणप्रयुक्तत्वे विषयस्यापि तस्मात् स्थानाद् अपसरणं दुर्वारम्. विक्षेपांशं तत्रैव परित्यज्य अन्यत्र देशे अपसरणेतु अनवधानप्रयुक्तानवगतविषयाणामपि भानं प्रसज्येत. अंशभूतस्य आवरणस्य अशेषनिवृत्तिरूपे द्वितीयाद्यपक्षेतु किं विषयदेशे अशेषावरणनिवृत्तौ सर्वेषामपि कृते विषयापारोक्ष्यापत्तिः. आश्रयदेशे अशेषावरणनिवृत्तौ तु विषयदेशासंनिधानाद् विस्मरणाद् वा जायमानस्य पुनः अज्ञानस्य अनुपपत्तिः. अंशरूपावरणस्य अपसरणरूपे द्वितीयद्वितीयपक्षेऽपि विषयदेशाद् अपसरणे पूर्वोक्तैव अनवहितमनसामपि तदापारोक्ष्यापत्तिः. आश्रयदेशाद् अपसरणेऽपि पूर्वोक्ते विषयदेशासंनिधिप्रयुक्तं वा विस्मरणप्रयुक्तं वा जायमानं पुनः अज्ञानम् अनुपपद्येत.

किञ्च उभयोः पक्षयोः अज्ञानस्य आवरणमात्रांशम् आदाय एवं विमर्शः कृतः. अथ विक्षेपांशस्यापि आवरणप्रयुक्तत्वेन आवरणनिवृत्त्यपसरणयोः कयोश्चिदपि कल्पयोः समानन्यायेन अविद्यानिवृत्तावपि द्वैतानिवृत्तिः आपद्येत. नच *प्रारब्धकर्मन्यायेन तस्य स्वतएव निवृत्तिः अंगीकार्या* इति वाच्यं, जायामानापि अज्ञाननिवृत्तिः निवृत्तिप्रतियोगिनो मिथ्यात्वेन अज्ञानकल्पिततया पुनः किञ्चिद् अज्ञानम् अपेक्षतइति घट्टकुट्यां प्रभातः!

किञ्च विक्षेपप्रयुक्तम् आवरणम् उत आवरणप्रयुक्तो विक्षेपः? आद्ये

विक्षेपानिवृत्तौ आवरणानिवृत्त्यापत्तिः. अन्त्ये आवरणप्रयुक्तत्वेन विक्षेपस्य आवरणनिवृत्तौ केनापि हेतुना अनुवृत्तिः अशक्यैव. शक्यत्वेतु आवरणप्रयुक्तत्वानुपपत्तिः. अथ उभयोः इतरेतरप्रयुक्तत्वेतु उभयांशनिवृत्त्यभावे अविद्यानिवृत्त्यनुपपत्तिः. अथ *खले कपोतन्यायेन इतरेतरप्रयुक्तौ एतौ अविद्यांशौ अनादिसिद्धौ* इति चेत्, तदापि मार्जारीदर्शनेन खलात् कपोतोत्प्लवनन्यायेन उभयोरपि अविद्यांशयोः सहैव सहसा अपगमो वाच्यो नतु अधिष्ठानज्ञानेन आवरणनिवृत्त्यन्तरं विक्षेपनिवृत्तिः इति.

किञ्च साक्षिभास्यस्य अज्ञानस्य सत्त्वे प्रस्तावितं प्रमाणं अनधिगताबाधितार्थविषयकतया प्रामाण्यम् अश्नुते चेत् पुनः अज्ञानापेक्षा. ततश्च अज्ञानावरणाय अपेक्षितं तद् अज्ञानरूपावरणं पुनः स्वेनैव वा अज्ञानान्तरेण वा? तदपि 'तत्तद्देशकालविशिष्टघटादिरूप-तत्तद्विषयमात्रविषयकम्' इति विशेषणेन विशिष्टम् अनेकम्? आहोस्वित् सामान्येन सर्ववस्तुजातविषयकम् एकमेव? तत्र नाद्यः, यस्माद् विषयदेशं परित्यज्य अन्यत्र अपगतं निवृत्तं वा तत्रस्थविषयम् आवृणाति न वा? तत्र आवृणाति चेत् तदा घटज्ञानसमये साक्षिणा ज्ञानवृत्त्या सकलघट-घटेतरसकलवस्तुनोरपि अवभासः किं न स्यात्? अथापि स्याद् *यथा व्यापकमपि गोत्वं गोव्यक्तिं परित्यज्य अश्वे न प्रतीयते तथा तद्घटाद् अन्यत्र स्थितमपि सकलघटाज्ञानावरणं सकलघट-घटेतरसकलवस्त्वसंसृष्टत्वाद् न स्वीयवृत्त्या साक्षिणे तद्घटेतरं निवेदयेत्, तद्घटेतरविषयिकाः स्वकीयाः वृत्तीः विना* इति, तद् असाधु, घटाज्ञानस्य स्वविषयावरणं तावत् स्वभावः. तत्र अज्ञानविषयीभूते घटे तत्तद्देशकालस्वरूपभेदस्य अनवभासनाद् तदज्ञानेऽपि तथाविधभेदस्य भानं न अभ्युपगन्तुं शक्यम्. अथ अज्ञानविशेषस्य भानं यदि अज्ञानावरणं विनापि सम्भवेत् तदा घटस्यापि भाने अज्ञानावरकांशकल्पना वृथैव. तत्रापि *स्वावृतविषयदेशस्थमेव सद् तद् आवृणाति नच अतद्देशस्थं सद्* इति चेत्, तदसम्भवि आत्माश्रयाद् अन्योन्याश्रयात् च. तथाहि ''विषयदेशस्थं सद् आवृणाति नच अन्यथा'' इति यद् उक्तं तत्र विषयदेशेस्थितिरपि तावद् न विषयावरणम् अन्तरेण सम्भवति, अन्यथा

ज्ञानापसरणकल्पनावैयर्थ्यं केन निवार्येत. न द्वितीयः, घटज्ञानेन सर्ववस्तुविषयकाज्ञाननिवृत्तौ इन्द्रियादिसन्निकर्षाभावेन अपरोक्षप्रत्ययानुत्पत्तावपि परोक्षप्रत्ययापत्तिस्तु अपरिहार्येव. वक्ष्यते च उपरिष्टाद् आश्रयदेशस्थाज्ञाननिवृत्तावपि विषयदेशस्थाज्ञानकृतावरणसद्भावाद् अपरोक्षप्रत्ययानुत्पत्तिः. अंशरूपेण आवरणम् इत्येतस्यतु पश्चाद् आवरणांशेन विक्षेपांशेन वा इति विकल्पनाकल्पेषु अकल्पनीयत्वेन विरमामएव विस्तरात्.

ननु ''त्वदुक्तम् अर्थं न जानामि'' इति अनुभवसिद्धमेव आवरणात्मकम् अज्ञानम् इति सिद्धस्य कथं नु अपलापः? तथाहि ''न जानामि'' इत्यस्य अर्थज्ञानाभावेतु ''न जानामि'' इत्यपि न स्याद् आवरणपक्षांगीकारेतु अर्थः आवृत इत्येव भवति. तच्च आवरणं साक्षिभास्यम्. अतएव अर्थस्य सर्वथा आवृतत्वे ''अर्थं न जानामि'' इत्यपि न स्याद् इति न शंकनीयम्; अज्ञातत्वधर्मविशिष्टस्य तस्य साक्षिणा भास्यत्वम् इति अंगीकाराद् इति चेद्—

न, ''त्वदुक्तम् अर्थं न जानामि'' इत्यादौ अज्ञानस्य यद् आवरणं तत् किम् अर्थावच्छिन्नचिन्निष्ठम् उत अन्तःकरणोपहितचिन्निष्ठं वा? नाद्यः विषयावच्छिन्नचिन्निष्ठावरणस्य साक्षिणा भासासम्भवाद्, नहि साक्षिचैतन्यस्य अपरिच्छिन्नत्वम् अंगीक्रियते, येन विषयावच्छिन्नचितो अस्याः अभेदः स्वाभाविकः स्यात्, परिच्छिन्नान्तःकरणोपहितत्वात्. नच *चैतन्यांशेन अभेदस्यापि सत्त्वाद् न अनुपपत्तिः* इति समीचीनं, तथा सति विषयावच्छिन्नचिदावरणम् अनावृतसाक्षिणोऽपि अंगीकृतं स्यात्. नच इष्टापत्तिः, साक्षिणः आवरणांगीकारे तस्य ''ज्ञातसत्ताकसुखदुःखाहंकारादेः नित्यावभासम् अनावृतं चैतन्यं साक्षि'' इति स्वरूपं हीयेत. नहि अनावृतेनापि तेन आवरणावभासः सम्भवदुक्तिकः, प्रमातृप्रमेयादिचैतन्यस्यापि चैतन्यस्वरूपतया अविशेषेण अनावृतत्वसम्भवात्. *ननु तत्तदुपाध्युपहितमेव तेषाम् आवृतत्वे गमकम्* इति चेत्, साधु ब्रवीषि, तत्तदुपाध्यवभासकत्वमेव चैतन्यस्य उपहितत्वं नाम इत्येतस्य असकृद् आवेदनीयत्वात्. तथाच अन्तःकरणोपहितस्यैव

साक्षित्वम् इति पक्षेतु विच्छिन्नदेशस्थत्वादेव न अवभासयेत. अन्यत्रापि च सुखदुःखादिसांकर्यपरिहाराय अवश्यमेव उपाधिकृतपरिच्छेदो अभ्युपेयइति अयमेव बाधकः.

अथापि स्याद् *विषयावरकं हि अज्ञानम् अन्तःकरणोपहिते साक्षिण्येव अनादिवासनावशाद् ज्ञातसत्ताकान् अन्तःकरणधर्मान् विहायैव शिष्टान् विषयान् आवृणाति इति न दोषः कोऽपि* इति तदेतद् असमीक्षिताभिधानम्. तथाहि अन्तःकरणोपहितचैतन्यनिष्ठम् अज्ञानं किं समष्टिरूपं व्यापकम् उत व्यष्टिभूतम्? आद्येऽपि किं विषयावच्छिन्नचिन्निष्ठाज्ञानाद् भिन्नं न वा? अभेदेपि ते उभे निखिलप्रपञ्चोपादानभूतमूलाज्ञानाद् भिद्येते न वा?

न तावद् अन्तःकरणोपहितचैतन्यनिष्ठं समष्टिरूपं व्यापकम् अज्ञानं विषयावच्छिन्नचैतन्यनिष्ठाज्ञानाद् भिन्नम् इति प्रथमाद्यपक्षः, अन्तःकरणोपहिते परिच्छिन्ने साक्षिणि समष्टिभूताज्ञानस्य आश्रितत्वासम्भवाद्, अन्यथा समष्टिभूताज्ञानावृतस्य अशेषस्य वस्तुनो अवभासकं परिच्छिन्नं साक्षि स्याद् ईश्वरवत्. नहि कस्यचिद् वस्तुनो विषये परोक्षापरोक्षान्यतरज्ञानं विना ''तदज्ञानवान् अहम्'' इति प्रत्ययो अनुभूयते. तस्माद् अज्ञातेऽपि वस्तुनि, सामान्यतो ज्ञातएव विशेषतः च पुनः अज्ञाते तद्वस्तुविषयिणी अज्ञानवृत्तिः उदेति. न तस्मात् तत्तत्साक्षिचैतन्यस्य अज्ञानवृत्त्यापि ईश्वरवत् सर्वावभासकता वक्तुं युक्ता. किञ्च तत् समष्टिरूपम् अज्ञानं सर्वकालीनं सर्ववस्तुविषयकम् एकम्? तत्तकालीन-तत्तद्वस्तुविषयकम् अनेकम्? नाद्यम् एतादृशाज्ञानाद् अज्ञीभूतस्य चितः सार्वज्ञ्यापादनेन दत्तोत्तरत्वात्. न द्वितीयं सामान्यघटाज्ञानस्य तद्घटविषयकत्वाननुसन्धानासम्भवाद् न तद्घटज्ञानेन सामान्यघटाज्ञाननिवृत्तिः सम्भवति. अन्यथा तदज्ञाननिवृत्तौ युगपत्सर्वम् अवभासेदिति न प्रथमविकल्पोक्तदोषाद् अतिरिच्यते. न तृतीयं परिच्छिन्ने घटरूपे वस्तुनि समष्टिभूतव्यापकाज्ञानविषयत्वस्य प्रयोजनाभावात् परिच्छिन्नविषयकेन ज्ञानेन निवृत्त्यसम्भवात् च. किञ्च अस्य अन्तःकरणोपहितचिन्निष्ठाज्ञानस्य विषयावच्छिन्नचिन्निष्ठाज्ञानतो भेदे प्रमाणवृत्त्या किम् एकतरस्य कस्यचिद्

निवृत्तिः उत उभयोः? नाद्यम् एकतराज्ञाननिवृत्तावपि अन्यतरेण अज्ञानेन कृतस्य आवरणस्य सद्भावसम्भवाद् घटादिकं, हन्त!, प्रतीयेत नैव वा प्रतीयेत! नच अन्त्यं प्रमाणवृत्तिः हि इन्द्रियादिद्वारा बहिर्निर्गत्य विषयदेशं व्याप्नुवती विषयदेशस्थमेव अज्ञानं निवर्तयेत न पुनः अन्तःकरणोपहितसाक्षिचि-न्निष्ठम्. अथापि स्याद् वृत्यवच्छेदेन साक्षिचितोरपि अपकर्षन्ती तत्स्थमपि अज्ञानं हन्येत इति. ननु भो कथन्नु हन्येत? यावता ततः पूर्वमेव तज्जिघांसिताज्ञानकल्पनामात्रं विकल्पत्रयेण साक्षिणि न हतं चेत्?

तत्र अभिप्रेतः खण्डनप्रकारस्तु यदि अन्तःकरणोपहितसाक्षिचिन्निष्ठसम-ष्टिभूताज्ञानं जगदुपादानभूतं चेद् निवर्त्येत; घटज्ञानेनैव विश्वनाशप्रसंगः. अथ अंशकल्पनया व्यष्टिभूतमपि अन्तःकरणस्य उपादानं चेत् प्रमातृनाशप्रसंगः. अथ विषयोपादानं चेद् विषयएव नश्येत, अथ अन्तःकरणोपादानभूतस्यापि विषयावरकांशमेव इति चेद्, विषयोपादानभूताज्ञानकृतावरणानाशाद् विषयो नैव प्रकाशेत, एतेन विषयोपादानाभूतान्तःकरणेन उपहितचिदावरकांशाज्ञाननिवृ-त्तिरपि अपास्तेति अन्ततो गत्वा विषयान्तःकरणयोः विक्षेपांशेन यद् उपादानभूतम् अज्ञानं तस्यैव आवरणात्मकांशेन विषयान्तःकरणावच्छिन्नचैतन्यविषयकौ यदावरणांशौ तयोरेव निवृत्तिरिति वक्तव्यम्. तत्तु अन्तःकरणोपहितासंगोदासीन-स्वप्रकाशचैतन्यसाक्षिणः आवृतत्वाभावेन अन्तःकरणोपहितत्वानुपपत्त्या उक्तं; वक्ष्यते च विषयावच्छिन्नस्य चैतन्यस्य आवरणासम्भवो अग्रे. एतेन अन्तःकरणविषयोपहितचिन्निष्ठाज्ञानाभेदपक्षोऽपि व्याख्यातः.

यत्तु अभिन्नयोः अनयोः निखिलद्वैतोपादानभूतमूलाज्ञानेन भेदाभेदे विकल्पः, तत्र भेदे अपसिद्धान्तापत्तिः समष्टिभूतस्य एकत्वाभ्युपगमाद्, अभेदेतु समष्टिभूतस्य घटादिजगदुपादानभूतस्यैव अज्ञानस्य घटाद्यावरकत्वे ब्रह्मज्ञानात् पूर्वं निवृत्यसम्भवात् कदापि घटादेः प्रकाशो न स्यात्. *ननु तस्यापि अंशेन विगमे घटादिकं कुतो न प्रतीयेत?* इति चेद् न इति ब्रूमो, यतोहि समष्टिभूताज्ञानेन आवृतस्य अंशेन विगमः इति किम्? अंशेन आवृत्तः चेद् अंशो निवर्त्यताम्. समष्टिनातु आवृते समष्टिरेव निवर्तनीया,

अन्यथा प्रकाशासम्भवात्.

ननु सवित्रावरकस्य समस्तस्यापि मेघस्य अंशेन निवृत्तौ तत्प्रकाशस्यैव दृष्टचरत्वात् कथम् एवम्? इति चेद्, एवमेव अंगीकर्तव्यम्. तथाहि समष्टिभूताज्ञानेन किं सामान्येन समस्तस्य आवरणम् आहोस्वित् प्रत्येकं व्यस्तस्य? न आद्यः सामान्येन समस्तस्य तस्य एकस्य आवरकत्वे व्यस्तस्य प्रत्येकं घटादिरूपस्य तदंशभूतेन व्यष्ट्यज्ञानरूपेणैव आवरणं स्याद्, मूलाज्ञानस्य निरंशत्वाभावात्. तथाच व्याघातः. द्वितीयेतु अंशज्ञानानाम् इयं समष्टिः किम् अनेकैः संहता एका अनेका वा? यदि एका इति चेत् तदा पटविषयकाज्ञाने अज्ञाततया घटोऽपि अवभासेत. अथ अनेकत्वपक्षेतु कथं तस्य समष्टित्वं? किं [१]घटादिप्रत्येकविषयसम्बद्ध-समस्तकालादिसम्बद्ध-तत्तदज्ञान-समूहएव समष्टिः [२]उत वस्तुमात्रविषयकाज्ञानसमूहो? न आद्यो यस्मात् प्रमाणवृत्त्या हि समष्टिः निवर्त्येत उत तदंशभूता व्यष्टिः? न आद्यो भविष्यत्कालविशिष्टस्यापि घटस्य अपरोक्षावभासः स्याद्, वर्तमानविषयकप्रमाणवृत्त्यैव तस्य निवारितत्वात्.

एवंहि निवृत्तौ सर्वदावभासो अपसरणेतु पूर्वविच्छेदेन घटापरोक्षावभासः पृष्ठावच्छेदेन तु न इति कथम् उपपद्येत? यदिच घटावरकाज्ञानं घटपृष्ठभागएव अपसृतम् इति उच्येत तदा तत्रापि प्रमाणवृत्त्या प्राप्ताभेदेन घटान्तःकरणावच्छिन्न-चैतन्येन कुतो न तद् निःसार्येत? यदितु *पूर्वभागावच्छिन्नैव चित् प्रमाणवृत्त्यवच्छिन्नचिदभिन्ना* इति चेत्, तदातु घटगतरूपाद्यनेकधर्म-प्रत्येकपरमाण्वावच्छिन्नचैतन्यस्यापि उपाधिभेदाद् भेदे तद्विषयकप्रमाणवृत्त्यभावेन चैतन्यस्य अनभिव्यक्तत्वात् पूर्वभागेऽपि अनेकविषयकम् आवरणं चेद् घटमपि आव्रीयेतएव एकदेशस्थत्वात् तस्य.

अथ एकदेशस्थत्वं न आवरणे प्रयोजनं किन्तु ''तद्देशस्थत्वे सति तद्विषयकत्वम्'' इति तद् अचारु, ''घटम् अहं पश्ये'' इति सामान्यतो ''घटविषयकं तद्देशस्थम् अज्ञानं निवृत्तम्'' इत्येतस्य अवश्यं वाच्यत्वात्

तत्र सर्वथैव अज्ञाननिवृत्तावपि ''घटस्य पृष्ठभागे किम् अस्ति इति न जाने चक्षुषा असंयुक्तत्वाद्'' इति व्यवहारः किं हेतुकः कल्प्येत? वृत्तिव्याप्यविषयसमानदेशस्थत्वम् आवरणे प्रयोजनम् इतितु अंशतः आत्माश्रयणाद् न साधु, अज्ञानविषयत्वस्य वा आवरणत्वाद् इति. न तावद् अहेतुको व्याघाताद् अन्यत्रापि तथाप्रसंगात् च.

एवं वस्तुविचारे क्रियमाणे ''**समष्ट्यज्ञानावरणम् अंशेन च तस्य विगमः**'' इति शंका अनवसरपराहतैव, तथापि अन्तःकरणोपहितसाक्षिचैतन्यनिष्ठम् अज्ञानं समष्टिभूतं व्यष्टिभूतं वा इत्यत्र विकल्पितो द्वितीयो कल्पो स्वतएव खण्डितो भविष्यति इति मत्वा पुनः किञ्चिद् उच्यते तथाहि: अंशतो निवृत्तिरिति किं यदंशेन चैतन्यं घटाधिष्ठानं तदंशावरकाज्ञानांशस्य निवृत्तिः? उत यदज्ञानावरकांशेन घटोपादानभूतायाम् आवृतायाम् चिति घटकल्पना तदंशस्य?

न अन्त्यः तदपगमे घटकल्पनापि अपगच्छेत. नच *आवरणांशविगमेऽपि विक्षेपांशानुवृत्त्या कल्पितो घटः प्रतीयेतएव* इति शक्यं वक्तुं हेत्वभावात्. तथाहि जीवन्मुक्तौ आरब्धकर्मफलोपभोगन्यायेन विक्षेपानुवृत्तिः मुक्तस्य प्राक्कृतभोक्त्रभिमानहेतुका; घटेतु अन्तःकरणाभावादेव न कर्मसंगिता अतो न उपादाननिवृत्तावपि विक्षेपानुवृत्तिः युक्तिसिद्धा. *ननु प्रमात्रदृष्टप्रयुक्तैव विषयविक्षेपानुवृत्तिः आवरणनिवृत्तावपि* इति चेत् तद् अचारु, यतोहि प्रमाणवृत्तिनिवृत्तौ दुःखसुखाकारि-हानोपादानव्यवहाराविषयीभूतोदासीनस्य घटादेः वस्तुनः प्रकाशएव न स्यात् सुखादिप्रदादृष्टस्य तत्र हेतुतासम्भवाद्, अन्यथा शुक्तिगोचरप्रमाणवृत्त्यापि ज्ञातायां शुक्तौ रजतविक्षेपः केन निवार्येत? नच *निखिलद्वैतनिवर्तकाखण्डब्रह्माकारायाः वृत्तेः अभावाद् आवरणनिवृत्तावपि न विक्षेपनिवृत्तिः* इति शंक्यं, ब्रह्माकाराहि वृत्तिरपि आवरणनिवर्तनेनैव विदेहमुक्तौ प्रयोजकताम् आवहति. जीवन्मुक्तौतु ब्रह्माकारवृत्तिसद्भावेऽपि देहादिविक्षेपानुवृत्तेः स्वीकृतत्वात्.

न प्रथमः तथाहि : यदंशेन चैतन्यं घटाद्यधिष्ठानं तदंशावरणकाज्ञानांश-

निवृत्तिः इति वदन् प्रष्टव्योसि ? किं अज्ञानावृतायां चिति घटादिविक्षेपसद्भावेऽपि, आन्तरालिकेन तेन कृतेन व्यवधानात् चित्संसर्गाभावः तेन च हेतुना विषयावच्छिन्नचैतन्येन घटादेः अप्रकाशः च ? इति. अथवा घटविक्षेपाधिष्ठाने घटविशिष्टे चैतन्ये आवरणहेतुको अप्रकाशः प्रमातृचितो विषयेण सम्बन्धाभावाद् ? इति. न तावद् आद्यः आवरणसद्भावेऽपि विषयप्रकाशोपपत्तेः तथाहि : वृत्तितादात्म्यापन्नचैतन्यस्य विषयेण विषयदेशे तद्व्याप्नुवत्या प्रमाणवृत्त्या अभेदे जाते तत्सम्भवात् तत्कृतप्रकाशोपपत्तिः विषयप्रमातृचैतन्ययोः मध्ये आवरणाभावात्. यथाहि पटावृतस्थण्डिलवर्तिना घटेन सह चक्षुःसंयोगे स्थण्डिलाप्रत्यक्षेऽपि घटप्रत्यक्षस्तु जायतएव. नच *आवरणनिवृत्तौ विषयप्रमातृचैतन्याभेदस्य विषयापरोक्ष्ये प्रयोजनत्वेन स्वीकृतस्य अभावाद् न प्रकाशोपपत्तिः* इति वाच्यम्, आवरणकल्पनामात्रवैयर्थ्यापत्तेः. यतोहि तदुभयोरपि स्वस्वोपाधिपरिच्छेदेन विच्छिन्नदेशस्थयोः अभेदाभावेन निर्गतान्तःकरणवृत्या एकदेशस्थत्वसम्पादनेन अभेदाभिव्यक्त्या च अपरोक्ष्यतदभावयोः उभयोरपि विनैव आवरणस्य उपपन्नतरत्वात्.

किञ्च अन्तःकरणस्य प्रमाणवृत्यापि कथम् आवरणनिवृत्तिः ? *ननु विषयाकारग्रहणेन तदवच्छिन्नस्वावच्छिन्नचैतन्याभेदसम्पादनद्वारा* इति चेत्, कथम् आवरणसद्भावे उभयोः अभेदः ? स्वीकृतं हि भवतैव आवरणहेतुको मिथो भेदः प्रमेयप्रमाणप्रमातॄणाम्. अन्यथा एतेषाम् सर्वथा ऐक्येतु प्रमातृचैतन्यावरकाज्ञानस्यापि निवृत्त्यापत्त्या ब्रह्माज्ञानिनोऽपि घटादिवस्तुप्रमातुरेव जीवन्मुक्तिप्रसंगस्य दुर्वारत्वात्. तथाहि आवरणनिवृत्तिः अन्तःकरणवृत्तेः विषयाकारग्रहणेन प्रयुक्ता ? उत चैतन्याभेदेन वा ? न आद्या विषयावच्छिन्नचैतन्याभेदसम्पादनप्रक्रियायाः नैष्फल्यापातात्. तथाहि वृत्तेः विषयाकारग्रहणेन तत्तादात्म्यापन्नस्य चैतन्यस्य गृहीतघटाकारस्वावच्छेदकान्तःकरणवृत्तेः मात्रप्रकाशकत्वेनैव घटः प्रकाशते इति व्यवहारोपपत्तेः. न द्वितीया चैतन्याभेदः च भवता कथं सम्पादनीयः ? किं प्रमातृप्रमाणविषयोपाधीनाम् एकदेशस्थत्वेन उत तेषां समानाकारवत्त्वेन अथवा अभेदेन वा ? न तावद् आद्येन, तस्य तदेकदेशस्थत्वं तावत् चैतन्याभेदे प्रयोजकं मतं चेत् तद्

विषयापारोक्ष्यएवेति घटतद्गतनिखिलधर्माणाम् एकदेशस्थत्वं वर्तते न वा ? चेत् तर्हि तदुभयावच्छिन्नचैतन्ययोरपि ह्यभेदः स्यात्; तस्यापि सत्त्वे; कथं चाक्षुषप्रत्यक्षे घटावच्छिन्नम् अनावृतं तद्गतनिखिलधर्मावच्छिन्नं च न अनावृतम् ? अथ अनावृतत्वे कुतस्तरां न निखिलघटधर्माणां साक्षात्कारो न जायते ? इति सर्वावभासप्रसंगो दुर्वारः, आवरणानावरणकृतभेदासम्भवाद्. न द्वितीयेन यस्मात् समानाकारयोः तत्र वर्तमानावर्तमानयोः घटयोः वा तद्घटदेशएव पटावृतत्वेऽपि प्रथितनिजाकारस्य अपरघटस्यापि चैतन्याभेदात् सहैव प्रकाशो भवितव्यः. वृत्तिव्याप्ययोरेव तथात्वम् इति अभ्युपगमेतु पटावृतघटानुमानादावपि अपरोक्षावभासो दुर्वारः. नच *अनेनैव हेतुना समानदेशस्थाकारयोः उपाध्योरेव तदभेदे प्रयोजकत्वम्* इति साम्प्रतम्, एकमेव घटं चक्षुषा पश्यद्देवदत्तयज्ञदत्तीयान्तःकरणाच्छिन्नचैतन्ययोः पुरोवर्तिनि घटवद्देशे वृत्तेः घटाकारग्रहणेन अभेदाभिव्यक्त्या सांकर्यप्रसक्तेः तदभिन्नस्य तदभिन्नाभिन्नत्वन्यायेन. न चरमेण, विषयान्तःकरणवृत्तिरूपयोः द्वयोः उपाध्योः अभेदेतु एकतरहानेः अपरहानेः अवश्यंभावित्वापत्त्या घटनाशे वृत्तिनाशापत्तिः वृत्तिनाशे वा घटनाशापत्तेः. नच *घटनाशे वृत्तिनाशापत्तिस्तु इष्टैव* इति वाच्यं, वृत्तिनाशाभ्युपगमे तदभिन्नस्य प्रमातुरपि नाशस्य प्रसक्तेः अनुभवविरुद्धत्वात्. अविनाशेतु अभेदस्य उपपादयितुम् अशक्यत्वेन अन्तःकरणवृत्तेः विषयाकाराकारितत्वेऽपि न प्रमातुः विषयप्रत्यक्षसम्भावना.

तथाहि एतया अभेदभावापत्त्या किम् अन्तःकरणवृत्तेः विषयात्मना परिणामो, विषयस्य वा अन्तःकरणवृत्त्यात्मना परिणामो वक्तव्यः ? न आद्ये कृतं विषयस्य अनावरणसम्पादनेन यस्मात् विज्ञानवादानुगतिकतायाएव अनावरणप्रसंगात्. द्वितीयेतु विषयाकाराकारितान्तःकरणवृत्त्युपाधौ साक्ष्यभावेन विषयेण साक्षिणो पुनरपि विच्छेदाद् भेदप्रसंगः. तत्र साक्षिसद्भावांगीकारेतु घटप्रत्यक्षे "अहं घटोऽस्मि" इति प्रतीत्यापत्तेः दुर्वारत्वात्. एवञ्च सति चैतन्याभेदेन वस्तुतो आवरणनिवृत्तिः तन्निवृत्तौ च चैतन्याभेदः इति अन्योन्याश्रयतादोषस्यापि अपरिहार्यत्वं प्रतिभाति. वस्तुतस्तु विषयान्तःकरणावच्छिन्नयोः चैतन्ययोः अभेदो नैव सम्भवति विषयान्तःकरणरूपयोः उपाध्योरेव

भेदकत्वात्. उपाध्योः भेदकत्वानभ्युपगमे प्रत्यक्षकारणतासामग्रीविलोपाद् प्रत्यक्षावभासनस्यैव अशक्यत्वापत्तिरिति सकलप्रमाणप्रमेयव्यवस्थाभंगप्रसंगः. यस्माद् उपाध्योः उपपत्तिमत्त्वाय भेदकल्पनेतु तदुपहितचैतन्योरपि भिन्नतैव स्याद्. यतश्च उपाधिभेदाद् अतिरिक्तयाः अखण्डोपाधिचिदैकरसे ब्रह्मणि स्वतो भेदकल्पनायाः अप्रसाराद् इति शम्.

विद्याविद्यापुष्टिरूपाद्यनेकाः
सन्त्येव त्वच्छक्तयो ह्यन्वगाश्च।
स्वांशे जीवे सत्यसंकल्पतस्ते
त्वद्दासोऽहं पालय स्वेच्छया त्वम्!॥२॥
पदवाक्यप्रमाणपथिषु पदविन्यासविवेकवर्जितं माम्।
अनयत सकरावलम्बं तस्मै नतिरस्तु धर्मदेवाय॥३॥

इति गोस्वामिश्रीदीक्षितात्मजेन श्याममनोहरेण विरचितः
केवलाद्वैतवादाभिमताविद्यास्वरूपविमर्शः
सम्पूर्णः

सकलान्तरात्मा श्रीहरिः प्रसन्नोऽस्तु

वादावलीपरिशिष्टम्

(४)

॥ अक्षरपुरुषोत्तमद्वैतनिरासवादः ॥

(ब्रह्मपरब्रह्मद्वैतनिरासवादः)

(मंगलाचरणम्)

जयति श्रीवल्लभार्यो जयति च विट्ठलेश्वरः प्रभुः श्रीमान्॥
पुरुषोत्तमश्च तैश्च निर्दिष्टा पुष्टिपद्धतिर्जयति॥१॥

(उपक्रमः)

शुद्धाद्वैतमतप्रत्याख्यानकोटिक्रमः[१] पुरा॥
प्रवर्तितोऽस्ति सहजानन्दैः तम् अनुचिन्त्य हि॥२॥
आलोचयितुमिच्छामि सुहृद्वृत्त्या न संशयः॥
सहकारस्ततो देयः वाञ्छितार्थफलप्रदः॥३॥
शास्त्रानर्थाद् अशास्त्रार्थात् शास्त्रार्थो हि शुभः सदा॥
रागद्वेषादिरहितः कर्तव्यस्तु मनीषिभिः॥४॥

(विषयसंशयौ)

अक्षरञ्च परञ्चैव ब्रह्मणी द्वे पृथङ्मते॥
विशिष्टाद्वैतवादेतु नव्ये नव्यैरिहोदिते॥५॥
शुद्धाद्वैतमतोन्नीते चाक्षरेऽत्र परस्थितिः॥
विशिष्टाद्वैतवादोक्तप्रक्रियातः प्रसाध्यते॥६॥

तद् इदं युक्तम् उत नो विचार्यं श्रुतियुक्तिभिः ॥
श्रुत्यर्थनिर्णयायैव स्वमताग्रहवर्जितैः ॥७॥
समन्वायायासपरा परेषां विचाररीतिस्तु विमर्शनीया ॥
विशिष्टशुद्धाद्वयवादयोर्वै श्रुतेस्तु तात्पर्यमिहास्ति कुत्र ? ॥८॥

(परमतनिरूपणात्मकः पूर्वपक्षः)

तत्त्वानां तन्मतोक्तानाम् अतोऽत्र विनिरूपणम् ॥
कृत्वा विमर्शे प्रयते श्रौतार्थपरिशुद्धये ॥९॥
जगतो द्वे ह्युपादाने जडाजडविभेदतः ॥
तत्र माया जडा ज्ञेयाऽजडौ जीवेश्वरौ मतौ ॥१०॥
निमित्तकारणेपि द्वे परं चाप्यक्षरं तथा ॥
एवं भिन्नं मिथस्तत्त्वपञ्चकं समुदीरितम् [२] ॥११॥

(तदेकदेशिनाम् आधुनिकानां पक्षः)

त्रेधा तत्राक्षरं मूर्तामूर्तधामविभेदतः ॥
मूर्तस्तु पुरुषाकारः सेवकः नित्यसंनिधौ ॥१२॥
अमूर्तं निखिलाधारं सर्वव्यापि सनातनम् ॥
धामरूपन्तु तद् यत्र मुक्तैः साकं परः पुमान् ॥१३॥
इत्थं त्रैविध्यसत्त्वेऽपि तत्त्वैक्याद् एकमेव तद् [३] ॥
द्वितीयरहितं नूनं गुणातीतं च चिन्मयम् ॥१४॥
गुरूपदिष्टश्रीराधाकृष्णादियुगलस्य वै [४] ॥
न्यकृत्योपास्यतां केचित् तच्छिष्याधुनिकाः पुनः ॥१५॥
सहजानन्दगुणातीतानन्दयोः युगलार्चकाः ॥
एवं त्रिधाक्षरं प्राहुः [५] स्वगोष्ठिपरिकल्पितम् ॥१६॥

(आधुनिकानान्तु निजाचार्योक्तिभिरपि मतवैपरीत्यमिति अनेकाक्षरत्वा-प्रामाण्यनिरूपणम्)

बहवः पुरुषाः मूर्ताः साधर्म्याद् अक्षरात्मकाः ॥

क्वचित् श्रुताः [६] तथाप्येकोऽक्षरो न पुरुषः क्वचित् ॥१७॥
वचनामृते न वा शिक्षापत्र्यां वाप्युपलभ्यते ॥
त्रैविध्यम् अक्षरस्योक्तं मूलं तत्र भवेन्नवा ! ॥१८॥
विशिष्टेन विशिष्टस्य चैक्यं स्वीकृत्य नव्यताम् ॥
श्रीकृष्णवल्लभाचार्यः स्वमतेऽकुन्द्रयत् क्वचित् [७] ॥१९॥
जगद्विशिष्टन्तु तदक्षरं स्यात्
परस्तथैकश्च हि यद्विशिष्टः ॥
विशिष्टवैशिष्ट्यवतोऽद्वयत्वाद्
मतं स्वकीयन्तु नवीनम् आह ॥२०॥

(एतस्मिन् मते श्रुतिविरोधोऽपि इति निरूपणम्)

विभेदश्चाभेदो भवति विदितो वेदवचनैः [८]
विवक्षा गौणी स्यात् कथमिह तदा त्वन्यतरयोः ॥
न तर्कः प्रत्यक्षः श्रुतिमितविरोधे प्रभवति
भवेत् सिद्धं तस्माद् उभयम् अथवा वाल्लभमतम् ॥२१॥
सर्वं भवति विज्ञातं ह्येकविज्ञानतो [९] यदा ॥
भेदे तदा कथं वाक्यं श्रौतं समुपपद्यते ॥२२॥
'अथातो ब्रह्मजिज्ञासा' सूत्रे परम् उताक्षरम् ॥
जिज्ञास्यत्वेन किं प्रोक्तं जिज्ञास्यं भवतैदपि ॥२३॥
निमित्तकारणाद् जन्मस्थिती शक्ये कथञ्चन ॥
निमित्तेतु न कुत्रापि लयः कार्यस्य दृश्यते [१०] ॥२४॥
आधारत्वं च जन्मादेः कर्तृत्वं केवलं नहि ॥
श्रूयते ब्रह्मणस् तस्माद् न जगद्भिन्नतेष्यते [११] ॥२५॥

(तत्र लयाधिकरणतयोपादानत्वान्यथोपपत्तिनिरासः)

ननु तोयेऽनुपादाने दुग्धं च लवणं तथा ॥

लीयते या गतिस्तत्र तथेहापीति चेद् नहि ॥२६॥
यस्मात् तप्तेतु पयसि कृतेनातञ्चनेन हि ॥
प्रकटं जायते तत्र द्रवत्वघटकं जलम् ॥२७॥
सांसिद्धिकद्रवत्वात्तु दुग्धम् अप्सु विलीयते ॥
नैमित्तिकद्रवत्वेन लवणं कठिनं तथा ॥२८॥
द्रवत्वेन गुणैक्याद्धि वस्त्वैक्याद् वा लयो भवेत् ॥
इत्थमेव मतन्त्वैक्यं विशेषाद्वैतवादिनाम् ॥२९॥
पर्यवस्यति तच्चापि भेदाभेदमते तदा ॥
प्रयातो भेदवादोऽतः प्रलयाय न संशयः ॥३०॥

(ब्रह्मणः सृष्ट्यात्मनोद्भवे अजत्वव्याहतिनिरसनम्)

सत्येवम् अविकारित्वं तथाऽजत्वमपि स्फुटम् ॥
श्रुत्युक्तं बाधितं वै स्यादिति शंक्यं न कर्हिचित् ॥३१॥
गीतायां भगवानेव शंकाम् एतां निराकरोत् ॥
''अजोपि सन् अव्ययात्मा भूतानाम् ईश्वरोऽपि सन्
प्रकृतिं स्वाम् अधिष्ठाय सम्भवाम्यात्ममायया''
इत्यस्माद् वचनात् सिद्धः सम्भवोऽजस्य सर्वथा ॥३२॥
''तद् आत्मानं स्वयम्''इति श्रुतिश्चैवं **''तद् ऐक्षत''** ॥
''अजायमानो बहुधा विजायत'' इति श्रुती ।३३॥
एतादृशाभिरन्याभिः सम्भवो न ह्यसम्भवः ॥
अजश्चाप्यविकारी च जायतां जगद् ईश्वरः ॥३४॥
गर्भवादजनिबाल्यविकारान्
स्नेहघातशयनाशनधर्मान् ॥
भूतलेतु भगवान् अवतीर्णो
नानुभावयति किं निखिलान् वै ? ॥३५॥
कारणत्वं [१२] च धामत्वं [१३] ब्रह्मत्वं [१४] त्रितयं क्रमात् ॥

उपादानतया सृष्टेः हरेराश्रयतः स्वतः ॥३६॥
स्वाभाविकम् इहाद्वैतं मतं द्वैतं सदैच्छिकम् ॥
एषएव हि भेदो नो भास्करीयाद् मतादिह ॥३७॥
''सर्वाणि रूपाणि विचित्य धीरो
नामानि कृत्वाभिवदन् यदास्ते'' ॥
इति श्रुतेस्तत्त्वगतो ह्यभेदो
भेदस्तु बोध्यः किल नामरूपयोः [१५] ॥३८॥
कार्यकारणभावस्य विधायकनिषेधके ॥
संगते रूपभेदात्तु ब्रह्मण्येवोभयात्मके ॥३९॥
आत्यन्तिकेतु भेदेहि भवता च निरूपिते ॥
कारणत्वं भवेत् कस्याक्षरस्याथ परस्य वा ? ॥४०॥
भेदवादम् अवलम्ब्य भवद्भिः
कारणत्वम् इह चैकतरस्य ॥
उच्यते यदि तदान्यतरस्य
ह्यापतेद् इतरथा खलु सिद्धिः ॥४१॥
उत्पत्तौ यद् व्यवहितं ह्यन्यथासिद्धमेव तत् ॥
अक्षरद्वारकं तस्माद् न परं कारणं भवेत् ॥४२॥
अभीष्टं कारणत्वं चेद् यदि श्रीपुरुषोत्तमे ॥
अलं तदान्तर्गडुना ब्रह्मणा ह्यक्षरेण तु ॥४३॥
उक्त्वा जन्मादिकर्तृत्वं कारणत्वं च यत् पुनः ॥
प्रोक्तं परस्य सहजानन्दैस्तत्तु निरुच्यताम् ॥४४॥
उपादानं विवर्तस्य परिणामस्य वा पुनः ॥
आधारकारणं वा स्याद् भिक्षुसम्मतमेव हि ॥४५॥
विवर्तपरिणामयोः भवति कारणं नो परं
किमात्मकम् अतः तदा तदिह कारणं स्यात् पुनः ॥
भवेच्च यदि कल्पिता खइव तत्र चाधारता

मता न परमेश्वरे गगनवद् निराकारता [१६] ॥४६॥
जन्मादिसूत्रलक्ष्यत्वं ब्रह्मणोस्तु द्वयोरिह ॥
कस्मिन् अभीष्टम् इत्येद् वक्तव्यं सुविचार्यहि ॥४७॥
यद्यक्षरे परस्मिन् स्याद् अब्रह्मत्वं तदा ध्रुवम् ॥
परस्मिन् यद्यभिप्रेतं कारणं न तदाक्षरम् ॥४८॥
इष्टापत्तेर्न लाभोऽत्र नैकशः श्रुतयस् तदा ॥
तद्बोधिकास्तु कुप्येरन् मतं चाश्रौततां व्रजेत् ॥४९॥
"तद् आहुर् अक्षरं ब्रह्म सर्वकारणकारणं,
विष्णोर् धाम परं साक्षात् पुरुषस्य महात्मनः"
चेत् कारणत्वं पुरुषोत्तमस्य
केनापि वाक्येन मतं तदैतद्- ॥
वाक्येन भेदेऽक्षरमेव कारणं
भवेत् तदा श्रीपुरुषोत्तमस्य ॥५०॥
ब्रह्मत्वेनतु लक्ष्यैक्यं चैकं तल्लक्षणं तथा ॥
पृथक् तान्यक्षरत्वादिरूपभेदैर् मतान्यपि ॥५१॥
अस्मदीये मते तस्माद् नास्त्युक्तं दूषणं तथा ॥
दूषणानि यथास्माभिर् वर्ण्यन्ते तु भवन्मते ॥५२॥
त्रैविध्यम् अक्षरे चैक्यं स्वीकृत्य भवतापि हि ॥
प्रोच्यते तद्वद् अस्माभिः पराक्षरजगत्स्वपि ॥५३॥
युष्माभिर् द्वैतवादोहि स्वीकृतोऽस्ति क्षराक्षरे [१७] ॥
विशिष्टाद्वैतशुद्धाद्वैते हि चोक्ते पराक्षरे [१८] ॥५४॥
स्पष्टः शुद्धाद्वैतवादः त्रिविधे चाक्षरे तथा [१९] ॥
पुरुषाक्षरयोर् एवं गढडावचनामृते ॥५५॥
विरुद्धानान्तु वादानां समाहारस्तु दुःशकः ॥
नापि चैतादृशो दोषः शुद्धाद्वैते हि कश्चन ॥५६॥
तादात्म्यवादांगीकारात् सर्वत्रैवोपपादनाद् [२०] ॥

भेदक्षमो ह्यभेदश्च तादात्म्यम् इति लक्षणात् ॥५७॥
अन्तर्याम्यभवद् नूनं वाल्लभं ह्यक्षरं त्विह ॥
धामरूपं चाक्षरं यद् गीयतेऽन्तर्गडुः पुनः ॥५८॥
परस्मात् तदभिन्नं वा भिन्नं वेतीह निश्चयः ॥
शिक्षावचनग्रन्थाभ्यां जायते नहि लेशतः ॥५९॥
घटादारभ्य प्रकृतिंयावद् अंगीकृतस्य हि ॥
स्वरूपपरिणामस्य वचनामृतसंग्रहे ॥६०॥
तादात्म्यपरिणामीया प्रक्रियात्ववलम्बिता ॥
शुद्धाद्वैतस्य भाषायां चित्रं तद् द्वैतवादिनाम् ! ॥६१॥
प्रधानाग्रेऽक्षरं यावद् उत्पत्तिप्रलयेंऽशतः ॥
परिणामः कथम्भूतस् तत्र धर्मस्वरूपयोः ॥६२॥
नास्त्येव स्पष्टता वाण्यां जातो भेदो महान् इह ॥
असमञ्जसं हि निखिलं श्रुतिवाक्यविरोधतः ॥६३॥

(भगवद्गीतोक्तिविमर्शनेन आशंकापरिहारौ)

नन्वेतद् असमीचीनं गीतोक्तात्तु विरोधतः ॥
"द्वाविमौ पुरुषौ लोके क्षरश्चाक्षरएव च,
क्षरः सर्वाणि भूतानि कूटस्थोऽक्षर उच्यते,
उत्तमः पुरुषस्त्वन्य परमात्मेत्युदाहृतः,
यो लोकत्रयम् आविश्य बिभर्त्यव्यय ईश्वरः,
यस्मात् क्षरम् अतीतोऽहम् अक्षरादपि चोत्तमः,
अतोस्मि लोके वेदे च प्रथितः पुरुषोत्तमः"
'पुरुषा'विति प्रयोगोऽत्र 'रूपे' पदविवर्जनात् ॥६४॥
अन्यत्वोत्तमत्वाभ्यां क्षराक्षरपराः पृथक् ॥
आगतस्तत्त्वभेदोऽतः शुद्धाद्वैतं च निर्गतम् ॥६५॥
इति चेत् तन्न वै युक्तं ह्यस्मदुक्ताविमर्शनात् ॥

परस्त्वन्यश्चोत्तमश्च ह्यक्षराद् रूपभेदतः ॥६६॥
'रूपे' नोक्त्वा तु 'पुरुषौ' यच्चोक्तं तत्र पृच्छ्यते ॥
द्वावेव पुरुषौ कस्माद् न कस्मात् पुरुषास्त्रयः ? ॥६७॥
पुरुषोत्तमो न लोके चेत् कुत्र स्याद् अक्षरं तदा ॥
लोके ? हीति विचार्यैव दातव्यमिह चोत्तरम् ॥६८॥
व्यापकत्वाद् अक्षरं चेद् लोके किं न परस्तथा ॥
जीवात्मत्वे त्वक्षरस्य नाक्षराद् उत्तमः परः ॥६९॥
जीवादेवोत्तमत्वात् च विषमं समुपस्थितम् ॥
नातः पराक्षरद्वैतं मन्तव्यं शास्त्रमानिभिः ॥७०॥
असमीक्षिताभिधानं तद् यद् एवम् उपवर्ण्यते
पराक्षरे पृथग् इति न श्रुतावुपलभ्यते ॥७१॥
अथापि शास्त्रतोऽधिका
मता गुरौतु भावना ॥
भवेद् भवन्मतं तदा
तु बाह्यभावदूषितम् ॥७२॥
विनिगमकं नहि युष्मदुक्तौतु किञ्चिद्
भिन्ने चैते तत्त्वतो रूपतो नो ॥
परम् इह वर्णितम् अक्षरत्वेन शास्त्रे
प्रोक्तं नो तच्चाक्षरं किं तथाहि ॥७३॥
गीतायामपि भेदोऽयं तत्त्वतस्तु मतो नहि ॥
''**अक्षरं ब्रह्म परमं**'' वचनाद् अक्षरं परम् ॥७४॥
परस्याप्यक्षरत्वेन वर्णनं ह्युपलभ्यते ॥
दिव्यदृष्ट्युपलम्भेन पार्थोऽभेदं ह्यवर्णयत् ॥७५॥
असकृत् ''**त्वम् अक्षरम्**'' इति ततोऽभेदस्तयोर् मतः ॥
अक्षरस्य शरीरत्वं परस्य च शरीरिता ॥७६॥
अभेदेऽप्युपपद्येत रूपभेदाद् मतेऽपि नः ॥

प्रामाणिको रूपभेदः तत्त्वभेदो नवै क्वचित् ॥७७॥
क्षराक्षरपराणां हि तादात्म्यम् उपपद्यते ॥
पुरुषोत्तमस्तूत्तमोहि पुरुषाद् अक्षराद् इह ॥७८॥
नैवातीतं ह्युत्तमांगं शिरो वै स्वशरीरतः ॥

(परस्य अक्षरातीतताविमर्शः)

अन्यथाऽतीतता केयं निर्वाच्या सुविचार्य हि ॥७९॥
किं देशातीतता ह्याहोस्वित् कालातीतता पुनः ॥
द्रव्यातीतता वा स्यात् स्याद् रूपातीततथवा ॥८०॥
प्रवृत्तिसामर्थ्यातीततथवेति नचादिमा ॥
उभयोर्व्यापकत्वात्तु, द्वितीयापि न सम्भवा ॥८१॥
नित्यत्वाद् उभयोरेवं, तृतीयापि न सम्भवा ॥
परस्पराधाराधेयभावो यत्र मतो यथा ॥८२॥
मृत्तिकाघटयोः तत्र न द्रव्यातीतता मता ॥
घटरूपं मृत्तिकायां समवेतं यथा मतम् ॥८३॥
कपालादिक्रमेणैवम् अणवोऽपि मृदो घटे ॥
समवेताः सन्त्यवयवावयविभावेन तत्र हि ॥८४॥
परोऽप्येवं शरीरित्वेनाक्षरे वर्तते न वा ? ॥
ननु नात्र मतो रूपरूपिभावोऽथवेतरः ॥८५॥
अवयवावयविभावोऽपि परस्योताक्षरस्य वै ॥
इति चेत् तद् नवै युक्तं नैवं भेदोहि सिद्ध्यति ॥८६॥
सच्चिदानन्दताधर्मो द्वयोश्चैको यदा मतः ॥
अवच्छेदकतैक्येतु द्रव्यैक्यं ह्यापतेदिह ॥८७॥
द्रव्यत्वम् उभयोर् उक्तं सच्चिदानन्दतापि हि ॥
परस्पराधेयतोक्ता तथैवाधारतापि हि ॥८८॥
अतश्चैवं नवै द्रव्यातीतत्वं खलु सम्भवेद् ॥

(रूपातीतताम् आदाय शंकासमाधाने)

याद‍ृग्रूपं न वृक्षस्य ताद‍ृग्रूपं प्रसूनगम् ॥८९॥
द्वैतम् एवं तयोः रूपातीततामूलकं मतम् ॥
विलक्षणेन रूपेण साकं पुष्पं यथा तरौ ॥९०॥
सविलक्षणरूपो हि परोप्येवं हि चाक्षरे ॥
पशुत्वेन गवाश्वौ तु समानावपि रूपतः ॥९१॥
अश्वातीतं हि गोरूपं तस्माद् भेदो गवाश्वयोः ॥
यथा चाभिमतो लोके तथा स्याद् एतयोरपि ॥९२॥
सच्चिदानन्दरूपेण समानेऽपि पराक्षरे ॥
रूपभेदात् परस्येत्थं स्याद्रूपातीततापि हि ॥९३॥
रूपभेदात् परस् तस्माद् अक्षरातीत उच्यते ॥
अत्र ब्रूमो नवै युक्तं चैतद् वक्तुं कथञ्चन ॥९४॥
वस्तुभेदो यथा रूपद्वैविध्याद् वर्ण्यते तथा ॥
अभेदोऽपि हि रूपैक्यात् कुतो नेति निरुच्यताम् ॥९५॥
तादात्म्यम् आगतं नोचेत् भेदाभेदौतु निश्चितौ ॥
तस्माद् रूपातीततापि न भवेद् लाभकारिणी ॥९६॥
श्रीकृष्णवल्लभाचार्यः द्रव्यतां गुणतामपि [२१] ॥
स्वीचकार प्रभावल्यां तादात्म्यख्यापिकां द्वयोः ॥९७॥
दत्ता तिलाञ्जलिः तस्माद् द्वयोर्भेदाय सर्वथा ॥
गले च पतितं नूनं शुद्धाद्वैतं कुतो नहि ॥९८॥

(इन्द्रियाणां मनोऽधीनतोदाहरणेन शंकासमाधाने)

नन्विन्द्रियाणां मनसो ह्यधीनं
प्रवृत्तिसामर्थ्यम् इहास्ति तद्वत् ॥
मतं पराधीनम् अतोऽक्षरस्य
प्रवृत्तिसामर्थ्यम् इहास्ति भेदकम् ॥९९॥

(इति चेद्)

नचाभ्युपेतं मन इन्द्रियेषु
मतानि नो वै मनसीह तानि ॥
प्रवृत्तिसामर्थ्यम् इतीन्द्रियाणां
मनःपराधीनतयास्ति भेदकम् ॥१००॥
तथाक्षराद् नो बहिर् अभ्युपेतः
परः स्वतन्त्रोऽपि भवन्मतेतु ॥
स्थितस्तदन्तस्तु नियामकोऽपि सन्
बहिश्च, भेदं कथम् आवहेत ? ॥१०१॥

(पुनः शंकासमाधानान्तरे)

नचेह देहे किल तन्नियामकः
किं नास्ति भिन्नः खलु जीव एषः ॥
तथाक्षरे स्यात् पुरुषोत्तमः परो
न तेन दूष्यं किमपीति शंक्यम् ॥१०२॥
तदाधारः क्वचिद् भिन्नो यथा भूमिर्जलस्य हि ॥
तद्व्यापकोऽपि भिन्नः स्याद् आकाशो मूर्तवस्तुनः ॥१०३॥
तदन्तस्थो भवेद् भिन्नो जीवो देहस्थितो यथा ॥
नियामकोऽपि भिन्नः स्याद् राजा राज्ये गृही गृहे ॥१०४॥
नद्याधारा हि या भूमिः नैव सा जलव्यापिका ॥
आकाशे विद्यते तोयं वर्षर्तौ पृथिवीं विना ॥१०५॥
देहस्थितोपि जीवोऽयं न देहव्यापकः शवे ॥
नियामको यो राज्यस्य व्यापको नाप्यसौ नृपः ॥१०६॥
गृहस्योत गृहत्वस्य गृहस्थो व्यापको नहि ॥
नचान्तस्थोपि सर्वः स्यात् कदाचित्तु नियामकः ॥१०७॥
यथा घटो गृहस्थोऽपि न गृहस्य नियामकः ॥

तस्माद् भवितुम् अर्हन्ति भिन्नाश्चैते मिथः सदा ॥१०८॥
यत् पुनः स्यात् तदाधारस्तथा तद्व्यापकोपि च ॥
तदन्तस्थोऽपि सोऽत्र स्यात् तन्नियामकएव च ॥१०९॥
स कथं नु भवेद् भिन्नो दृष्टः क्वापि नवेदृशः ॥
नन्वभिन्नोऽपि नो दृष्टः इति चेद् नैवम् अत्रहि ॥११०॥
उपादानन्तु यद् द्रव्यं कार्यरूपस्य वस्तुनः ॥
आधारं व्यापकं चान्तस्थितं गुणनियामकम् ॥१११॥
दृष्टं, दृष्टौ मृद्घटौतु किमित्थं नो जनैः सदा ? ॥
पराक्षरे कुतो नैवं स्वीकर्तुम् इह सम्भवे ॥११२॥
''आश्रितत्वाद् गुणश्चायं प्रसृतत्वात् पृथक्स्थितः ॥
द्रव्यात्मकोऽक्षरश्चायं बृहत्वाद्''इति वर्णने ॥११३॥
''एकस्यैव गुणत्वे च द्रव्यत्वे न विरोधिता ॥
अवृत्तिवृत्तिमत्त्वेऽपि चान्तर्यामी''ति वर्णने ॥११४॥
प्रभावल्ल्यां स्वकीयायां शुद्धाद्वैतप्रभावितः ॥
पराक्षरे द्रव्यगुणौ ह्यब्रवीत् कृष्णवल्लभः ॥११५॥
तादात्म्यं द्रव्यगुणयोः नास्ति चेद् नाक्षरं गुणः ॥
अस्ति चेत् खण्डिता नूनं भिदा चात्यन्तिकीत्विह ॥११६॥

(किञ्च)

अक्षरस्य शरीरत्वं येन येन वाक्येन सिद्ध्यति ॥
सिद्ध्यत्येवतु तेनैव पराज्ञानं तथाक्षरे [२२] ॥११७॥
स्वगुरुं पुरुषाकारम् अक्षरं मनुते [२३] दवे ॥
श्रीरमेशः गुरौ तस्मात् पराज्ञानं कुतो नहिः ? ॥११८॥
अकायम् अशरीरं [२४] तत् पृथिव्यादिस्तमोऽवधिः [२५] ॥
सर्वाण्यपि शरीराणि तस्य श्रुतिमतानि च ॥११९॥
नह्यक्षरं केवलमेव चात्र
शरीररूपेण परस्य पुंसः

प्रोक्तं ह्यनेकेषु शरीररूपे-
ष्वेकं परं तत्त्वम् इह श्रुतौ हि ॥१२०॥
शरीरत्वेन धामत्वे धाम्नोऽक्षरतया तथा ॥
स्वीकर्तव्यं भवेत् कतरद् वक्तव्यं भवतैदपि ॥१२१॥
बहूनि सन्त्यक्षराणि बहूनां वाक्षरात्मता ॥
नूनं ह्युभयतोपाशरज्जुबद्धो भवानिह ॥१२२॥
तस्माद् अभिन्नं सर्वं स्यात् परात् चैवाक्षराद् अपि ॥

(किञ्च)

सर्वाण्यपितु धामानि साक्षराणि परे लये ॥१२३॥
तस्मिन् एकीभवन्तीति श्रूयते तस्य का गतिः ॥
पराक्षरजगद्भेदवादोऽतो न श्रुतौ मतः ॥१२४॥
य'द्यक्षरं' जीवपरं वाचकं ह्यभ्युपेयते ॥
रामानुजमते यद्वत् तद्वत् सर्वत्र नो कुतः ॥१२५॥
कल्पनीयम् इदं नेष्टं निखिलानां लयात् परे ॥
एकीभवनवचनात् पञ्चत्वं याति पञ्चकम् ॥१२६॥
नित्यत्वं पञ्चकस्योक्तं श्रुतौ तद् नोपलभ्यते ॥
आविर्भावतिरोभावप्रक्रियाम् अवलम्ब्य तु ॥१२७॥
सूक्ष्मावस्थासु चैतेषां तिरोभावो लयस्य चेद् ॥

(मा एवम्)

ब्रह्मेतरतया सर्वं ''सदसत्सदसत्''[२६]पदैः ॥१२८॥
निषिद्ध्यते ततः सूक्ष्मावस्थापन्नं त्रिकं तु तत् ॥
लयाद् ऊर्ध्वं नवै शक्यं वक्तुं चाभिधया परे ॥१२९॥
न शक्यते सुबालोपनिषद्यपि चिकीर्षिता ॥
स्वमतश्रौततासिद्ध्यै क्रीडार्थघटनात्मिका ॥१३०॥
श्रीमद्रामानुजार्यकृतयोः स्वोपजीव्ययोः ॥
गीतायाश्चापि सूत्राणां भाष्ययोः नास्ति तत्कथा ॥१३१॥

अप्रामाण्यमतः स्वोपजीव्योंऽगीकार्यमेव हि॥
नो चेत् तदनुरोधात्तु कार्यः त्यागोऽक्षरस्य वै॥१३२॥

(ननु)

तत्र श्रीसहजानन्दस्वामिनः पुरुषोत्तमाः॥
तेषां वक्तुम् अवक्तुञ्चाप्यन्यथावक्तुमेव च॥१३३॥
समार्थ्याद् नास्ति वै किञ्चिद् उपजीव्यं तु तत्कृते॥

(तत्र ब्रूमः)

तत्सूचिततरं वाक्यं तत्तन्मतवतां सदा॥१३४॥
स्वगुरौ भगवद्बुद्धेः श्रुत्याऽऽदिष्टतयापि च॥
अस्मद्विधानाम् अन्येषाम् अन्याचार्यानुवर्तिनाम्॥१३५॥
स्वगुरावेव तद्बुद्धिः नैव सा तु भवद्गुरौ॥
तथापि तदभीष्टेषु शास्त्रेषु यदि शक्यते॥१३६॥
प्रदर्शयितुमेवं हि स्वगुरोः परमात्मता॥
सिद्धा स्यान्निरपेक्षा हि पुरुषोत्तमता तदा॥१३७॥
नो चेत् स्वशिष्यसापेक्षा पुरुषोत्तमता भवेत्॥
आचार्याणां प्रमाणत्वं तथापि श्रुतिमूलकम्॥१३८॥
शास्त्रार्थेत्विह सर्वेषाम् आचार्याणाम् अधीनता॥
''आचिनोति हि शास्त्राणि स्वाचारे स्थापयत्यपि''॥
वाक्यसिद्धाचार्यता हि वैपरीत्ये नवै मता॥१३९॥
शास्त्राणां विषयस्तावत् शास्त्रार्थो यावदिष्यते॥
शिष्याणाम् उपदेशार्थे सम्भवेद् निरपेक्षता॥१४०॥
स्वगोष्ठिसिद्धसिद्धान्तस्योपदेशे गुरोरिह॥
बुद्धादेः भगवत्त्वेऽपि उपदेशाप्रमाणता॥१४१॥
श्रुत्यादिशास्त्रतः तस्य प्रतिकूलतया यथा॥
तथैव वा गतिर्ज्ञेया भगवत्त्वाग्रहे गुरौ॥१४२॥
शास्त्रानुकूल्यं स्वमते नोचेत् साध्यं स्वयुक्तिभिः॥

''सर्ववैष्णवराजश्रीवल्लभाचार्य'' घोषणा॥१४३॥
कृता येन स्वकीयेषु स्नेहादरसमायुता॥
तस्य निन्दा भवेद् नूनं कृतघ्नत्वाय सर्वथा॥१४४॥
इयन्तु भावना रूढा दृढा मद्हृदये सदा॥
निन्देयमिति कस्यापि प्रतीतिर् न प्रमा ह्यतः॥१४५॥
तद्भिन्ना शास्त्रचर्चेयं तत्त्वज्ञानशुभंकरी॥
''सर्ववैष्णवराजश्री''त्युक्त्वास्मन्मतखण्डनम्॥१४६॥
यथाऽकरोत् स सहजानन्दः तद्वद् इदं मम॥
शास्त्रार्थनिर्णयायैव तत्र शंका न काचन॥१४७॥

(उपसंहारः)[1]

ब्रह्माज्ञानप्रभवं प्रोक्तं भवभयमखिलं
शुद्धाद्वैतं मतम् अस्माकं श्रुतिशतगदितम्॥
तादात्म्यं वस्तुनि सर्वस्मिन् विलसति तदिदं
ज्ञात्वा कृष्णं भज सन्त्यज्याखिलकलिशबलम्॥१४८॥

इति श्रीमद्वल्लभाचार्यचरणानुचरेण गोस्वामिश्रीदीक्षितात्मजेन
श्याममनोहरेण विरचितो अक्षरपुरुषोत्तमद्वैतनिरासवादः
सम्पूर्णः

॥सकलान्तरात्मा श्रीहरिः प्रसन्नोस्तु॥

१.वचना.ग.प्र.४१. २.परब्रह्ममायेश्वरजीवाः हि शाश्वताः, तत्त्वार्थाः ईरिताः भिन्नाः नित्यसिद्धाः अनादयः, श्रुतिभिः परमात्मोक्त आनन्दतत्त्वमेव हि स ब्रह्मतत्त्वं प्रकाशौ वै मायातत्त्वं तमो जडम्, ईश्वरः ओजः तत्त्वं पृथगैश्वर्यम् अद्भुतम्, जीवात्मा ज्ञानतत्त्वं वै तानि द्रव्याणि वस्तुतः, परमात्मा शरीरी अस्ति अन्येषां सद्वर्ष्मणां सदा, परमेशेतरत् सर्वं शरीरं

परमात्मनः (तत्त्वप्रभा.५४६-५४९). ३.''मूर्तरूपं च 'अक्षरा'ख्यं 'प्रकाशा'ख्यन्तु अमूर्तकम्, मूर्तामूर्तकृतो भेदस् तत्त्वैक्येऽपि उपचारतः प्रकाशप्रभयोः भेदो यथा ऐक्येऽपि समुच्यते, सूर्यातपप्रभेदोऽपि यद्वद् ब्रह्मणि तद्विधः'' (तत्त्वप्रभा.५७१-७३). ४.वचना.वर.प्र.१८, शि.प.१०८-१०९. ५.राधाकृष्णनी युगल उपासना आपणने वल्लभाचार्य निम्बार्काचार्य चैतन्य महाप्रभु सूरदास नरसिंह मीरा वगेरेए शीखवी छे. युगल उपासनाने तेना श्रेष्ठ अने शुद्ध स्वरूपे भगवान् स्वामिनारायणे समजावी छे. तेमणे कह्युं छे अक्षररूप थईने पुरुषोत्तमनी भक्ति करवी. पुरुषोत्तम भगवान् स्वामिनारायणनी तेमना उत्तमभक्त अक्षरगुणातीतानन्दस्वामी साथेनी उपासनाने भगतजी महाराज शास्त्रीजी महाराज अने वर्तमान काळे प्रमुख स्वामिजीद्वारा पोषण मल्युं छे ('स्वामिनारायणनगर' ८५तमे वर्षीयमहोत्सवस्मारिकापृ.१४). ६.वचना.ग.म.५०. ७.(—). ८.''स इममेव आत्मानं द्वेधा अपातयत्'' (बृह.उप.१।४।३), ''तदेतत् त्रयं सद् एकम् अयम् आत्मा अयम् एकः सन् एतत् त्रयम्'' (बृह.उप.१।६।३). ९.''एकविज्ञानेन सर्वम् इदं विज्ञातं भवति'' (छान्दो.उप.३-६।२।३) इति श्रुतिवचनकदम्बकं एकविज्ञानेन सर्वविज्ञानसाधकत्वविषये प्रमाणम्. १०.लयनिरूपकाणि तु वचनानि '''तज्जलान्'इति शान्त उपासीत'' (छान्दो.उप.३।१४।१), ''यत् प्रयन्ति अभिसंविशन्ति (तैत्ति.उप.३।१) ''प्रजायन्ते तत्र चैव अपियन्ति'' (मुण्ड.उप.२।१।१). ११.ब्रह्मजगतोः अभेदसाधकानां जगज्जन्माद्याश्रयत्वोपादानत्वकर्तृत्वादिधर्माणां निरूपकाणि वचनानि : ''तद्धैक आहुः असदेव इदम् अग्रे आसीत्. कथम् असतः सद् जायेत! सत्त्वेव खलु, सौम्य, इदम् अग्रे आसीद् एकमेव अद्वितीयम्. तद् ऐक्षत 'बहु स्यां प्रजायेय' इति'' (छान्दो.उप.६।२।२), ''यतो वा इमानि भूतानि जायन्ते... यत् प्रयन्ति अभिसंविशन्ति तद् विजिज्ञास्व तद् ब्रह्म'' (तैत्ति.उप.३।१), ''तद् आत्मानं स्वयम् अकुरुत'' (तैत्ति.उप.२।७) ''यथा उर्णनाभी... तथा अक्षरात् सम्भवति इह विश्वम्'' (मुण्ड.उप.१।१।७) इत्येवमादयः. १२.''ब्रह्म वनं ब्रह्म स वृक्ष आसीद् यतो द्यावापृथिवी निष्टतक्षुः... ब्रह्म अध्यतिष्ठद्

भुवनानि धारयन्'' (तैत्ति.ब्राह्म.२।८।९।७). १३.''तद् आहुः अक्षरं ब्रह्म सर्वकारणकारणं विष्णोः धाम'' (भाग.पुरा.३।४१।१), ''यद् गत्वा न निवर्तन्ते तद् धाम परमं मम'' (भग.गीता.१५।६) १४.भोक्ता भोग्यं प्रेरितारं च मत्वा सर्वं प्रोक्तं त्रिविधं ब्रह्म एतत् (श्वेता.उप.१।१२): १५.तद्ध इदं तर्हि अव्याकृतम् आसीत् तद् नामरूपाभ्यामेव व्याक्रियत 'असौनामा अयं' 'इदंरूप' इति... सएष इह प्रविष्टः (बृह.उप.१।३।७), यद् वै किञ्चन अनूक्तं तस्य सर्वस्य 'ब्रह्म' इति एकता (बृह.उप.१।५।१७). १६.वचना.ग.प्र.४५. १७. श्रीर.म.दवेलिखित 'द भक्त-भगवान् रिलेशनशिप' पृ.१२४-५. १८.वचना.ग.प्र.४१. १९.वचना.ग.प्र.५१,ग.प्र.४१. २०.'' 'ऐतदात्म्यम् इदं सर्वम्' इति जडस्य सर्वस्यापि तदात्मकत्वम् उक्तम्... जीवस्यापि आह 'तत् त्वम् असि' इति'' (तत्त्वा.दी.निब.१।६१). २१.तत्त्वप्रभा.४।५५७-५६०. २२.बृह.उप.३।७।३-२३. २३.द्विशताब्दिमहोत्सचर्चागोष्ठीमें मौखिक व्याख्यान. २४.बृह.उप.३।८।७-८.ईशा.उप.८. २५.सुबा.उप.२. २६.सुबा.उप.१.

उद्धृतवचनानुक्रमणिका

अ

'ॐ'कारश्च 'अथ'शब्दश्च... ७
(?)

अंशो नानाव्यपदेशात् ... २२,५१,८१
(ब्रह्मसूत्रम् : २।३।४३)

अक्षमा भवतः का... ११६
(बृहदारण्यकशांकरभाष्यवार्तिकम् : १।४।१२१९)

अक्षरं ब्रह्म परमं... २०४
(भगवद्गीता : ८।३)

अक्षरादपि च उत्तम : ... १३८
(भगवद्गीता : १५।१८)

अखण्डं कृष्णवत् सर्वम् ... १३,१७,६६
(तत्त्वार्थदीपनिबन्धः : २।१८२)

अजाम् एकाम्... १५४
(महानारायणोपनिषद् : ९।२)

अजायमानो बहुधा... २००
(तैत्तिरीयारण्यकम् : ३।१३।३)

अजोऽपिसन् अव्ययात्मा... २००
(भगवद्गीता : ४।६)

अज्ञत्वं पारवश्यं च... ४१
(पद्मपुराणम् : । ।)

अणुः-बृहत्, कृशः-स्थूलो... ६२
(महाभारतम् : १३।१३५।१०३)

अणोः अणीयान् महतो... ४५,६८,८८,८९
(कठोपनिषद् : १।२।२०)

अतः परं न अन्यद् ... ४८
(महानारायणोपनिषद् : १।५)

अतो अन्यद् आर्तम् ... १२९
(बृहदारण्यकोपनिषद् : ३।४।२)

अतो अस्मि लोके वेदे च... उपोद्
(भगवद्गीता : १५।१८)

अत्रापि वेदनिन्दायाम् ... ८
(तत्त्वार्थदीपनिबन्धः : २।२१६)

अथात आदेशो 'न'इति-'न'इति ... ४३,६६
(बृहदारण्यकोपनिषद् : २।३।६)

अथातो ब्रह्मजिज्ञासा... ६७,९९,१४२,१९९
(ब्रह्मसूत्रम् : १।१।१)

अदृश्यत्वादिगुणको... उपोद्
(ब्रह्मसूत्रम् : १।२।२१)

अद्रेश्यम् अग्राह्मम् ... ४४,४८
(मुण्डकोपनिषद् : १।१।६)

अद्वितीय... ९१
(छान्दोग्योपनिषद् : ६।२।१)

अधिगतभिदा... १५३
(सिद्धान्तलेशसंग्रहमंगलाचरणम्)

अधिष्ठात्रन्तराभावोऽपि... १७१
(शांकरभाष्यम् : १।४।२३)

अध्यासो नाम अतस्मिन् ... उपोद्
(ब्रह्मसूत्रशांकरभाष्यम् : १।१।१)

अनन्तमूर्ति तद् ब्रह्म हि... ४८,६८
(तत्त्वार्थदीपनिबन्धः : १।२६)

अनागतम् अतीतं च... १०८,१०९
(भागवतपुराणम् : १०।५८।२१)

अनिमित्ता भागवती भक्तिः ... ८,२५
(भागवतपुराणम् : ३।२५।३३)

अनुभूतिः अवेद्या... १३३
(न्यायसिद्धाञ्जनम् : ३।५७)

अनेकबाहूदरवक्त्रनेत्रम् ... ५५
(भगवद्गीता : ११।१६)

अन्तः प्रविष्टं कर्तारम् ... १४०
(चित्त्युपनिषद् : ११।३)

अन्तस्तद्धर्मा... ८९
(ब्रह्मसूत्रम् : १।१।१९)

अन्यत्रमना अभूवं न... ८
(बृहदारण्यकोपनिषद् : १।५।३)

अन्योन्यधर्मान् च... ११६
(ब्रह्मसूत्रशांकरभाष्यम् : १।१।१)

अपराधसहस्रभाजनं अगतिं... उपोद्
(आळवन्दारस्तोत्रम् : ४८)

अपाणिपादो जवनो ग्रहीता... ९,४४,४५,६२,६८,७३,८९
(श्वेताश्वतरोपनिषद् : ३।१९)

अपि चेत् सुदुराचारो... २४
(भगवद्गीता : ९।३०)

अपि संराधने प्रत्यक्षानुमानाभ्याम् ... ४८
(ब्रह्मसूत्रम् : ३।२।२४)

अपिच क्वचिद् गौण : ... उपोद्
(ब्रह्मसूत्रशांकरभाष्यम् : १।१।७)

अपिच बाह्यार्थ... १५३
(ब्रह्मसूत्रशांकरभाष्यम् : २।२।३२)

अपिच यथा सौम्य...प्रसंगात्च १२९
(व्याससिद्धान्तमार्तण्डः : २।पृ.१९८)

अपिच सम्यग् ... १५२
(ब्रह्मसूत्रशांकरभाष्यम् : २।१।११)

अपिवा तम् आदेशम् ... ११
(छान्दोग्योपनिषद् : ६।१।२-३)

अप्रत्यक्षेऽपि हि आकाशे... उपोद्
(ब्रह्मसूत्रशांकरभाष्यम् : १।१।१)

अप्रत्याख्यायैव... १५८,१५९
(ब्रह्मसूत्रशांकरभाष्यम् : २।१।१४)

अप्राणो हि अमना : ... ६६
(मुण्डकोपनिषद् : २।१।२)

अरूपवदेव हि... ६६
(ब्रह्मसूत्रम् : ३।२।१४)

अरूपवदेव हि...प्रकृतैतावत्त्वं हि... ६७
(ब्रह्मसूत्रम् : ३।२।१४-२२)

अवाच्यं वाच्यम् इति... १३३
(न्यायसिद्धाञ्जनम् : ३।४६।५७)

अविद्यानिष्ठं कारणत्वमेव... १५१
(?)

अव्यक्तात् पुरुषः परः... १२१
(कठोपनिषद् : १।३।११)

अव्यक्तो अयम् अचिन्त्यो... ६६
(भगवद्गीता : २।२५)

असंगो हि अयं पुरुष : ... ४३,४४,७७,७८
(बृहदारण्यकोपनिषद् : ४।३।१५-१६)

असक्तं सर्वभृत् चैव... ६८
(भगवद्गीता : १३।१४)

असतः सद् ये ततक्षु : ... १०६
(तैत्तिरीयारण्यकम् : १।११।१)

असदेव इदम् अग्र आसीद् ... १६६
(छान्दोग्योपनिषद् : ६।२।१)

असद् इति चेद् न, ... ६२
(ब्रह्मसूत्रम् : २।१।७)

असद् व्यपदेशाद् ... ६२
(ब्रह्मसूत्रम् : २।१।१७)

असन्दिग्धेऽपि वेदार्थे... १८
(अणुभाष्यम् : १।१।१)

असूर्याः नाम ते... ३१
(ईशावास्योपनिषद् : ३)

अस्तु वा अनुपपत्तिरेव... १४४
(ब्रह्मसूत्रशांकरभाष्यभामती : २।४।२२)

अस्थूलम् अनणु अह्रस्वम् ... उपोद्,४५,६६,८९,९०
(बृहदारण्यकोपनिषद् : ३।८।८)

अस्मान् मायी सृजते... १६९
(श्वेताश्वतरोपनिषद् : ४।९)

अहं बहु स्याम् ... ७०
(?)

अहं ब्रह्म अस्मि... १८२
(बृहदारण्यकोपनिषद् : १।४।१०)

अहं भक्तपराधीन : ... उपोद्,८१
(भागवतपुराणम् : ९।४।६३)

'अहं - मम' इति... १९
(भागवतपुराणम् : ४।२८।१७)

अहं सर्वस्य... ६५,७०,८१,१४०
(भगवद्गीता : १०।८)

अहंकारविमूढात्मा कर्ता... ८०
(भगवद्गीता : ३।२७)

अहम् आत्मा गुडाकेश... ८१
(भगवद्गीता : १०।२०)

आ

आकाशमिव केवलं... ६९
(भागवतपुराणम् : १०।६०।३४)

आकाशशरीरं ब्रह्म... १०५
(तैतिरीयोपनिषद् : १।६)

आगममात्रसमधिगम्यएवतु... ११७,११८
(शांकरभाष्यम् : २।१।६)

आचारदर्शनाद् ... १०८
(ब्रह्मसूत्रम् : ३।४।३)

आचार्यो मां विजानीयाद् ... ३६
(भागवतपुराणम् : ११।१७।२७)

आत्मकृते परिणामाद् ... १४०,१४१,१७२
(ब्रह्मसूत्रम् : १।४।२६)

आत्मनो भगवतो...इति भाव: ४३
(सुबोधिनी : १०।३।१८)

आत्मा अगृह्यो नहि ... १०८
(बृहदारण्यकोपनिषद् : ३।९।२६)

आत्मा वा अरे द्रष्टव्य : ... २१,४५
(बृहदारण्यकोपनिषद् : २।४।५,४।५।६)

आत्मा वा इदम् अग्रे... १२
(बृहदारण्यकोपनिषद् : १।४।१)

आदित्यवर्णं तमस: परस्तात् ... उपोद्
(भगवद्गीता : ८।९)

आनन्दं ब्रह्मणो रूपम् ... ५१
(?)

आनन्दमयो अभ्यासाद् ... ४६,४९
(ब्रह्मसूत्रम् : १।१।११)

आनन्दमात्रकरपादमुखोदराद् : ... ४६,५५,६७
(?)

आनन्दाद्ध्येव खलु इमानि... ६५
(तैतिरीयोपनिषद् : ३।६)

आनन्दो ब्रह्म इति व्यजानात् ... ५१
(तैतिरीयोपनिषद् : ३।६)

आनन्दो विषयानुभवो... ११६
(ब्रह्मसूत्रशांकरभाष्यपञ्चपादिका : १।१।१)

आभासप्रतिबिम्बत्वम् ... ७१
(तत्त्वार्थदीपनिबन्धः : १।५७)

आराध्यत्वेन ज्ञानं भक्ति : ... ८
(किरणावलीमंगलाचरणम्)

आरोपितं हि रूपम्... १२४
(   )

आश्रयत्वविषयत्वभागिनी... १७७
(संक्षेपशारिरकम् : १।३१९)

आह च तन्मात्रम् ... ४९
(ब्रह्मसूत्रम् : ३।२।१६)

इ

इतरमतम् अनूद्य... १०९
(अणुभाष्यम् : १।१।२)

इदं सर्वं यद् भूतं... १०
(पुरुषसूक्तम् : १)

इदं हि विश्वं भगवानिव... २०
(भागवतपुराणम् : १।५।२०)

इदि परमैश्वर्ये... ५६
(पाणिनिधातुपाठभ्वादिगणम् : ६३)

इन्द्राय स्वाहा ! ... ५०,५५
(तैत्तिरीयसंहिता : १।४।२८।२)

इन्द्रियाणि पराणि... ७८
(भगवद्गीता : ३।४२)

इन्द्रो मायाभिः पुरुरूप : ... २२,५०
(बृहदारण्यकोपनिषद् : २।५।१९)

इमाः रामा : ... १८
(कठोपनिषद् : १।१।२५)

इह ज्ञेयत्वेन ब्रह्म... १३८
(ब्रह्मसूत्रशांकरभाष्यभामती : १।३।१)

ई

ईक्षतेः न अशब्दम् ... १२१,१४८
(ब्रह्मसूत्रम् : १।१।४)

ईक्षतेः...आत्मशब्दात् ... १२१
(ब्रह्मसूत्रम् : १।१।४-८)

ईश्वरः कारणं... उपोद्
(गौतमन्यायसूत्रम् : ४।१।१९)

उ

उत तम् आदेशम् अप्राक्षो... १५
(छान्दोग्योपनिषद् : ६।१।२-३)

उत्तमः पुरुषस्तु अन्य : ... १०,३५,७९
(भगवद्गीता : १५।१६)

उत्तरं पूर्वसन्देहवारकम् ... उपोद्
(तत्त्वार्थदीपनिबन्धः : १।८)

उपपत्तेः च... १०८,१०९
(ब्रह्मसूत्रम् : ३।२।३५)

उपायभूतं व्यवहारसत्यम् ... ११३
(बोधिचर्यावतारपञ्जिका : ९।४)

ऊ

'ऊहो वितर्के' इति धातुनिष्पन्न... ११८
(शास्त्रदीपिकामयूखमालिका : ९।१।१)

ए

एकमेव अद्वयं ब्रह्म... ५१,५८
(छान्दोग्योपनिषद् : ६।२।१)

एकमेव अद्वितीयं... १०,३९,४३,१०६,१४८
(छान्दोग्योपनिषद् : ६।२।१) १५०,१६४,१६५,१६७,१६९

एकस्यैव मम अंशस्य... ३०,३९
(भागवतपुराणम् : ११।११।४)

एको अहं बहु स्याम् ... १९
(?)

एतस्यैव अक्षरस्य प्रशासने... उपोद्,८९
(बृहदारण्यकोपनिषद् : ३।८।९)

एतेन प्रकृतेन प्रधानकारणत्वाद्... उपोद्
(शांकरभाष्यम् : २।१।१२)

एतेन शिष्टापरिग्रहापि... उपोद्
(ब्रह्मसूत्रम् : २।१।१२)

एष उ ह्येव साधु... २७
(कौषीतकिब्राह्मणोपनिषद् : ३।८)

ऐ

ऐतदात्म्यम् इदं सर्वं... ११,१२,४०,६६
(छान्दोग्योपनिषद् : ६।८।७)

एतानि अष्टौ आयतनानि... १०८
(बृहदारण्यकोपनिषद् : ३।९।२६)

औ

औत्सर्गिकं धियां... १०६
(?)

क

कश्चिद् धीर : ... १४,४४,४८
(कठोपनिषद् : २।१)

कः उत्तमश्लोकगुणानुवादात् ... ३३
(भागवतपुराणम् : १०।१।४)

कर्तारम् ईशं पुरुषं ब्रह्म... उपोद्,१४०
(मुण्डकोपनिषद् : ३।१।३)

कथम् असतः सद् जायेत्... १५१
(छान्दोग्योपनिषद् : ६।२।२-३)

कर्माकर्मविकर्मेति वेदवादो... १७
(भागवतपुराणम् : ११।३।४३)

कस्य के पतिपुत्राद्याः : ... १९
(भागवतपुराणम् : ८।१६।१९)

कस्याश्चित् पूतनायन्त्या : ... ४
(भागवतपुराणम् : १०।२७।१५)

कार्यकारणभावदशायां... १६९
(?)

कार्यकारणभावम् ... १६८
(?)

कार्यायोजनधृत्यादेः पदात् ... ९६
(न्यायकुसुमाञ्जलिः : ५।१)

किम् अलभ्यं भगवति... २६
(भागवतपुराणम् : १०।३६।२)

कुतस्तु खलु सौम्यैवं स्याद् ... १६७
(छान्दोग्योपनिषद् : ६।२।२)

कृत्यल्युटो बहुलम् ... १५
(पाणिनिसूत्रम् : ३।३।११३)

कृत्वा तावन्तम् आत्मानम् ... ९४
(भागवतपुराणम् : १०।३०।२०)

कृत्स्नशास्त्रस्यापि ऊह्यमानत्वेन... ११९
(शास्त्रदीपिकामयूखमालिका : ९।१।१)

किन्तु आप्तकल्पश्च अयं... उपोद्
(न्यायभाष्यम् : ४।१।२१)

क्रीडाभाण्डं विश्वम् इदं... २०,८१
(भागवतपुराणम् : ४।७।४३)

क्रीडार्थम् आत्मनः इदं... २०,८१
(भागवतपुराणम् : ८।२२।२०)

क्लेशकर्मविपाकाशयैः अपरामृष्ट : ... उपोद्
(पातञ्जलयोगसूत्रम् : १।२४)

क्ष

क्षणिकत्वात् च... ११४
(ब्रह्मसूत्रम् : २।२।३१)

ग

गतिसामान्याद् ... १२६,१६०
(ब्रह्मसूत्रम् : १।१।९)

गतेः अर्थवत्त्वम् उभयथा... उपोद्,२०,२६
(ब्रह्मसूत्रम् : ३।३।२९)

गावस्तु कृष्णमुखनिर्गत... ८२
(भागवतपुराणम् : १०।१८।१३)

गोविन्दम् आत्मनि... ८२
(भागवतपुराणम् : १०।१८।१३)

गौणः चेद् न 'आत्म'शब्दात्... उपोद्,६१
(ब्रह्मसूत्रम् : १।१।५)

गौणः चेद् न 'आत्म'...वचनात्च ६१,६७
(ब्रह्मसूत्रम् : १।१।५-७)

च

चमसवद् अविशेषाद्... १५४
(ब्रह्मसूत्रम् : १।४।२)

चेतस्तत्प्रवणं सेवा... ९
(सिद्धान्तमुक्तावली : २)

चैत्यस्य तत्त्वम् अमलं... २८
(भागवतपुराणम् : ३।२८।२८)

ज

जगत्कर्ता जगन्मय : ... ६६
(पुरुषोत्तमसहस्रनामस्तोत्रम् : १।१०)

जनिकर्तुः प्रकृति... ११,१५४
(पाणिनिसूत्रम् : १।४।३०)

जन्माद्यस्य यत : ... ९,११,६५,७०,१४८,१५१,१६२
(ब्रह्मसूत्रम् : १।१।२)

जयति जननिवासो... ३०
(भागवतपुराणम् : १०।८७।४८)

जीव ईशो ... उपोद्,११६
(द्र. : सिद्धान्तलेशसंग्रहकृष्णालंकाराख्यव्याख्या : १।१७)

ज्ञ

ज्ञानप्रसादेन विशुद्धसत्त्व... ४८
(मुण्डकोपनिषद् : ३।१।८)

ज्ञानिनः तदभिव्यक्तौ... उपोद्
(तत्त्वार्थदीपनिबन्धः : २।४)

ज्ञानी चेद् भजते कृष्णं... २०
(तत्त्वार्थदीपनिबन्धः : १।१४)

त

तं तु औपनिषदं पुरुष... ४८,१०८
(बृहदारण्यकोपनिषद् : ३।९।२६)

तं देवाः सर्वे अर्पिता : ... १४
(कठोपनिषद् : २।१-१०)
तज्जलान् ... उपोद्
(छान्दोग्योपनिषद् : ३।१४।१)
तत एव तिरोभावाद् ... ५३
(विद्वन्मण्डनम् : पृ.१५५)
ततः प्रेम तथा आसक्ति : ... २६
(भक्तिवर्धिनी : ३)
तत्कारितत्वाद् अहेतु : ... उपोद्
(गौतमन्यायसूत्रम् : ४।१।२१)
तत्धर्मव्यपदेशात् ... १३२,१३५
(ब्रह्मसूत्रम् : १।२।१८)
तत्तु समन्वयाद् ... ११,१२०
(ब्रह्मसूत्रम् : १।१।३)
तत्त्वम् असि... ११,२२,१८२
(छान्दोग्योपनिषद् : ६।८।७)
तत्त्वावधारणाभ्यासस्य हि ... १२४
( )
तत्प्रधानत्वाद् ... ६७
(ब्रह्मसूत्रम् : ३।२।१४)
तत्र शृण्वन्ति अमीलितदृशो... ८२
(भागवतपुराणम् : १०।१८।१४)
तत् केन कं पश्येद् ... १७
(बृहदारण्यकोपनिषद् : ४।६।१५)
तत् सत्यम् इति आचक्षते... ११,६२
(तैतिरीयोपनिषद् : २।६)

तथा न ते, माधव ! ... ७
(भागवतपुराणम् : १०।२।३३)
तथापि यावता कार्यं तावत् ... २३
(पुष्टिप्रवाहमर्यादा : १४)
तथाहि क्षणिकत्ववादिनं... १३७
( )
तदनन्यत्वम् 'आरम्भण'... १६,४०
(ब्रह्मसूत्रम् : २।१।१४)
तदुपासनया ज्ञानात् ... २०
(तत्त्वार्थदीपनिबन्धः : २।१०३)
तदेतद् अक्षयं नित्यं... ३०,६२,६५
(विष्णुपुराणम् : १।२२।६०)
तदेव एतत्प्रकारेण भवति... ४०
(सिद्धान्तमुक्तावली : ५)
तदेव ब्रह्म त्वं विद्धि... ५६
(केनोपनिषद् : १।४)
तदेव ब्रह्म परमं कवीनाम् ... उपोद्
(महानारायणोपनिषद् : १।१-६)
तदेवं असारतरतर्क... उपोद्
(शांकरभाष्यम् : २।२।१७)
तद्धैक आहुः असदेव इदम् ... १६७
(छान्दोग्योपनिषद् : ६।२।१)
तद्रूपो मायया अभवद् ... ८१
(तत्त्वार्थदीपनिबन्धः : १।२३)
तद् आत्मानमेव अवेद् ... ८१
(बृहदारण्यकोपनिषद् : १।४।१०)

तद् आत्मानं स्वयम् ... १५५,२००
(तैतिरीयोपनिषद् : २।७)
तद् आत्मानं...प्रकृतिषु ... १५५
(ब्रह्मसूत्रशांकरभाष्यम् : १।४।२६)
तद् आहुः अक्षरं ब्रह्म... २०१
(भागवतपुराणम् : ३।११।४१)
तद् एजति तद् न एजति... ४५,६८,९३
(ईशावास्योपनिषद् : ५)
तद् ऐक्षत बहु स्यां... उपोद्,१२,११९,१२५,१६७,२००
(छान्दोग्योपनिषद् : ६।२।३)
तद् मायाफलरूपेण केवलं... १०६
(भागवतपुराणम् : ११।२४।३)
तद् वरम् अस्माद् ... उपोद्
(शास्त्रदीपिका : १।१।५)
तद्भूतयोनिं परिपश्यन्ति... उपोद्
(मुण्डकोपनिषद् : १।१।६)
तद्विस्तारो भागवतम् ... उपोद्
(तत्त्वार्थदीपनिबन्धः : २।२२१)
तन्निष्ठस्य मोक्षोपदेशाद् ... ६१,१२२,१२३
(ब्रह्मसूत्रम् : १।१।६)
तन्मनस्काः तदालापाः... उपोद्
(भागवतपुराणम् : १०।३०।४४)
तपसा ब्रह्म विजिज्ञासस्व... १९
(तैतिरीयोपनिषद् : ३।२)
तमेव विदित्वा अतिमृत्युम् ... उपोद्
(श्वेताश्वतरोपनिषद् : ३।८)

तम् एवं विद्वान् अमृत... उपोद्
(पुरुषसूक्तम् : ८)
तरति शोकम् ... १२४
(छान्दोग्योपनिषद् : ७।१।३)
तर्काप्रतिष्ठानाद् ... १६
(ब्रह्मसूत्रम् : २।१।११)
तस्मात् तार्किकचाटभट... उपोद्
(बृहदारण्यकोपनिषदशांकरभाष्यम् : २।१।२०)
तस्माद् मद्भक्तियुक्तस्य... उपोद्,२३
(भागवतपुराणम् : ११।२०।३१)
तस्माद् शब्दमूलएव... १५८
(ब्रह्मसूत्रशांकरभाष्यम् : २।१।२७)
तस्य कर्तारमपि माम् ... उपोद्
(भगवद्गीता : ४।१३)
तस्य ह वा एतस्य... ९३
(छान्दोग्योपनिषद् : ७।२६।१)
ताः न अविदन् ... उपोद्
(भागवतपुराणम् : ११।१२।१२)
तासां मध्ये द्वयो... ९४
(भागवतपुराणम् : १०।३०।३)
तृप्तएव एनम् इन्द्र : ... ५०
(तैत्तिरीयसंहिता : २।५।४।३)
ते इमे परमाणवः चेतनम् ... उपोद्
(न्यायमञ्जरी : ८।ईश्व.सा)
ते प्राप्नुवन्ति मामेव... २०
(भगवद्गीता : १२।४)

त्वयि, उद्धव!, आश्रयति... २
(भागवतपुराणम् : ११।१९।७)

द

दिवि सूर्यसहस्त्रस्य भवेद् ... उपोद्
(भगवद्गीता : ११।१२)

दिव्यं ददामि ते चक्षु : ... ४९
(भगवद्गीता : ११।८)

दिव्यो हि अमूर्तः पुरुष : ... ४४
(मुण्डकोपनिषद् : २।१।२)

दुर्घटत्वम् अविद्याया भूषणं... १४४
(इष्टसिद्धिः : १।१४०)

दूरे गुणाः तवतु... उपोद्
(?)

दृश्यते तु... ११७
(ब्रह्मसूत्रम् : २।१।६)

देवो असुरो मनुष्यो वा... ८२
(भागवतपुराणम् : ७।७।५०)

देहादि अपार्थम् असद् ... ३
(भागवतपुराणम् : १२।८।४४)

देही नित्यम् अवध्यो अयम्... ८०
(भगवद्गीता : २।३०)

दैवी हि एषा गुणमयी... ३२
(भगवद्गीता : ७।१४)

द्वे वाव... ७३
(बृहदारण्यकोपनिषद् : २।३।१)

द्वौ इमौ पुरुषौ लोके... ७९,१३८
(भगवद्गीता : १५।१६)

द्वौ इमौ पुरुषौ...पुरुषोत्तम २०३
(भगवद्गीता : १५।१६-१८)

ध

धन्यास्तु... ८२
(भागवतपुराणम् : १०।१८।११)

धर्मजिज्ञासायामिव... ११८
(ब्रह्मसूत्रशांकरभाष्यम् : १।१।२)

धर्मः प्रोज्झितकैतवो अत्र... ८१
(भागवतपुराणम् : १।१।२)

...धर्मोपपत्तेश्च... १३६
(ब्रह्मसूत्रम् : १।३।९)

धातुः प्रसादाद्... १०९
(महानारायणोपनिषद् : १०।१)

न

न अन्यः पन्था... उपोद्
(श्वेताश्वतरोपनिषद् : ३।६।१५)

न अभाव उपलब्धेः... १२८
(ब्रह्मसूत्रम् : २।२।२८)

न अयं गुणः कर्म... ६३
(भागवतपुराणम् : ८।३।२४)

न अयं सुखापो भगवान् ... उपोद्
(भागवतपुराणम् : १०।९।२१)
न अयम् आत्मा प्रवचनेन... उपोद्,१९
(कठोपनिषद् : २।२३)
न अयम् आत्मा बलहीनेन... २३
(मुण्डकोपनिषद् : ३।२।४)
न असतो विद्यते भावो... ६२,६५
(भगवद्गीता : २।१६)
न अहं प्रकाशः सर्वस्य... २०
(भगवद्गीता : ७।२५)
न अहं वेदैः न तपसा... उपोद्,८९
(भगवद्गीता : ११।५३)
न अहम् आत्मानम् आशासे... ३६
(भागवतपुराणम् : ९।४।६४)
न इह नाना अस्ति... १३,१७,१८,५१,५८,६२,१६५
(कठोपनिषद् : २।१।११,बृहदारण्यकोपनिषद् : ४।४।१९)
न उद्धवो अण्वपि मन्यूनो... ३६
(भागवतपुराणम् : ३।४।३१)
न कर्मणा न प्रजया धनेन... उपोद्
(महानारायणोपनिषद् : १०।५)
न कश्चित् कर्तुम् अर्हति... ६२,६५
(भगवद्गीता : २।१७)
न चक्षुषा गृह्यते नापि वाचा... ४८
(मुण्डकोपनिषद् : ३।१।८)
न जायते म्रियते वा कदाचिद् ... ८१
(भगवद्गीता : २।२०)

न तत्र सूर्यो भाति... ४९
(कठोपनिषद् : २।१।१५)
न तत्समः च अभ्यधिक : ... ३९,७५,८८
(श्वेताश्वतरोपनिषद् : ६।८)
न तस्य कार्यं करणं... १५०
(श्वेताश्वतरोपनिषद् : ६।८)
न धर्मजिज्ञासायामिव ब्रह्मणि... ११७,११८
(ब्रह्मसूत्रशांकरभाष्यम् : १।१।२)
न पारये अहं... ८८
(भागवतपुराणम् : १०।२९।२२)
न मां दुष्कृतिनो मूढा : ... ३१
(भगवद्गीता : ७।१५)
न मे भक्तः प्रणश्यति... ८१
(भगवद्गीता : ९।३१)
न रोधयति मां योगो... उपोद्
(भागवतपुराणम् : ११।१२।१-९)
न लोकवद् इह भवितव्यं... १६५
(ब्रह्मसूत्रशांकरभाष्यम् : १।४।२७)
न सद् न असद् उच्यते... ६३,६६
(भगवद्गीता : १३।१२)
न सद् न असद् न सदसद् ... ११५
(अद्वयवज्रसंग्रहः : १९)
न स्थानतोऽपि परस्य ... ९०,९२२
(ब्रह्मसूत्रम् : ३।२।११)
नच अन्तःकरणवृत्तावपि... १३६-७
(ब्रह्मसूत्रशांकरभाष्यभामती : १।२।१८)

नच ते वस्तुमात्रम् इति... १३७
(ब्रह्मसूत्रशांकरभाष्यम् : । ।)

नच वेदाद् ऋते... ११०
(कूर्मपुराणम् : १।११।२७१)

नच शून्यता भावाद् ... ११५
(बोधिचर्यावतारपञ्जिका : ९।३४)

ननु वस्तु 'एवं' - 'नैवम्'... १५३
(ब्रह्मसूत्रशांकरभाष्यम् : १।१।२)

ननु 'तरति शोकम् आत्मविद्'... १२४
(छान्दोग्योपनिषद् : ७।१।३)

ननु मायोपाधिकबिम्बचिन्मात्रस्य... १२६
(ब्रह्मसूत्रशांकरभाष्यरत्नप्रभा : १।१।१२)

ननु शब्देनापि न शक्यते... १५८,१६५
(ब्रह्मसूत्रशांकरभाष्यम् : २।१।२७)

नमो अस्तु अनन्ताय... ५५
(महाभारतम् : १३।६३५।५)

नहि इदम् अतिगम्भीरं... १५९,१६५
(ब्रह्मसूत्रशांकरभाष्यम् : २।१।११)

नहि विरोधः उभयं भगवति... ६८,९०
(भागवतपुराणम् : ६।९।३६)

नहि सत्यस्य नानात्वम् ... १४
(छान्दोग्योपनिषद् : ६।१।१४)

नाभिः नभो अग्नि : ... ५५,६८
(भागवतपुराणम् : १०।६३।३५)

नित्यापरिच्छिन्नतनौ प्राकट्यम्... १३
(सुबोधिनी : २।६।१)

निरवद्यं निरञ्जनम् ... १६३
(श्वेताश्वतरोपनिषद् : ६।१९)

निष्कलं निष्क्रियं... २१,४४,८८,१६२
(श्वेताश्वतरोपनिषद् : ६।१९)

निर्विशेषकारणतायामपि... १२६
(ब्रह्मसूत्रशांकरभाष्यप्रदीपः : १।१।६)

प

परं ब्रह्म परं धाम... उपोद्
(भगवद्गीता : १०।१२)

परत्र पूर्वदृष्टावभास : ... उपोद्
(ब्रह्मसूत्रशांकरभाष्यम् : १।१।१)

परस्परविरोधे हि... ३९
(लौकिकन्यायसाहस्री : ३)

परा अस्य शक्ति : ... उपोद्,४३,४४,४९,५६,७२,९४
(श्वेताश्वतरोपनिषद् : ६।८)

पराकृतनमद्बन्धं परब्रह्म ... उपोद्
(भगवद्गीतामधुसूदनी : १४।२७)

पराञ्चि खानि व्यतृणत् ... १४,१५,४४,४८
(कठोपनिषद् : २।१।१)

पराभिध्यानात्तु तिरोहितं... २२,५२,५३,७१
(ब्रह्मसूत्रम् : ३।२।५)

परिहृतस्तु ब्रह्मवादिना... उपोद्
(शांकरभाष्यम् : २।१।२९)

परो हि योगो... ९
(भागवतपुराणम् : ११।२३।४६)

परोक्षवादो वेदो अयं... (भागवतपुराणम् : ११।३।४४)	२१
पातालम् एतस्य पादमूलम् ... (भागवतपुराणम् : २।१।२६)	२०,२१
पादो अस्य विश्वा भूतानि... (ऋक्संहिता : १०।९०।३)	८८
पिता अहम् अस्य जगत : ... (भगवद्गीता : ९।१७-१८)	६५
पुरुषः स पर : ... (भगवद्गीता : ८।२२)	उपोद्
पुरुषएव इदं सर्वं... (ऋक्संहिता : १०।९०।२,८।४।१७)	४०,५१,६४
पुरुषएव इदं सर्वम् ... (पुरुषसूक्तम् : १)	१०,१३,६२,६६
पुष्टिं कायेन निश्चय : ... (पुष्टिप्रवाहमर्यादा : ९)	१९
पूजां दधुः विरचितां... (भागवतपुराणम् : १०।१८।११)	८२
पूर्वं परम् अजातत्वाद् ... (द्र. : मीमांसाकोषः : अपच्छेदन्याये)	११८
पूर्वसिद्धोपि हि सन्नात्मा... (शांकरभाष्यम् : १।४।२६)	१७२
पूर्वात् परबलीयस्त्वं तत्र... (?)	११८
पोषणं तदनुग्रह : ... (भागवतपुराणम् : २।१०।४)	२३

प्रकाशवत् च अवैयर्थ्यात् ... (ब्रह्मसूत्रम् : ३।२।१५)	४८
प्रकाशाश्रयवद्वा तेजस्त्वाद् ... (ब्रह्मसूत्रम् : ३।२।२८)	४३
प्रकृतिः च प्रतिज्ञादृष्टान्तानुपरोधाद् ... (ब्रह्मसूत्रम् : १।४।२३)	१३०
प्रकृतिप्रत्ययौ सहार्थं ब्रूतः : ... (पातञ्जलमहाभाष्यम् : १।२।६४)	८,२५
प्रकृतेः क्रियमाणानि... (भगवद्गीता : ३।७)	उपोद्
प्रकृतैतावत्त्वं हि प्रतिषेधति... (ब्रह्मसूत्रम् : ३।२।२२)	४९,६६,६७
प्रजापतिः अकामयत... (तैत्तिरीयसंहिता : ३।१।१।१)	६५
प्रधानकारणवादः कैश्चिद्... (ब्रह्मसूत्रशांकरभाष्यम् : २।२।३)	उपोद्
प्रणतभारविटपाः मधुधारा : ... (भागवतपुराणम् : १०।३२।९)	८२
प्रणम्य हेतुम् ईश्वरम्... (वैशेषिकसूत्रभाष्यमंगलाचरणम्)	उपोद्
प्रतिज्ञादृष्टान्तानुपरोधाद्... (ब्रह्मसूत्रम् : १।४।२३)	१६
प्रतिबुद्धइव स्वप्नाद् ... (भागवतपुराणम् : १०।११।१३)	१५
प्रत्यक्षपरिकलितमपि... (?)	११२

प्रधानाद् जगद् जायते... १०२
(?)

प्रपञ्चो भगवत्कार्य : ... ८०
(तत्त्वार्थदीपनिबन्धः : १।२३)

प्रमाणतोऽपि निर्णीतं ... उपोद्
(भगवद्गीतामधुसूदनी : १५।२०)

प्राकृतधर्मानाश्रयम्... ६८
(सर्वोत्तमतोत्रम् : १)

प्रायो बताम्ब विहगा : ... ८२
(भागवतपुराणम् : १०।१८।१४)

प्रावादुकानां वृष्टय : ... उपोद्
(न्यायभाष्यवार्तिकतात्पर्यम् : ४।१।१९)

प्रीयते अमलया भक्त्या हरि : ... उपोद्
(भागवतपुराणम् : ७।७।५२)

प्रेमसेवातएव स्याद् ... उपोद्
(तत्त्वार्थदीपनिबन्धः : २।९२)

प्रेम्णो अन्यत् साधनं... उपोद्
(तत्त्वार्थदीपनिबन्धः : २।३२६)

ब

बद्धो न मुच्यते तावद् ... ११४
(माध्यमिककारिका : १६।८)

बद्धो मुक्तः इति... २९
(भागवतपुराणम् : ११।११।१)

बन्धो अस्य अविद्यया... ७१,७५,८०
(भागवतपुराणम् : ११।११।४)

बहु स्यां... २७
(छान्दोग्योपनिषद् : ६।२।३)

बहु स्यां प्रजायेय... २८
(तैत्तिरीयोपनिषद् : २।६)

बुद्धिः ज्ञानम् असम्मोह : ... ६०
(भगवद्गीता : १०।४)

बुद्धिप्रेरककृष्णस्य पादपद्मं प्रसीदतु... ६१
(तत्त्वार्थदीपनिबन्धः : ३।५।१)

बृहत्त्वाद् ब्रह्म उच्यते... ९
(द्र. : विष्णुपुराणम् : १।१२।५५)

'ब्रह्म जिज्ञासितव्यम्' इति... १२५
(ब्रह्मसूत्रशांकरभाष्यभामती : १।१।१२)

ब्रह्म दाशाः ब्रह्म कितवा : ... ८१
(अथर्वपैप्पलादसंहिता : ८।९।१०)

ब्रह्माज्ञानात् जगत् सर्वम् ... १२२
(शांकरभाष्यवार्तिकम् : ?)

ब्रह्मणस्तु कारणत्वम् ... १२०
(?)

ब्रह्मणि अशब्दवाच्ये स्याद् ... १३३
(शतदूषणीचण्डमारुतम् : ४५)

ब्रह्मणो निर्विशेषत्वम् इति... १४२
(न्यायसिद्धाञ्जनम् : ३।४३)

ब्रह्मवर्चस्कामस्तु... ५६
(भागवतपुराणम् : २।३।२)

ब्रह्मविद् आप्नोति परम् ... ७९
(तैत्तिरीयोपनिषद् : २।१)

ब्रह्मैव ईक्षितृ... १२५
(ब्रह्मसूत्रशांकरभाष्यभामती : १।१।५)

ब्रह्मैव सन् ब्रह्म अप्येति... २३
(बृहदारण्यकोपनिषद् : ४।४।६)

भ

भक्तिः अस्य भजनं तद् ... ९
(गोपालपूर्वतापन्युपनिषद् : १।३)

भक्त्या लभ्यस्तु अनन्यया... उपोद्
(भगवद्गीता : ८।२२)

भक्त्यातु अनन्यया शक्यो... उपोद्,४८
(भगवद्गीता : ११।५४)

भगवानपि ताः रात्री : ... २४
(भागवतपुराणम् : १०।२६।१)

भगवानेव हि फलम्... २६
(पुष्टिप्रवाहमर्यादा : १७)

भगवान् भजतां मुकुन्दो... १९
(भागवतपुराणम् : ५।६।१८)

'भज'=सेवायाम्... ८
(धातुपाठभ्वादिगणम् : १०८३)

भिन्नैव काचित् सा... २०
(वाराहपुराणम् : ?)

भूयश्च अन्ते ... १८२,१८६
(श्वेताश्वतरोपनिषद् : १।१०)

म

मत्तः स्मृतिः ज्ञानम् ... ६०
(भगवद्गीता : १५।१५)

मत्तएव पृथग्विधाः... ६१
(भगवद्गीता : १०।५)

मत्सेवया प्रतीतं च... २५,२७
(भागवतपुराणम् : ९।४।६७)

मदन्यत् ते जानन्ति न... ८८
(भागवतपुराणम् : ९।४।६८)

मनसैव अनुद्रष्टव्यम्... ४४,१०८
(बृहदारण्यकोपनिषद् : ४।४।१९)

मनसैव इदम् आप्तव्यं ... १४
(कठोपनिषद् : २।१।११)

मन्मना भव मद्भक्त : ... उपोद्
(भगवद्गीता : ९।३४ , १८।६५)

मम माया... ३२
(भगवद्गीता : ७।१४)

मम योनिः महद् ब्रह्म... ६५,८१
(भगवद्गीता : १४।३)

ममैव अंशो जीवलोके... २२,५१,८१
(भगवद्गीता : १५।७)

मया प्रसन्नेन तव, अर्जुन!... ४९,१०९
(भगवद्गीता : ११।४७)

मयि आवेश्य मनो ये... उपोद्
(भगवद्गीता : १२।२)

मल्लानाम् अशनिः... ९४
(भागवतपुराणम् : १०।४०।१७)

महतः परम् अव्यक्तम् ... ७८
(कठोपनिषद् : १।३।११)

मां मार्गयन्ति अद्धा... १०९
(भागवतपुराणम् : ११।७।२३)

माध्यमिकस्तु मायावादिवद् ... ३२,११४
(अणुभाष्यम् : २।२।३१)

माम् अप्राप्यैव, कौन्तेय!... ३१
(भगवद्गीता : १६।२०)

मायान्तु प्रकृतिं विद्याद् ... १५४
(श्वेताश्वरोपनिषद् : ४।१०)

मायामात्रन्तु कात्स्न्र्येन... १११
(ब्रह्मसूत्रम् : ३।२।३)

मायामात्रम् इदं द्वैतम् ... ११२
(माण्डुक्योपनिषद्गौडपादकारिका : १।१७)

मायावादम् असच्छास्त्रं... १११,११२
(पद्मपुराणम् : ?)

माहात्म्यज्ञानपूर्वस्तु... ७
(?)

मीमांसासंज्ञकः... ११८
(?)

मुक्तात्मनः प्रशंसावाक्यम् ... १०३
(सांख्यसूत्रम् : १।९५)

मूकं करोति वाचालम् ... ३६
(भगवद्गीतामाहात्म्ये)

मृत्तिका इत्येव सत्यम् ... १५,१३०,१४७,१४८,१५७
(छान्दोग्योपनिषद् : ६।१।४)

मृत्योः स मृत्युम् ... १४,१४९
(कठोपनिषद् : २।१।१०)

मृदाद्यासु प्रकृतिषु... १७२
(ब्रह्मसूत्रशांकरभाष्यम् : १।४।२६)

य

य आत्मनो दृश्यगुणेषु... ४३
(भागवतपुराणम् : १०।३।१८)

यः सर्वज्ञः सर्वविद् ... ५४
(मुण्डकोपनिषद् : १।१।९)

यः सर्वज्ञः सर्वशक्ति : ... ४४,८८
(मुण्डकोपनिषद् : १।१।९)

यः पूर्वं तपसो जातम् ... १४
(कठोपनिषद् : २।१।६)

यः पृथिव्यां तिष्ठन् ... ६८
(बृहदारण्यकोपनिषद् : ३।७।३)

यक्षे विभूतिः भवत : ... ५५
(भागवतपुराणम् : १०।६९।३)

यजेत् पुरुषं परम् ... ५६
(भागवतपुराणम् : २।३।१०)

यज्ञरूपो हरिः पूर्वकाण्डे... ५६
(तत्त्वार्थदीपनिबन्धः : १।११)

'यतः'इति इयं पञ्चमी... १५४,१६२,१७२
(ब्रह्मसूत्रशांकरभाष्यम् : १।४।२३)

यतो वा इमानि... उपोद्,९,११,१६,४४,६५,१०५,१४०,१५५
(तैत्तिरीयोपनिषद् : ३।१)

यतो वाचो निवर्तन्ते... ४४,४५,६३,६६,१३३,१३५
(तैत्तिरीयोपनिषद् : २।४।५)

यत् चक्षुषा न पश्यति... १६६
(केनोपनिषद् : १।६)

यत् तद् अद्रेश्यम् ... उपोद्
(मुण्डकोपनिषद् : १।१।६)

यथा अग्नेः क्षुद्रा : ... २२,५१,५२
(बृहदारण्यकोपनिषद् : २।१।२०)

यथा अधनो लब्धधने... ३४
(भागवतपुराणम् : १०।२९।२०)

यथा आकाशस्थित : ... ६५
(भगवद्गीता : ९।६)

यथा तरोः मूलनिषेचनेन... ५६
(भागवतपुराणम् : ४।३१।१४)

यथा सुदीप्तात् पावकात् ... १०,७१
(मुण्डकोपनिषद् : २।१।१)

यथा, सौम्य!, एकेन... १५
(छान्दोग्योपनिषद् : ६।१।२)

यद् आदित्यगतं तेजो... ४३
(भगवद्गीता : १५।१२)

यदा न लभ्यते भावो... ११४,११५
(बोधिचर्यावतारपञ्जिका : ९।३४-३५)

यदा पश्यः पश्यते... उपोद्
(मुण्डकोपनिषद् : ३।१।३)

यदि तार्किकसमयइव... १६०
(ब्रह्मसूत्रशांकरभाष्यम् : १।१।१०)

यदि नाम 'किञ्चिद् नास्ति'... ११४
(बोधिचर्यावतारपञ्जिका : ९।३४)

यदिदं किञ्च तत् ... ४०,१४१
(तैत्तिरीयोपनिषद् : २।६)

यदेव इह तद् अमुत्र... १४
(कठोपनिषद् : २।१।१०)

यद् आदित्यगतं तेजो... ४३,४८
(भगवद्गीता : १५।१२)

यद् एकम् अव्यक्तम् ... ९२
(महानारायणोपनिषद् : १।५)

यद् न योगेन सांख्येन... उपोद्
(भागवतपुराणम् : ११।१२।९)

यद् भूतं यत् च भाव्यम् ... १०
(पुरुषसूक्तम् : २)

यद्धि यस्माद् प्रभवति... १५५
(ब्रह्मसूत्रशांकरभाष्यम् : १।५।२५)

यमेव एषः वृणुते... उपोद्,३१,१०९
(कठोपनिषद् : १।२।२३, मुण्डकोपनिषद् : ३।२।३)

यस्माद् अस्मिन् ब्रह्मणि... १४४
(ब्रह्मसूत्रशांकरभाष्यम् : २।१।३७)

यस्य अन्तःस्थानि भूतानि... ६५
(भगवद्गीता : ८।२२)

यस्य पृथिवी शरीरम्... १०७
(बृहदारण्यकोपनिषद् : ३।७।३)

या निशा सर्वभूतानां... १
(भगवद्गीता : २।६९)

यान् आस्थाय नरो... ८
(भागवतपुराणम् : ११।२।३५)

यावत् स्याद् गुणवैषम्यं... १५
(भागवतपुराणम् : ११।१०।३२)

यावद् न जायेत परावरे... २०,२१
(भागवतपुराणम् : २।२।१४)

युक्त्यगोचरम्... ९०
(तत्त्वार्थदीपनिबन्धः : १।७१)

ये तु अक्षरम् अनिर्देश्यम् ... १३८
(भगवद्गीता : १२।३)

ये धातुशब्दाः यत्र... ५६
(पत्रावलम्बनम् : ४)

ये यथा मां प्रपद्यन्ते... ३५
(भगवद्गीता : ४।११)

यो अन्यथा सन्तम् ... ५,४७,७२
(महाभारतम् : १।६८।२६)

यो अविद्यया युक् ... ३०
(भागवतपुराणम् : ११।११।७)

यो वा अनन्तस्य... उपोद्
(भागवतपुराणम् : ११।४।२)

यो-यो यां-यां तनुं भक्त : ... ५७
(भगवद्गीता : ७।२१)

योगाः त्रयो मया... उपोद्
(भागवतपुराणम् : ११।२०।६)

योनिश्च हि गीयते... उपोद्
(ब्रह्मसूत्रम् : १।४।२७।)

र

रसं ह्येव अयं लब्ध्वा... ४,७
(तैत्तिरीयोपनिषद् : २।७)

रसो वै स : ... ३,४,७,२६,३५
(तैत्तिरीयोपनिषद् : २।७)

राक्षसीम् आसुरीं चैव... ३२
(भगवद्गीता : ९।१२)

राधाम् आधाय हृदये... ३५
(गीतगोविन्दः : ३।१)

ल

लिंगन्तु धर्मोपपत्ते : ... १३६
(ब्रह्मसूत्रशांकरभाष्यवार्तिकम् : १।३।८)

लोकेऽपि तथैव...परिष्कारः... १२४
(?)

व

वंशीविभूषितकराद् ... उपोद्
(अद्वैतसिद्धौ : २।ब्र.ज्ञा.)

वक्षो निवासम् अकरोत् ... ३४
(भागवतपुराणम् : ८।८।२५)

वचसां वाच्यम् उत्तमम् ... १३४,१३५
(?)

वञ्चनार्थम् उपन्यासो... ११५,११६
(पूर्वमीमांसाश्लोकवार्तिकम् : निरा.वा.८)

वशीकुर्वन्ति मां भक्ता : ... २५,३०
(भागवतपुराणम् : ९।४।६६)

वागालम्बनमात्रं नामैव... १४७
(छान्दोग्योपनिषदशांकरभाष्यम् : ६।१।४)

वाचारम्भणं 'विकारो'... २,१५,१७,१३०,१५७,१५९,१६९
(छान्दोग्योपनिषद् : ६।१।४)

वाच्यत्वं वेद्यतां च ... १३३
(तत्त्वमुक्ताकलापः : ३।३)

वासांसि जीर्णानि यथा ... ८०
(भगवद्गीता : २।२२)

वासुदेवः सर्वम् इति... २२,६६
(भगवद्गीता : ७।१९)

विकाराद्यात्मना च परिणामो... १७२,१७३
(ब्रह्मसूत्रशांकरभाष्यम् : १।४।२६)

विदूरकाष्ठाय मुहुः कुयोगिनाम् ... १०८
(भागवतपुराणम् : २।४।१४)

विना पशुघ्नाद् ... ३३
(भागवतपुराणम् : १०।१।४)

विनापि चं समुच्चयो भवति... ९
(पातञ्जलमहाभाष्यम् : । ।)

विरुद्धसर्वधर्माणाम् आश्रयम्... ९०
(तत्त्वार्थदीपनिबन्धः : १।७१)

विरोधेतु अनपेक्षं स्याद् ... उपोद्
(जैमिनिसूत्रम् : १।३।३)

विलज्जमानया यस्य स्थातुम् ... २४
(भागवतपुराणम् : २।५।१३)

विश्वतः चक्षुः उत... ४४,४६
(श्वेताश्वतरोपनिषद् : ३।३)

विष्णोर्नु कं वीर्याणि... उपोद्
(ऋक्संहिता : १।१५४।१)

विष्णोर्नु वीर्यगणनां... उपोद्
(भागवतपुराणम् : २।७।४०)

वृद्धिह्रास... ९२
(ब्रह्मसूत्रम् : ३।२।२०)

वेदाः श्रीकृष्णवाक्यानि... ११०
(तत्त्वार्थदीपनिबन्धः : १।७)

वेदैः च सर्वैः अहमेव वेद्य : ... उपोद्,८९
(भगवद्गीता : १५।१५)

वैधर्म्याच्च न स्वप्नादिवद् ... ६२
(ब्रह्मसूत्रम् : २।२।२९)

व्याप्तेश्च समञ्जसं... ९३
(ब्रह्मसूत्रम् : ३।३।९-१०)

व्यावृत्तं शुक्तिरूप्यं विदितम् ... १२९
(तत्त्वमुक्ताकलापः : ३।५१)

श

शब्दश्च उभयमपि ब्रह्मण : ... १६५
(ब्रह्मसूत्रशांकरभाष्यम् : २।१।२७)

शब्दाजन्यवृत्तिविषयत्वं दृश्यत्वम् ... उपोद्,१२५
(अद्वैतसिद्धौ : १।दृश्यत्वहेतु.)

शारीरश्च उभयेऽपि हि... ५५
(ब्रह्मसूत्रम् : १।२।२०)

शुक्तिका रजतवद् अवभासते... १४०,१५७,१७३
(ब्रह्मसूत्रशांकरभाष्यम् : १।१।१)

शृण्वन्ति गायन्ति गृणन्ति... ४८
(भागवतपुराणम् : १।८।३६)

श्र

श्रवणं कीर्तनं विष्णो : ... ८
(भागवतपुराणम् : ७।५।२३)

श्रिया पुष्ट्या गिरा... २४,४०,६१
(भागवतपुराणम् : १०।३६।५५)

श्रुतत्वात् च... १२५
(ब्रह्मसूत्रम् : १।१।१०)

श्रुतिस्मृतिविरोधेतु श्रुतिरेव... उपोद्
(?)

श्रुतेस्तु शब्दमूलत्वाद् ... १४०,१४१,१५७,१५८,१६५
(ब्रह्मसूत्रम् : २।१।२७)

श्रुतौ तत्त्वपदाध्याहारप्रसंगात् ... १२९
(व्याससिद्धान्तमार्ताण्डः : २।पृ.१९८)

श्रुत्यादयएव न प्रमाणम् ... ११८
(?)

श्रुयतेऽपि हि इन्द्रादीनां... ५६
(विद्वन्मण्डनम् : ?)

स

स आत्मा... ११
(छान्दोग्योपनिषद् : ६।८।७)

स आत्मानं स्वयम् अकुरुत... १२,४०,६२
(तैत्तिरीयोपनिषद् : २।७)

स एकाकी न रमते... २२,७०
(महोपनिषद् : १।१)

स ईक्षाञ्चक्रे... ४४
(प्रश्नोपनिषद् : ६।३)

स नः इन्द्रः कामवरं... ५०
(तैत्तिरीयारण्यकसंहिता : ३।११।८)

स यथा सैन्धवघनो... ४३
(बृहदारण्यकोपनिषद् : ४।५।१३)

स यदा अस्माद् ... ५३
(विद्वन्मण्डनम् : पृ.१९१-१९३)

स राष्ट्रम् अभवद् ... ४०
(?)

स विश्वकृद् विश्वविद् ... १४०
(श्वेताश्वतरोपनिषद् : ६।१६)

स वै न देवासुरमर्त्यतिर्यक्... ६६
(भागवतपुराणम् : ८।३।२४)

स वै नैव रेमे... १९,७०
(बृहदारण्यकोपनिषद् : १।३।३, १।४।३)

स वै सर्वम् इदं जगद् ... १२,४०,६२,६६
(महानारायणोपनिषद् : २३।१)

स सर्वज्ञः सर्वविद् ... १३१
(मुण्डकोपनिषद् : १।१।९)

स सर्वविद् भजति मां... २२
(भगवद्गीता : १५।१९)

स ह उवाच एतद्वै... ४४
(बृहदारण्यकोपनिषद् : ३।८।८)

स ह एतावान् आस... ४०
(बृहदारण्यकोपनिषद् : १।४।३)

स हि सर्ववित् सर्वकर्ता... १०२
(?)

संन्यासः कर्मयोगः च... उपोद्
(भगवद्गीता : ५।२)

संशयात्मा विनश्यति... ५,३६
(भगवद्गीता : ४।४०)

सएव एनं भूतिं गमयति... ५०
(तैत्तिरीयसंहिता : २।१।५।५)

सएषः न इति... १०७
(बृहदारण्यकोपनिषद् : ३।९।२६)

सएष 'न'इति आत्मा... उपोद्
(बृहदारण्यकोपनिषद् : ३।९।२६)

सच्चिदानन्दं ...ब्रह्म... ५१
(नृसिंहोत्तरतापनीयोपनिषद् : ४।२)

सच्चिदानन्दं ...सर्वम् अनवद्यम् ५३
(विद्वन्ममण्डनम् : पृ.१९८)

सजातीयविजातीय... १०
(तत्त्वार्थदीपनिबन्धः : १।६६)

सत्त्वात् च अवरस्य... ६२
(ब्रह्मसूत्रम् : २।१।७६)

सत्यं च अनृतं च... ३,८०,८१
(तैत्तिरीयोपनिषद् : २।६)

सत्यं ज्ञानम् अनन्तं... ९,१३,३५,७९
(तैत्तिरीयोपनिषद् : २।१)

सत्यं विज्ञानम् आनन्दं ब्रह्म... ४६
(?)

सदेव, सोम्य!, इदम् ... ११,१२,१६,७५,१४१
(छान्दोग्योपनिषद् : ६।२।१)

सन्मूलाः, सौम्य!... १२
(छान्दोग्योपनिषद् : ६।८।६)

समः प्लुषिणा समो मशकेन... ८८
(बृहदारण्यकोपनिषद् : १।३।२२)

समो नागेन समो मशकेन... ४५
(बृहदारण्यकोपनिषद् : १।३।२२)

सम्प्रति निर्विशेषप्रचुराणां... १३८
(ब्रह्मसूत्रशांकरभाष्यन्यायनिर्णयः : १।३।१)

सर्वं खलु इदं ब्रह्म... (बृहदारण्यकोपनिषद् : ४।५।१९)	३,१३,१८,४०,५१,६२,६६,७०
सर्वं मद्भक्तियोगेन मद्भक्तो... (भागवतपुराणम् : ११।२०।३३)	उपोद्
सर्वकाम: सर्वगन्ध: सर्वरस : ... (छान्दोग्योपनिषद् : ३।१४।४)	४,४४,८८
सर्वत: पाणिपादं तत्... (भगवद्गीता : १३।१३)	५५
सर्वत: पाणिपादं तत्... (श्वेताश्वतरोपनिषद् : ३।१६)	४५,४६,८९,१०७
सर्वथा चेद् हरिकृपा न... (तत्त्वार्थदीपनिबन्धः : २।२२६)	उपोद्
सर्वत्र हि... (ब्रह्मसूत्रम् : ३।२।४)	९०
सर्वदेवनमस्कार : ... (?)	५६
सर्वदेवमयो हरि : ... (भागवतपुराणम् : ११।२३।२८)	५६
सर्वधर्माणाम् उपपत्तिः उक्ता... (ब्रह्मसूत्रशांकरभाष्यवार्तिकम् : २।१।३७)	१४४
सर्वधर्मोपपत्तेः च... (ब्रह्मसूत्रम् : २।१।३७)	१४४,१४५
सर्वस्य ईशान : ... (बृहदारण्यकोपनिषद् : ५।६।१)	५५
सर्वस्य वशी सर्वस्य ईशान : ... (बृहदारण्यकोपनिषद् : ४।४।२२)	५५,८१

सर्वाणि रूपाणि विचित्य... (पुरुषसूक्तम् : १६)	१
सविशेषणे हि... (लौकिकन्यायसाहस्री : २।स)	११९
सर्वे वेदाः यत्पदम् आमनन्ति... (कठोपनिषद् : १।२।१५)	उपोद्,७७,९१,१०८
सर्वेन्द्रियविवर्जितं... (भगवद्गीता : १३।१४)	६६
सर्वोपनिषदो गावो दोग्धा... (गीतामाहात्म्यम् : ६)	उपोद्
सहस्रशीर्षा पुरुषः सहस्राक्ष : ... (पुरुषसूक्तम् : १)	५५,६६,६८,१०५
सहस्राणि च विंशति : ... (छान्दोग्योपनिषद् : ७।२६।२)	९३
सहि पूर्वेषामपि गुरुः... (पातञ्जलयोगसूत्रम् : १।२६)	उपोद्
सा परा अनुरक्तिः ईश्वरे... (शाण्डिल्यभक्तिसूत्रम् : १।१।२)	७,२५,३४
सांख्ययोगौ पृथग्बाला : ... (भगवद्गीता : ५।४-५)	उपोद्
सांख्यसौगतचारवाकशंकरात् ... (न्यायसिद्धाञ्जनम् : ३।६८)	१२२
साक्षादिति च... (ब्रह्मसूत्रशांकरभाष्यम् : १।४।२५)	१६९
साधवो हृदयं मह्यं... (भागवतपुराणम् : ९।४।६८)	३४,३५

सूत्रकारोऽपि...आश्रयन्ति १५७
(ब्रह्मसूत्रशांकरभाष्यम् : २।१।१४)

सैषा अविद्या जगत् सर्वम् ... १४१
(नृसिंहोत्तरतापनीयोपनिषद् : ९)

सोऽहं तव... उपोद्
(भागवतपुराणम् : १०।३७।२८)

स्थायी भावो रसः स्मृत : ... २६
(द्र. : भरतनाट्यशास्त्रम् : ७।८)

स्वतन्त्रः कर्ता... ५५
(पाणिनिसूत्रम् : १।४।५४)

स्वपक्षदोषात् च... उपोद्
(ब्रह्मसूत्रम् : २।१।२९)

स्वप्रतिपन्नोपाधौ... १५०
(अद्वैतसिद्धिः : १।प्रपं.मिथ्या.)

स्वयं विहृत्य... ५३
(बृहदारण्यकोपनिषद् : ४।३।९)

स्वयं समुत्तीर्य... ३६
(भागवतपुराणम् : १०।२।३१)

स्वरूपेण अवतारेण लिंगेन... २३
(पुष्टिप्रवाहमर्यादा : १३)

स्वस्वरूपबलेन स्वप्रपाणं पुष्टिः... २६
(अणुभाष्यम् : ३।३।२९)

स्वाध्यायस्य... ९४
(ब्रह्मसूत्रम् : ३।३।३)

स्वाराज्यतुष्ट उपशान्तम् ... १८
(भागवतपुराणम् : ७।१५।४५)

ह

हेयत्वावचनात् च... ६१
(ब्रह्मसूत्रम् : १।१।७)